Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# श्रीमद्भगवद्गीता

## एक अध्ययन

गुरुदत्त

43
S
4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

168004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# श्रीमद्भगवद्गीता

## एक अध्ययन

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## शाश्वत संस्कृति परिषद् का उद्देश्य

विशुद्ध भारतीय तत्त्वदर्शन पर सम्यक् गवेषणा करना तथा उसका प्रचार करना एवं उसके आधार पर राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं का सुलझाव प्रस्तुत करना।

**गीता उद्देश्य-विशेष से किया गया श्रीकृष्ण का प्रवचन है। उस उद्देश्य को छोड़कर जो गीता को समझने-समझाने का प्रयास करते हैं वे स्वयं भी भ्रमित होते हैं तथा दूसरों को भी भ्रमित करते हैं।**
**अर्जुन को युद्ध (कर्म) की प्रेरणा देने के लिए गीता का प्रवचन किया गया था। यही कारण है कि यह प्रवचन पग-पग पर देशभक्तों को बलिदान की प्रेरणा देता आया है और भविष्य में भी देता रहेगा।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# श्रीमद्भगवद्गीता

## एक अध्ययन

लेखक

गुरुदत्त

081

168004

Central Library
168004
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली-110005

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
089.9143
GUR-S

© सुरक्षित

मूल्य : ₹ 250.00

प्रकाशक : **हिन्दी साहित्य सदन**
2 बी. डी. चैम्बर्स, 10/54 देशबन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
फोन : 23553624, 23551344; फैक्स : 23553624
email : indiabooks@rediffmail.com
hindisahityasadan@gmail.com

संस्करण : 2013

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली

---

**SHRIMADBHAGWAD GITA : Ek Adhyayan**
*by* Guru Dutt

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषय-क्रम


| | | |
|---|---|---|
| १. | प्राक्कथन—पुस्तक का प्रयोजन—गीता की विशेषता | ७ |
| २. | प्रथम परिच्छेद<br>श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्त—इतिहास—गीता की मान्यताएँ | २१ |
| ३. | द्वितीय परिच्छेद<br>मृत्यु एवं हत्या की विवेचना—कुलक्षय और कुलधर्म | ३० |
| ४. | तृतीय परिच्छेद<br>कर्म-योग—स्थित-प्रज्ञ—स्थित-प्रज्ञ की परिभाषा—<br>कर्म—कर्मों का विभाजन—कर्मों का स्रोत—<br>कर्म और गुण—कर्म बन्धन | ४४ |
| ५. | चतुर्थ परिच्छेद<br>कर्म-बंधन से मुक्ति—योग | ८१ |
| ६. | पंचम परिच्छेद<br>ज्ञान-विज्ञान—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ व्यवस्था—परमात्मा और<br>आत्मा में भेद—परमात्मा और उसकी माया | १०२ |
| ७. | षष्ठ परिच्छेद<br>भक्ति योग—भक्ति का ढंग—भक्ति का फल—मोक्ष की अवधि | १३० |
| ८. | सप्तम परिच्छेद<br>परमात्मा का स्वरूप—मूर्ति पूजा | १५२ |
| ९. | अष्टम परिच्छेद<br>ज्ञान और कर्म—संन्यास, कर्म और ज्ञान | १७१ |
| १०. | नवम परिच्छेद<br>स्वभाव, गुण और कर्म—गुण, बुद्धि और स्वभाव—वर्ण धर्म | १८६ |
| ११. | उपसंहार | २१२ |
| १२. | प्रमाणानामानुक्रमणिका | २२५ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# प्राक्कथन

## पुस्तक का प्रयोजन

यद्यपि भगवद्गीता पर अनेक भाष्य एवं टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं तथापि निम्न प्रयोजनवश इस विवेचना की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव हुई—

१—गीता प्रयोजन विशेष से किया गया प्रवचन है। इसके प्रवक्ता यदुवंश के राजकुमार, वसुदेव के पुत्र कृष्ण थे; भारत युद्ध के आरंभ में यह प्रवचन किया गया था।

युद्ध एक ही परिवार के दो घटकों में हुआ था। युद्ध के समय परिवार के सब सदस्य परस्पर लड़ने के लिए युद्धभूमि पर आ खड़े हुए थे। अर्जुन अपने सगे-संबंधियों को एक-दूसरे की हत्या करने के लिए खड़ा देखकर घबरा उठा था। कृष्ण ने उसकी घबराहट देख उसे समझाया था कि उसका यह व्यवहार न तो धर्मानुकूल है और न ही उसके यश तथा कीर्ति को बढ़ाने वाला है।

कृष्ण द्वारा इस उपदेश में जा कुछ कहा गया, वह महाभारत ग्रंथ में लिखा है। उक्त उद्देश्य से ही यह सबकुछ कहा गया है। उनमें किसी भी ऐसी बात का कहा गया मानना, जो अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा देने के विपरीत अर्थ दे, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा देते हुए कहीं-कहीं इधर-उधर की बातें भी कही गई हैं, जिनका युद्ध के साथ सीधा संबंध नहीं है। फिर भी वे युद्ध करने की प्रेरणा के विपरीत नहीं हैं। हमारे मतानुसार गीता-प्रवचन का एक शब्द भी ऐसा नहीं, जो अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने की प्रेरणा देने वाला न हो।

संपूर्ण प्रवचन युद्धप्रेरक किस प्रकार है? यह बताना भी इस विवेचना का एक प्रयोजन है।

२—यह सर्वमान्य है कि गीता का संपूर्ण कथन उपनिषदादि शास्त्रों की शिक्षा पर आधारित है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं १३—४ में यह स्वीकार किया है कि जो कुछ भी इस प्रवचन में कहा गया है, वही वेदों में, ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से गाया गया है। वह ब्रह्मसूत्रों में युक्तियुक्त ढंग से भलीभाँति निश्चय किया गया है।

कुछ भाष्यकारों ने गीता-प्रवचन के ऐसे अर्थ निकाले हैं, जो वेदादि शास्त्रों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विरोधी हैं। अतः हम गीता के भावों और अर्थों को लिखते समय वेद, शास्त्र, दर्शनादि ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करेंगे। यह इस अध्ययन का दूसरा प्रयोजन है।

वेद, शास्त्र, दर्शन इत्यादि परस्पर विरोधी नहीं हैं। जहाँ-जहाँ भाष्यकारों ने गीता के अर्थ शास्त्रों के विपरीत निकालने का यत्न किया है, हम अपनी विवेचना में उसे स्पष्ट करने का यत्न करेंगे।

गीता तो केवल-मात्र युद्धकर्म की प्रेरणा देनेवाला प्रवचन है। इस प्रेरणा में प्रसंगवश शास्त्र के अनेक विषयों की चर्चा उपस्थित हो गई है; परंतु वह उसी सीमा तक है, जहाँ तक अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए आवश्यक थी। शास्त्र की शेष बात को छोड़ दिया गया है। अतः विषय के निरूपण में कई बातों का उल्लेख नहीं हो पाया। भाष्यकारों ने उन रिक्त स्थानों को अपने मतानुसार भरने का यत्न किया है। ऐसा करते हुए वे विभिन्न मत प्रकट कर गए हैं। कहीं-कहीं तो शास्त्र के विरुद्ध मत भी वहाँ भर दिया है। हम उन रिक्त स्थानों पर शास्त्र का मत ही लिखना चाहते हैं। भगवान् कृष्ण का मत शास्त्र विपरीत नहीं हो सकता, ऐसा हमारा मत है।

३—भगवान् कृष्ण परमात्मा के अवतार थे और उनकी बात सत्य-सनातन है। हम इस बात को इस प्रकार मानते हैं कि भगवान् कृष्ण ने गीता का प्रवचन वेदशास्त्रानुसार किया है। अतः भगवद्गीता सत्य का प्रतिपादन करने वाला एक प्रवचन है। यह सर्वथा मान्य है। यह मान्यता इस कारण नहीं है कि यह श्री हरि-मुख से निकला प्रवचन है, वरन् इसलिए है कि यह वेदशास्त्रानुसार किया गया प्रवचन है। भगवान् कृष्ण परमात्मा थे अथवा नहीं, यह एक पृथक् प्रश्न है। इसकी विवेचना आगे चलकर करेंगे।

४—कुछ टीकाकार यह मानते हैं कि गीता में जो कुछ कहा गया है, वह अपने में पूर्ण है और उसमें कमी-वृद्धि करने के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसे लोग न केवल गीता की महिमा को कम करनेवाले सिद्ध हुए हैं, वरन् हिंदू-शास्त्रों को भी व्यर्थ सिद्ध करनेवाले कहे जा सकते हैं। टीकाकारों की बात तो यह है कि वे परस्पर विरोधी मत प्रकट करते हैं फिर भी कहते हैं कि यह परमात्मा का वचन है और पूर्ण है। इसी प्रकार के एक प्रसंग में महाभारत में भीष्मपर्व के तैंतालीसवें अध्याय में लिखा है—

**गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।**
**या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥**

इसका तात्पर्य है कि गीता पढ़ लेने पर अन्य शास्त्रों के संग्रह करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि गीता स्वयं भगवान् पद्मनाभ (परमात्मा) के पद्म मुख से निकली है।

यदि ऐसा है तो फिर टीकाओं में गीता को समझाने के लिए अन्य ग्रंथों का आश्रय क्यों लिया जाता है? गीता स्वयं ही स्पष्ट होनी चाहिए; परंतु यह बात टीकाकार स्वयं ही खंडित करते हैं। वे गीता को समझाने के लिए अन्य शास्त्रों का आश्रय लेते हैं। अभिप्राय यह है कि वे अपने लेख से यह निश्चय करते हैं कि गीता में सब शास्त्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विषयों की पूर्ण विवेचना नहीं है। इसका एक ही विषय है। वह यह कि अर्जुन को युद्ध करना चाहिए। शेष सबकुछ इस एक विषय के प्रतिपादन के लिए युक्तियाँ और प्रमाण दिये गये हैं।

५—गीता की इस विवेचना को लिखने का एक प्रयोजन यह भी है कि उन मत-मतांतर वालों की गीता की विवेचनाओं पर अपना मत लिखा जाए, जिन्होंने गीता में से वेद-विरुद्ध भाव निकालने का प्रयत्न किया है। कुछ एक टीकाकारों ने गीता को वेद के अतिरिक्त भाव व्यक्त करने वाला प्रवचन सिद्ध करने का यत्न किया है। इस संदर्भ में महात्मा गांधी का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने न केवल वेदशास्त्र के मत का ही विरोध किया है, वरन् गीता के प्रयोजन को ही बदल डालने का प्रयास किया है। गीता प्रवचन का प्रयोजन हम ऊपर कह आये हैं।

सस्ता साहित्य मंडल ने महात्मा गांधी के गीता संबंधी लेखों का संकलन 'गीता माता' के नाम से प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ की प्रस्तावना में गांधीजी द्वारा लिखी गई निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं :

> **"गीता महाभारत का एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मत से महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि धर्म ग्रंथ हैं। यदि इसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो यह आत्मा का इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले हुआ नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देह में, क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है....."**

गांधीजी ने यह क्यों लिखा है? केवल इस कारण कि वे अहिंसा के पुजारी थे। वे किसी भी दशा में युद्ध को ठीक नहीं मानते थे। यदि वे यह मान जाते कि वस्तुतः महाभारत युद्ध हुआ है और गीता के उपदेश से उत्साहित होकर अर्जुन ने एक भयंकर युद्ध लड़ा था और उस युद्ध में रक्त की नदियाँ बही थीं, तो उनको दो में से एक बात करनी पड़ती। या तो गीता का आश्रय छोड़ देते अथवा वह पूर्ण अहिंसा और सर्वत्र अहिंसा ही का नारा न लगा पाते। पहली बात को वे, हिंदुओं का नेता बनने के लोभ से नहीं कर सके और दूसरी, युद्ध तथा हिंसा, उनके मन की बात नहीं थी।

गांधीजी तो किसी भी परिस्थिति में हिंसा को पसंद नहीं करते थे। साथ ही, कदाचित् वे हिंदू-समाज की अति प्रिय पुस्तक को छोड़ उसके नेता बने रह सकने में संदेह अनुभव करते प्रतीत होते थे। इस कारण उन्होंने गीता के मूल उद्देश्य पर ही कुठाराघात कर दिया। अपनी मिथ्या विचारधारा का गीता जैसे पुनीत ग्रंथ में समर्थन सिद्ध करने के लिए वे देश के इतिहास को ही निःशेष करने में लग गए। हमारी इस विवेचना का प्रयोजन ऐसे अनर्गल प्रयासों का खंडन करना भी है।

गांधीजी जब भूख हड़ताल अथवा कोई बड़ा आंदोलन चलाने लगते तो अपने उपायों का विरोध करनेवालों का विरोध बंद करने के लिए कह दिया करते कि यह तो उनके अंतरात्मा की आवाज है। वे विपक्षियों के साथ युक्ति करना पसंद नहीं करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



युक्ति की अपेक्षा निष्ठा को प्रमुख रूप में प्रकट करने के लिए उन्होंने गीता के अर्थों के अनर्थ कर दिए हैं।

गीता के एक श्लोक की व्याख्या गांधीजी इस प्रकार करते हैं—

**"यह तो मैंने तेरे सामने बुद्धि की दलील रखी । आत्मा और देह का भेद बताया और तेरे कुलधर्म का तुझे भान कराया। पर अब तुम्हें मैं कर्मयोग की बात समझाता हूँ। इस योग पर अमल करनेवाले को कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्क की बात नहीं है, आचरण की है, करके अनुभव करने की बात है। और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्क की अपेक्षा तोला-भर आचरण की कीमत अधिक है। इस आचरण में यदि अच्छे-बुरे परिणाम का तर्क आ घुसे तो यह दूषित हो जाता है। परिणाम के विचार से ही बुद्धि मलिन हो जाती है।...."**
—'गीता माता', पृ० १७

युक्ति करना अर्थात् बुद्धि को युक्ति करने के योग्य बनाना जब दूषित मान लिया जाय तो फिर जनसाधारण को समझाना असंभव हो जाता है। तब जनसाधारण मनमानी करने लगता है और जीवन के सुगम मार्ग को स्वीकार करने लगता है।

इसका प्रदर्शन स्वराज्य आंदोलन में (१९१९ से लेकर १९४७ तक) भलीभाँति हुआ था। इस आंदोलन के नेता गांधीजी ही थे। उनका आंदोलन सर्वथा युक्तिहीन ढंग पर ही चला। उनका बताया स्वराज्य-प्राप्ति का उपाय यद्यपि सुगम था; पर वह न तो बुद्धियुक्त था, न ही सफल। जनता को बुद्धि प्रयोग के स्थान पर श्रद्धा से काम लेने के लिए कहा गया। परिणामस्वरूप स्वराज्य नहीं, केवल नेहरू राज्य प्राप्त हुआ। देश से अंग्रेज तो गया अपनी दुर्बलता तथा विश्व की परिस्थितियों के कारण, और राज्य पा गए पाकिस्तान में मुसलमान और हिंदुस्तान में नेहरूपंथी। यह न तो विद्वानों का राज्य है और न ही भले लोगों का। इस राज्य में दोनों ही दुखी हैं।

यह इसलिए हुआ क्योंकि गीता की पूर्वोक्त ढंग से विवेचना करने वाले लोग नेता बन गए और जनता का मिथ्या पथ-प्रदर्शन होता रहा। गांधीजी कहते रहे कि स्वराज्य लेना है। इसके लिए कर्म करना है। परंतु कैसा स्वराज्य लेना है, किसके लिए स्वराज्य लेना है, किनके सहयोग से लेना है, कैसा कर्म करना है ? इन प्रश्नों पर तो बुद्धि से ही विचार किया जाता। किंतु उन्होंने बुद्धि का प्रयोग वर्जित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भाँति-भाँति के पक्षी कांग्रेस में सम्मिलित हो गए। सब अपने-अपने मन में विभिन्न आकांक्षाएँ और कामनाएँ रखते थे। जिनके मन में धर्म की भावना थी, वे धकेलकर पीछे कर दिए गए। देश और समाज के द्रोही आगे आ गए। इसके दो परिणाम हुए। एक यह कि स्वराज्य नहीं मिला। हमारा अभिप्राय है कि जो प्रयोजन स्वराज्य से सिद्ध होने वाला था, वह सिद्ध नहीं हुआ और जब तक गांधीजी के चेले युक्ति और परिणामों पर विचार किए बिना आचरण करते रहेंगे, वह प्रयोजन कभी सिद्ध नहीं होगा। इस व्यवहार का दूसरा परिणाम यह हुआ कि देश के भीतर वैमनस्य, द्वेष, बेईमानी, स्वार्थपरता इत्यादि दुर्गुण पराकाष्ठा तक पहुँच गए हैं। आय और मूल्यों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कोई अनुपात नहीं रहा। आवश्यकताएँ सीमा से बढ़ गई हैं। दुःख और दुराचार में वृद्धि हुई है। देश के बाहर देश का कोई मित्र नहीं रहा। देश की सहचारिता और विचार समानता असुर देशों के साथ हो गई है। विश्व-भर के लोग महात्मा गांधी और जवाहरलाल की प्रशंसा करते हैं, परन्तु भारत से वैमनस्य रखते हैं। एक तोला-भर आचरण को मनों-भर तर्क से श्रेष्ठ मानने के ये परिणाम हैं।

गांधीजी की विचारधारा की धुरी थी सर्वथा और सर्वदा अहिंसा। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि 'गुण्डों और शोहदों' को अपने कार्य में प्रोत्साहन मिला। इसी नीति के अनुरूप पराये गले लगाए जा रहे थे और अपनों की अवहेलना की जा रही थी। अपने वे होते हैं, जो अपने समान उद्देश्य रखें और उसकी प्राप्ति के लिए सहयोग दें। पराये वे हैं, जो अपने उद्देश्यों का हनन करनेवाले हों और उनकी प्रगति में बाधक हों!

जब विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप एवं कुछ अन्य स्वाभाविक कारणों से हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हुआ तो गांधीजी के पद-चिह्नों पर चलनेवालों ने नेता मान लिया जवाहरलालजी को। गांधीजी के नाम की माला जपनेवाले तथा बुद्धि को तिलांजलि दे, कर्म के पीछे भागनेवाले लोग गांधीजी की प्रत्येक बात का खंडन करनेवाले नेहरूजी जैसे नास्तिकों को राजा बना बैठे।

गांधीजी ने जो लिखा है, वह गीता का मत नहीं है। गीता में तो स्थान-स्थान पर बुद्धि से परिष्कृत कर्म करने के लिए कहा गया है। वहाँ ज्ञान की महिमा सर्वोपरि मानी गई है, ज्ञान से दग्ध कर्म करने को कहा गया है।

६—इस विवेचना को लिखने का एक प्रयोजन यह भी है कि साम्प्रदायिक टीकाकारों द्वारा किये गए मिथ्या अर्थों का विरोध किया जाए। इन साम्प्रदायिक टीकाकारों ने गीता के साथ भारी अन्याय किया है। हम शब्द, वाक्य और श्लोकों के अर्थ करने में मीमांसकों द्वारा निर्धारित एक नियम को मान्यता देते हैं। उनका कहना है कि किसी पुस्तक, प्रकरण, लेख, वाक्य अथवा शब्द का अर्थ लगाने में सर्वमान्य एक कसौटी है :

**उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासौऽपूर्वता फलम्।**
**अर्थवादोपपत्ती व लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥**

कोई भी मनुष्य अपने मन में कुछ हेतु रखकर ही किसी ग्रन्थ, प्रकरण, लेख अथवा वाक्य की रचना करता है। वह उस हेतु का उल्लेख ग्रन्थ-लेखादि के आरम्भ में ही करता है और फिर उसकी पूर्ति का उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में करता है। अतः ग्रन्थ, लेख इत्यादि के लिखने के प्रयोजन अर्थात् तात्पर्य का निर्णय करने के लिए उसके उपक्रम और उपसंहार का ही सबसे पहले विचार करना चाहिए।

ग्रन्थकार अथवा लेखक जब अपने तात्पर्य को सीधे अथवा घुमा-फिराकर बार-बार कहे तो लेखक का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। इसे मीमांसकों की भाषा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अभ्यास कहते हैं।

लेखक के हेतु को जानने का चौथा साधन उस ग्रन्थ की अपूर्वता होती है। प्रत्येक लेखक अपने लेख में कुछ विशेष बात किसी विशेष ढंग से कहना चाहता है। उस विशिष्टता को जान लेने से पुस्तक अथवा लेख के हेतु का ज्ञान होता है।

किसी पुस्तक, लेख अथवा प्रकरण का हेतु जानने के लिए अर्थवाद और उपपत्ति अन्य साधन हैं। अर्थवाद का अभिप्राय है कि लेखक अपने लेख के मुख्य विषय को पुष्ट करने के लिए प्रतिपक्षी के मत को अथवा विषय के बाहर की बातों को ऐसे ढंग से लिख जाए कि मुख्य विषय भलीभाँति निखर आए। तब इन बाहर की बातों को छोड़कर मुख्य विषय का निर्णय किया जा सकता है। इस प्रकार के चयन को अर्थवाद कहते हैं।

उपपत्ति अर्थात् उपपादन का अर्थ है किसी विशेष बात को सिद्ध करने के लिए बाधक प्रमाणों का खंडन करना और साधक प्रमाणों का तर्क शास्त्रानुसार मण्डन करना।

इस प्रकार ये छः साधन हैं जिनसे गीता के श्लोकों, वाक्यों और शब्दों के अर्थ लगाये जा सकते हैं। साम्प्रदायिक लोगों ने पुस्तक के मुख्य विषय की ओर ध्यान नहीं दिया, प्रत्युत उन्होंने पूर्वोक्त सिद्धांत की अवहेलना कर गीता के अर्थ लगाये हैं।

हम यथाशक्ति गीता के उपक्रम और उपसंहार का विचार करके ही अर्थ लगाना चाहते हैं।

उदाहरण के रूप में गीता का मुख्य प्रयोजन अर्जुन को विरक्त होने की शिक्षा देना नहीं था। गीता का उपक्रम ही युद्ध में प्रवृत्त करने का है। अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था, कृष्ण उससे युद्ध कराना चाहते थे। कृष्ण ने अर्जुन को संसार में रहते हुए भी, सांसारिक कार्य करते हुए भी, स्वकल्याण करने का उपाय बताया था। यही गीता का उपक्रम है। इसका वर्णन गीता के प्रवक्ता ने इस प्रकार किया है—

**कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।**
**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम् कीर्तिकरमर्जुन॥**
**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।**
**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥**

—भ० गी० २—२, ३

कृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! तू इस युद्धभूमि में आकर कैसे इस अज्ञान को प्राप्त हुआ है? यह तुम्हारा आचरण न तो आर्य पुरुषों का है और न ही यह स्वर्ग तथा कीर्ति दिलाने वाला है।

इस नपुंसकता को छोड़ो। यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हे परंतप! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

गीता ग्रन्थ का यही उपक्रम और यही उपसंहार है। गीताकार ने इसे अर्जुन के मुख से यूँ कहलाया है—

**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥**

—भ० गी० १८—७३

(हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे अब स्थिति समझ में आ गई है और मैं संशयरहित हो आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।)

परन्तु स्वामी शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में लिखा है—

**'तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रयेसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। तत् च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद धर्माद् भवति।**

—गीता शांकरभाष्य उपोद्‌घात

अर्थात्—संक्षेप में इस गीता शास्त्र का प्रयोजन परम कल्याण, कारण सहित संसार से अत्यन्त उपरति हो जाना है। और यह परम कल्याण सर्व-कर्म संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान निष्ठा रूप धर्म से प्राप्त होता है।

परन्तु हमारा कहना है कि गीता का यह प्रयोजन नहीं है। यह न तो परम निःश्रेयस की प्राप्ति के हेतु कही गई और न ही यह परम निःश्रेयस की प्राप्ति के विषय में कर्म संन्यास बताती है।

इसमें निःश्रेयस की प्राप्ति को उचित बताया गया है। उसके लिए कुछ उपाय भी बताये गए हैं; परन्तु वे पुस्तक के अर्थवाद और उपपत्ति मात्र हैं। मुख्य विषय है अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना, अधर्माचरण करनेवालों एवं अधर्म का पक्ष लेकर लाखों लोगों की हत्या करने के हेतु युद्धभूमि में आए हुओं को मौत के घाट उतारने के लिए तैयार करना।

इस विवेचना को लिखने का हमारा एक प्रयोजन यह भी है कि अपने मत का विचार न करके गीता के यथार्थ मत को प्रकट किया जाय।

गीता के उपदेश का यह ही फल हुआ था कि अर्जुन अपने बड़े भाई युधिष्ठिर को भी बताने लगा कि क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना है, इससे भागना नहीं। इस धर्म-पालन में शस्त्र-अस्त्रों का व्यवहार होता है, जिससे उनका अपना वध भी हो सकता है।

युद्ध के उपरान्त, युधिष्ठिर इसमें विशाल नर-संहार और अपने ही पुत्र-पौत्रादि को मरा देख, शोकग्रस्त हो राज्य छोड़ वन में जाने की इच्छा करने लगा था। उस समय सब बुद्धिशील लोग युधिष्ठिर को सांत्वना देते हुए बलपूर्वक उसे राज्यकार्य में प्रवृत्त होने के लिए कह रहे थे। अर्जुन ने भी अपने ढंग से समझाने का यत्न किया। उसका कहना था—

**क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम्।**
**जित्वा चारीन् नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान्॥२॥**
**क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम्।**
**विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर॥३॥**
**क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ॥५॥**
**न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर।**
**क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥७॥**

—महा भा०, शां० प० २२—२, ३, ५, ७

इनका अर्थ इस प्रकार है—

हे धर्मज्ञ! क्षात्रधर्म के अनुसार इस दुर्लभ राज्य को पाकर शत्रुओं को पराजित कर, हे नरों में श्रेष्ठ! आप इतने सन्तप्त क्यों हो रहे हैं!

आप क्षत्रिय धर्म को स्मरण तो करिए। क्षत्रियों के लिए संग्राम में मर जाना बहुत यज्ञों से भी अधिक माना गया है।

क्षत्रियों का धर्म अति भयंकर है। उसमें सदा शस्त्रों से काम पड़ता है। समय आने पर उनका इनसे वध भी हो सकता है।

क्षत्रियों के लिए त्याग, यज्ञ, तप और दूसरों के धन से जीवन-निर्वाह करने का विधान नहीं।

केवल शंकरमतानुयायियों ने ही भगवद्गीता के अर्थों को विकृत करने का यत्न नहीं किया, वरन् अन्य लोगों ने भी अपने मत के अर्थ निकालने का यत्न किया है।

## गीता की विशेषता

गीता के विभिन्न विषयों पर लिखने से पूर्व हम गीता की कुछ विशेषताओं पर लिख देना चाहते हैं।

१—गीता प्रवचन का उद्देश्य तो ऊपर वर्णन कर आए हैं। यह उद्देश्य विशेष था और इसकी पूर्ति भी एक विशेष ढंग से की गई। इसकी पद्धति अनोखी है। इसी कारण गीता अद्वितीय ग्रन्थ है।

इस उद्देश्य की पूर्ति जिस अद्वितीय ढंग से की गई है, उसे समझने की आवश्यकता है।

युद्ध आरम्भ होने से पूर्व युधिष्ठिर ने भी कौरवों की विशाल सेना देखी थी; भीष्म पितामह द्वारा सेना को विचित्र और अजेय ढंग से व्यूह-रचना करते देखा था। इसे देखकर युधिष्ठिर घबरा उठा और उसे अपने विजयी होने में सन्देह उत्पन्न हो गया। इस परिस्थिति से व्याकुल हो उसने अर्जुन से कहा—

**व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पांडवः।**
**अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रबीत् ॥**
**धनंजय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे।**
**धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामहः ॥**
**अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कल्पितः शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा ॥
ते वयं संशयं प्राप्ताः ससैन्याः शत्रुकर्षण ।
कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति ॥

—महा भा०, भी०प० २१—२, ३, ४, ५

"हे अर्जुन! देखो, भीष्म ने ऐसे ढंग से व्यूह की रचना की है कि उसे भेदना कठिन है। यह व्यूह-रचना अक्षोभ्य और अभेद्य है। इस कारण हमारी सेनाओं के प्राण संकट में पड़ गए हैं। समझ में नहीं आ रहा कि इस संकट से उद्धार कैसे होगा!"

अर्जुन ने अपने बड़े भाई को भयभीत देख, उसका उत्साह बढ़ाते हुए कहा—

प्रज्ञयाभ्यधिकांशूरान् गुणयुक्तान् बहूनपि ।
जयन्त्यल्पतरा येन तन्निबोध विशाम्पते ॥
तत्र ते कारणं राजन् प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
नारदस्तमृषिर्वेद भीष्मद्रोणौ च पाण्डव ॥
एनमेवार्थमाश्रित्य युद्धे देवासुरेऽब्रवीत् ।
पितामहः किल पुरा महेन्द्रादीन् दिवौकसः ॥
न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः ।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ॥
त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः ।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः ॥
एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः ।
यथा तु नारदः प्राह यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

—महा भा०, भी० प० २१—७, ८, ९, १०, ११, १२

महाराज! यह आवश्यक नहीं कि उत्तम गुणों से युक्त और अधिक संख्या में शूर सैनिकों की सदैव ही विजय हो। कम संख्या में भी लोग इन्हें जीत सकते हैं। यह कैसे? वह मैं बताता हूँ। यह बात नारद, भीष्म और द्रोणाचार्य को भी विदित है। ऐसे अवसर पहले भी आ चुके हैं। एक बार देवासुर संग्राम में भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इन्द्रादि देवता पितामह ब्रह्मा के पास पहुँचे और अपनी संभावित पराजय का उल्लेख करने लगे। उस समय ब्रह्मा ने देवताओं से यह कहा कि विजय की इच्छा रखने वाले शूरवीर अपने बल और पराक्रम से उतने सफल नहीं होते, जितने सत्य (अक्रूरता), धर्म तथा उत्साह से होते हैं। ब्रह्मा ने यह भी कहा था, 'देवताओ! अधर्म, लोभ और मोह को त्यागकर और धर्म का सहारा लेकर, अहंकार से शून्य होकर युद्ध करो। जहाँ धर्म है, वहाँ ही विजय होती है।' इसीलिए महाराज! निश्चित रूप से यह जान लीजिए कि युद्ध में हमारी ही विजय होने वाली है। जहाँ कृष्ण हैं वहाँ ही विजय है।

युधिष्ठिर युद्धभूमि को चल पड़ा था, परन्तु जब अर्जुन स्वयं युद्धभूमि में पहुँचा तो उसके मन में युधिष्ठिर वाली निराशा तो थी नहीं। इस संशय को कि विजय किसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



होती है, वह कुछ महत्त्व नहीं देता था। उसके सामने मुख्य बात थी युद्ध की उपादेयता। अर्जुन के मन में समस्या यह नहीं थी कि युद्ध में विजय अथवा पराजय किसकी होती है, वरन् समस्या यह बन गई थी कि युद्ध करने से देश, जाति और कौरव परिवार का कल्याण भी होगा अथवा नहीं? यह समस्या उस उद्देश्य पर ही संशय उत्पन्न कर रही थी, जिसके लिए युद्ध लड़ा जाने वाला था।

यह समस्या वास्तव में वैसी ही थी, जैसी गांधीजी अपने सम्पूर्ण जीवन-भर अपने सामने देखते रहते थे। गांधीजी का मत था कि हिंसा करना किसी भी अवस्था में कल्याणकारी नहीं हो सकता। जब वे भारत में स्वतन्त्रता का संग्राम लड़ रहे थे, लोग यह समझते थे कि गांधीजी का ऐसा कहना विवशता के कारण था। उनके विचार में अन्य कोई उपाय नहीं था। परन्तु गांधीजी ऐसा नहीं मानते थे। वे कहते थे कि हिंसा पतन का मार्ग है। यह भीरुता का लक्षण है।

कुछ ऐसा ही विचार अर्जुन के मन में आया था। वह भी भीरुता नहीं थी। गांधीजी भी कहते थे कि उनकी अहिंसा भीरुता तथा दुर्बलता नहीं कही जा सकती। वे मानते थे कि हिंसा विनाश का मार्ग है।

अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा था।

दोनों सेनाओं में पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई के पुत्र, सम्बन्धी, श्वसुर और सुहृदों को खड़े देख वह अत्यन्त करुणा से भर गया। ये लोग एक-दूसरे की हत्या करने के लिए खड़े थे। अर्जुन को यह बात अति भयंकर प्रतीत हुई। उसने कहा :

**दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥**
**सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।**
**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।**

—भ० गी० १—२८, २९

हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा से खड़े इन अपने ही परिवार के लोगों को देख, मेरे अंग शिथिल पड़ रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीर में कम्पन हो रहा है, साथ ही रोमांच हो चुका है, गांडीव धनुष मेरे हाथ से छूट रहा है, त्वचा में जलन होने लगी है। कुछ समझ में नहीं आ रहा कि क्या करूँ?

हे कृष्ण! जिस प्रयोजन से यह युद्ध लड़ा जा रहा है, उसके विपरीत परिणाम निकल रहा दिखाई देने लगा है। जिनके लिए युद्ध लड़ा जा रहा है, वे तो स्वयं मरने-मारने के लिए आ उपस्थित हुए हैं, स्वजनों के वध से मुझे कल्याण होता नहीं दीखता।

युधिष्ठिर के भय और अर्जुन के भय में अन्तर था। युधिष्ठिर को विपक्ष में भीष्म आदि प्रामाणिक योद्धाओं को देख यह भय लगा था कि वह विजयी नहीं हो सकेगा। भीष्म पितामह द्वारा शत्रु की सेना की व्यूह-रचना देख, उसे अपनी विजय में सन्देह उत्पन्न हो गया था। युधिष्ठिर के मन में किसी के मरने अथवा मारे जाने की चिन्ता नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



थी। उसके मस्तिष्क में विजय-पराजय ही मुख्य विषय थे।

इसके विपरीत अर्जुन को मरने-मारने का ही भय लगने लगा था। वह विचार करने लगा था कि उसकी अपनी विजय हो जाने पर भी, वह किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकेगा। यह लगभग वही बात थी जो गांधीजी कहा करते थे कि हिंसा करके प्राप्त किया स्वराज्य वास्तविक स्वराज्य नहीं होगा।

अर्जुन की मानसिक विकृति युधिष्ठिर के मन की अवस्था से भिन्न प्रकार की थी। इसका परिणाम कुछ वैसा ही होने वाला था, जैसा गांधीजी के १९२२ में 'चौरी चौरा' की घटना के समय घोषणा से हुआ था। अर्जुन की मानसिक विकृति कृष्ण ने गीता के प्रवचन से दूर कर दी थी; परन्तु गांधीजी को समझानेवाला कोई कृष्ण उनके समीप था ही नहीं। परिणाम स्पष्ट है। गांधीजी के १९२१ से लेकर १९४७ तक के अहिंसात्मक आंदोलन के परिणामस्वरूप भारत एक संयुक्त, सुदृढ़ और महान् देश बनने के स्थान पर विभक्त हो गया। यह पाकिस्तान और भारत दो भागों में बँट गया; भारत एक संयुक्त राज्य (फ़ैडरल स्टेट) बना तथा इसमें राष्ट्रीयता के स्थान पर अराष्ट्रीयता का व्यापक प्रभाव हुआ।

पाकिस्तान सदा सर्वदा के लिए काँटे की भाँति कष्टप्रद बना रहेगा, ऐसी सम्भावना है। इसके फलस्वरूप भारत के मुसलमान सदा देश की उन्नति और शान्ति में बाधक बने रहेंगे। पाकिस्तान और भारत परस्पर विरोधी होने के कारण सदा विदेशियों की दया पर निर्भर रहेंगे।

भारत एक संयुक्त राज्य होने के कारण मानसिक विचार से बीस के लगभग राज्यों में विभक्त हो गया है और भविष्य में इतने ही स्वतन्त्र देशों में विभक्त होने की सम्भावना बनी रहेगी। केन्द्र किसी भी राज्य पर अपनी नीति नहीं चला सकेगा। सब राज्य सदा पृथक् होने की धमकी देते रहेंगे।

भारत के मुसलमानों की विदेशी मुसलमानी राज्यों से सहानुभूति होगी और इसकी हिन्दुओं में स्वाभाविक रूप में यह प्रतिक्रिया होगी कि वे विश्व के दूसरे देशों में अपने सहायक मुसलमानी राज्यों के विरोधी ढूँढ़ेंगे। परिणामस्वरूप, राष्ट्रीयता पर अराष्ट्रीयता को श्रेष्ठता मिलेगी, जिससे देश के कम्युनिस्ट प्रोत्साहन पायेंगे और रूस तथा चीन का मुख देखेंगे। साथ ही गैर-कम्युनिस्ट इसकी प्रतिक्रिया में अमरीका का मुख देखने पर विवश हो जायेंगे। सबसे अधिक भय उन भारतीय मुसलमानों से होगा, जो अपनी सरकार से भी अधिक पाकिस्तानियों को अपना संरक्षक मानेंगे। यह सबकुछ उस अहिंसात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है, जिसको सर्वत्र और सदैव सर्वश्रेष्ठ माना गया था।

भारत में आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व भी 'चौरी-चौरा' होने जा रहा था। अर्जुन युद्ध बन्द कर देने की घोषणा कर देने वाला था, पर कृष्ण ने गीता के उपदेश से स्थिति को सँभाला। इतिहास बताता है कि महाभारत युद्ध के उपरान्त तीन सहस्र वर्ष तक देश में सुख और शान्ति रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



गांधीजी की अहिंसा का एक और भी परिणाम हुआ है। गांधीजी और उनके अहिंसात्मक मार्ग के सहचारियों ने सदैव गुण्डों और बलशालियों के सामने हथियार डाले और भले तथा शान्तिप्रिय लोगों के पक्ष को दुर्बल किया। आज की भारत सरकार भी जब-जब गुण्डों, बदमाशों और आतताइयों का विरोध नहीं करना चाहती तो गांधीजी के अहिंसा सिद्धान्त के पीछे छुपकर अपनी अकर्मण्यता को छुपाना चाहती है। चीन, पाकिस्तान और बर्मा इत्यादि देशों ने भारतवासियों को अत्यन्त कष्ट दिया है और दे रहे हैं। भारत सरकार उनका विरोध करना नहीं चाहती। यह सदैव, सर्वत्र अहिंसा के मिथ्या सिद्धान्त का ही परिणाम है।

गीता ने तो अहिंसा, सत्य, न्याय, धर्म और भलमनसाहत (सज्जनता) के लिए ही घोर युद्ध की प्रेरणा दी थी। यही इस ग्रन्थ की अपूर्वता है।

२—यह माना जाता है कि उपनिषद् आदि ग्रन्थ निवृत्तिमार्ग की प्रेरणा देते हैं। गीता ने उन्हीं ग्रंथों की मीमांसा कर युद्ध का सन्मार्ग दिखाया है। युद्ध भी ऐसा, जिससे राज्य प्राप्त होने वाला था, जिससे सगे-सम्बन्धी ही लड़ने-मरने वाले थे। यह प्रवचन झूठी अहिंसा और मृत्यु तुल्य शान्ति को मन से निकालकर, युद्ध के मार्ग से मोक्ष तथा विजय से परमपद को प्राप्त करने का उपाय बताता है। इस संसार में कर्म करते हुए मोक्ष की प्राप्ति बताने का यह एक सफल प्रयास है।

३—युद्ध अनीश्वरवादी और मृत्यु तक ही जीवन की अवधि को माननेवाले भी लड़ते हैं। वे युद्ध में सफल और असफल भी होते हैं; परन्तु उनके युद्ध में सांसारिक वैभव, सुख तथा भोग की प्राप्ति ही लक्ष्य होते हैं। वे मनुष्य की नैतिक एवं आत्मिक उन्नति करनेवाले नहीं होते। इस प्रकार के युद्धों से वास्तविक सुख और शान्ति की वृद्धि नहीं हो सकती।

गीता में तो यह सिद्ध किया गया है कि बुद्धि को निर्मल और स्थिर कर, उस बुद्धि से धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कर, युद्ध जैसे घोर कर्म करने पर भी आत्मा और मन का किसी प्रकार से पतन नहीं होता।

जड़वादियों के प्रयास तो 'सफलता के लिए ही सफलता' सिद्धान्त के अधीन चलते हैं। वे मानते हैं कि सफलता का नाम ही सफलता है। इसके विपरीत गीता का मत है कि सफलता को सफलता तो कहते हैं, साथ ही दुष्टों का विनाश और साधुओं का परित्राण किसी का जीवन बचाने के लिए नहीं, वरन् धर्म की रक्षा के लिए है। यही गीता की विशेषता है।

## गीता की मान्यताएँ

यहाँ हम गीता की कुछ मान्यताओं का उल्लेख करेंगे। उनके पक्ष में विस्तृत विवेचना तो पुस्तक के मुख्य भाग में ही होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



१—गीता में भगवान् कृष्ण को महान् योगी माना है। महाभारत में कृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया है कि गीता के प्रवचन के समय वह योगयुक्त अवस्था में थे। अतः उस अवस्था में परमात्मा की बात कहते हुए, वह परमात्मा के प्रतिनिधि बनते हुए, परमात्मा के लिए मैं, मेरा, मुझे इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

२—जहाँ भक्ति और पूजन की बात आई है, वहाँ भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि देवी-देवताओं की पूजा से अस्थायी फल मिलता है। व्यक्त शरीर को परमात्मा माननेवाले मूढ़ मति हैं। भक्ति जब निःस्वार्थ भाव से की जाती है, तब ही मोक्षदायिनी हो सकती है।

३—भक्ति का पूर्ण और परम फल प्राप्त करने के लिए ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता होना अत्यावश्यक है।

४—कर्म और ज्ञान का चोली-दामन का साथ है। एक दूसरे के बिना व्यर्थ है। ज्ञान से कर्म दग्ध होते हैं अर्थात् तप्त हो शुद्ध तथा पवित्र हो जाते हैं। जैसे स्वर्ण तपाने से शुद्ध होता है, वैसे ही ज्ञान कर्मों को पवित्र करता है। इसी भाँति ज्ञान बिना कर्म के कुछ फल नहीं दे सकता। कर्म के त्याग का अर्थ कर्म-फल की कामना का त्याग ही है।

५—कर्म के बिना मनुष्य एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। अतः निष्कर्म भाव होने का अभिप्राय फल की इच्छा त्याग, निःस्पृह भाव से, द्वन्द्वरहित हो 'निराशीर्य' होकर कर्म करने से ही है।

६—नियत कर्म और नित्य कर्म एक ही बात है। वर्णाश्रम धर्म भी नित्य कर्मों में माना गया है। नियत अर्थात् नित्य कर्मों को करता हुआ मनुष्य मोक्ष की सिद्धि की आशा कर सकता है और इसको भी योग, यज्ञ और भक्ति के द्वारा प्राप्त कर सकता है। कर्मों के त्याग की मीमांसा न केवल व्यर्थ है, वरन् हानिकर भी है।

इसका निष्कर्ष यह है कि योग के लिए भी नित्य कर्मों का त्याग उचित नहीं।

७—गीता हिंसा-अहिंसा के झगड़े में नहीं पड़ती। यह धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित से ही अपने कर्मों का निश्चय करने को कहती है।

८—सृष्टि में मुख्य रूप में दो प्रकार के लोग हैं। एक दैवी स्वभाववाले और दूसरे आसुरी स्वभाववाले। ये स्वभाव पूर्वजन्म के कर्मों और वर्तमान जीवन के वातावरण से ही बनते हैं। जब एक बार स्वभाव बन जाता है तो फिर मनुष्य उस स्वभाव के अधीन हो कार्य करता है।

९—आसुरी प्रवृत्ति बहुत कठिनाई से बदलती है और यह संसार में घोर उपद्रव फैलाती है। यह निर्णय हो जाने पर कि यह आसुरी प्रवृत्ति है और वर्तमान जीवन के वातावरण से बदल नहीं सकती, तब ऐसी प्रवृत्ति रखनेवाले दुष्ट का विनाश ही उचित है।

१०—जगत् में मूल तत्त्व तीन हैं : प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। तीनों अक्षर होने के कारण ब्रह्म कहाते हैं। सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है। निमित्त कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परमात्मा है और जीवात्मा व्यक्त जगत् का भोक्ता है।

११—जीवात्मा कर्म करने वाला भी है और भोक्ता भी है। बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ आदि सभी जड़ हैं। अतः ये किसी भी कर्म के करने में उपकरण मात्र हैं। उपकरणों को भी साफ-सुथरे और कार्य-कुशल बनाने की आवश्यकता रहती है, परन्तु उपकरण जड़ होने के कारण इच्छा और प्रयत्न के मूल कारण नहीं हो सकते; न ही सुख-दुःख की अनुभूति रखते हैं। अतः कर्मों का उत्तरदायित्व आत्मा का है और वह ही फल का भोक्ता है।

१२—क्षेत्र शरीर है। क्षेत्रज्ञ परमात्मा और आत्मा हैं। शरीर अर्थात् क्षेत्र में दो आत्म-तत्त्व स्थिर हैं। इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न आत्मा के लिंग हैं। शरीर जड़ है। यह प्रकृति से निर्मित होता है। जीवात्मा शरीर के हृदय की एक गुहा में रहता हुआ बुद्धि, मन और इन्द्रियों द्वारा शरीर का संचालन करता है। दूसरा आत्म-तत्त्व अर्थात् परमात्मा निर्लिप्त शरीर और पूर्ण जगत् में रहता है। जगत् और शरीर में सामान्य कार्य ईश्वर के कारण ही होते हैं। परमात्मा सृष्टि का निर्माण, पालन और प्रलय करता है। परमात्मा सृष्टि की रचना में प्रकृति का उपयोग उपादान के रूप में करता है।

१३—प्रकृति मूल रूप में अव्यक्त, अव्यय, अनादि, अक्षर है। यह तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकट करती है। ये गुण हैं, सत्त्व, रजस् और तमस्। इनमें असमता परमात्मा की प्रेरणा से होती है और उसी से सृष्टि का व्यक्त रूप प्रकट होता है। यह जगत् के अनेकानेक रूपों के बनने में कारण है।

१४—प्राणी में जीवात्मा मोक्षपद प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा रखता है, परन्तु अज्ञ होने के कारण उसकी इच्छा-पूर्ति में बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। अतः जीवात्मा की इस स्वाभाविक इच्छापूर्ति का प्रथम चरण वास्तविक ज्ञान-प्राप्ति है। इतर जीव-जन्तु कर्मों के फल से इस ज्ञान-प्राप्ति के अयोग्य होते हैं। मनुष्य की बुद्धि ही इसे प्राप्त करने में समर्थ है। अतः मनुष्य-जीवन ही मोक्षमार्ग का एकमात्र साधन है। इसका अभिप्राय यह है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए निरन्तर मानव-जीवन पाने की आवश्यकता है। इतर जीव-जन्तुओं का जन्म पूर्वजन्म के पाप कर्मों की अधिकता का फल है। इनमें केवल कर्मफल का भोग ही किया जाता है, परन्तु मानव-जीवन भोगयोनि के साथ-साथ कर्मयोनि भी है। यह पूर्व जीवन के पुण्य कर्मों की अधिकता के फलस्वरूप है। इस जन्म में किये श्रेष्ठ कर्मों से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर मानव-जीवन मिलता जाता है। फिर श्रेष्ठतम जीवन प्राप्त कर मोक्ष-मार्ग में अग्रसर हो सकता है।

८-१२-१९६५ —गुरुदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Central Library
168004
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

R 089.9143

प्रथम परिच्छेद

# श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्त

## इतिहास

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत ग्रन्थ का एक छोटा-सा अंश है। महाभारत के भीष्म पर्व के पच्चीसवें अध्याय से बयालीसवें अध्याय तक के अठारह अध्याय गीता कहलाते हैं। यूँ तो अन्य कई अंश भी गीता के नाम के साथ जोड़ दिये गए हैं; जैसे विदुर गीता आदि। परन्तु उक्त गीता ही भगवद्गीता के नाम से विख्यात है।

महाभारत चन्द्रवंशियों के दो परिवारों में हुए युद्ध का वृत्तान्त है। इस युद्ध का वृत्तान्त लिखते हुए ग्रन्थ के रचयिता ने जहाँ पूर्ण चन्द्रवंश का इतिहास लिखने का यत्न किया है, वहाँ इसमें उन घटनाओं के कारण और उनके परिणाम लिखने का भी प्रयास किया है।

फलतः महाभारत अन्य पुराणों की भाँति इतिहास की सीमा को पार कर गया है। इतिहास केवल घटनाओं अथवा काल की गतिविधि लिखने का नाम है। जहाँ किसी घटना का कारण और उसके परिणाम का उल्लेख आया, वहाँ वह वक्तव्य इतिहास से कुछ अधिक माना जाता है। इसका कारण यह है कि किसी घटना अथवा परिस्थिति के कारण अथवा उससे उत्पन्न परिणामों के अन्वेषण में वस्तुस्थिति के अतिरिक्त कल्पना का सहारा लेने की आवश्यकता अनुभव होती है।

वर्तमान युग की घटनाओं के विषय में भी यही कहा जा सकता है। जैसे स्वराज्य-प्राप्ति आन्दोलन में महात्मा गांधी ने अनेक ऐसे कार्य किये और वक्तव्य दिये हैं कि जिनका जवाहरलाल नेहरू ने अक्षरशः समर्थन किया। इस पर भी दोनों की विचारधारा में आकाश-पाताल का अन्तर रहा है। नेहरू की, कम्युनिस्ट पद्धति में रुचि को जानते हुए भी, उन्हें कांग्रेस का प्रधान बनाने में गांधीजी सहायक होते रहे। इसके विपरीत गांधीजी अपने को हिन्दू कहते हुए भी तिलक, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय इत्यादि नेताओं का विरोध करते रहे। यह सब वृत्तान्त इतिहास है; परन्तु जब इस घटनाचक्र के कारण और परिणामों का उल्लेख किया जाता है तो हम कल्पना के क्षेत्र में जा पहुँचते हैं। ऐसे लेख इतिहास की सीमा को पार कर पुराण के क्षेत्र में जा पहुँचते हैं।

परन्तु पुराण अथवा कल्पना सदैव असत्य होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कल्पना का आधार सत्य पर टिका होता है तो वह सत्य और प्रमाण की पदवी पाती है। ऐसा भारतीय दर्शनशास्त्रों का मत है।

हम धुएँ और अग्नि का इकट्ठा होना देखते हैं। इससे जहाँ भी धुआँ देखते हैं, वहाँ अग्नि का अनुमान लगा लेते हैं। यदि कहीं पेड़ों के झुरमुट में से धुआँ उठता देखें तो उन पेड़ों के नीचे अग्नि होने का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि हम जानते हैं कि धुआँ बिना अग्नि के नहीं होता। इस कारण धुएँ को देखकर अग्नि की कल्पना सत्य है।

कल्पना तब असत्य भी हो सकती है जब उसका कोई सत्य आधार न हो। अग्नि बिना धुएँ के भी हो सकती है। जब जलनेवाली वस्तु भलीभाँति जले तो धुआँ नहीं होता, अथवा इतना कम होता है कि दिखाई नहीं देता। अतः अग्नि से धुएँ की कल्पना असत्य है। धुआँ तो अग्नि के बिना नहीं होता। परन्तु अग्नि धुएँ के बिना भी हो सकती है। अतः धुएँ से अग्नि की कल्पना सत्य है और अग्नि से धुएँ की कल्पना असत्य भी हो सकती है। इसी प्रकार किसी ऐतिहासिक घटना के कारण की कल्पना सत्य भी हो सकती है। कल्पना का आधार सत्य होना चाहिए। अतएव पुराण सदा ही असत्य होंगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। केवल इसी आधार पर महाभारत में कुछ काल्पनिक बातें देख उन्हें असत्य मान लेना बुद्धि को तिलांजलि देने के तुल्य हो जाएगा।

महाभारत में कल्पना का पुट देखकर, उसमें आए ऐतिहासिक अंश को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह इतिहास की बात है कि कुरुवंश के भाइयों में परस्पर वैमनस्य उत्पन्न हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप घोर युद्ध हुआ। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि अर्जुन के मन में संशय उत्पन्न हुआ था और उस संशय का कृष्ण ने निवारण किया। यह भी इतिहास है कि अर्जुन का संशय निवारण हुआ और उसने युद्ध में सक्रिय भाग लिया।

स्पष्ट है, गीता इतिहास का एक अंश है। इसका कल्पना से कोई सम्बन्ध नहीं। कल्पना यह थी कि अर्जुन ने उस ग्यारह अक्षौहिणी सेना में से कितनों का संहार किया।

गीता की पृष्ठभूमि इस प्रकार है। जब कौरव और पाण्डव सेनाएँ कुरुक्षेत्र के मैदान में आमने-सामने आ उपस्थित हुईं और व्यूह-रचना कर, एक-दूसरे की हत्या करने के लिए तैयार हो गईं तो कौन-कौन लोग उस युद्ध में भाग लेने के लिए आए हैं, यह देखने के लिए अर्जुन ने अपना रथ दोनों सेनाओं के मध्य में ले जाने के लिए कहा। कृष्ण अर्जुन के रथ का सारथि था। वह रथ लेकर दोनों सेनाओं के मध्य में जा खड़ा हुआ।

अर्जुन ने देखा कि दोनों सेनाओं में उसके सगे-सम्बन्धी और प्रियजन ही खड़े हैं। इससे उसके मन में यह विभ्रम उत्पन्न हुआ कि क्या युद्ध से उस उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी, जिसकी वह इच्छा करता है। उसने अनुभव किया कि जब पुत्र-पौत्र, भाई-बन्धु, मामा, चाचा, पितामह और आचार्य मारे गए तो फिर राज्य-प्राप्ति से क्या लाभ होगा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


ऐसा विचार करने पर वह अपने मन, आत्मा और शरीर में शिथिलता अनुभव करने लगा। उसने धनुष-बाण छोड़ दिया और कृष्ण से इस प्रकार अपने मन की बात कही—

हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा से खड़े स्वजनों को देख मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख सूख रहा है और मेरे शरीर में कम्पन और रोमांच हो रहा है।

गांडीव मेरे हाथ से छूट रहा है, त्वचा जलने लगी और मन में भ्रम आ उपस्थित हुआ है। मैं खड़ा रहने के भी योग्य नहीं रहा।[१]

अर्जुन ने अपनी यह अवस्था बताई और इस अवस्था का कारण भी बताया। अर्जुन ने ये तीन बातें, जो उसके मन में आई थीं, कृष्ण से कह दीं।

१—अपने सब प्रियजनों की हत्या कर अथवा कराकर मैं राज्य पाने की आकांक्षा नहीं रखता। जिस बात की इच्छा करता था, परिणाम उसके विपरीत निकलते दिखाई देते हैं।

इन सगे-सम्बन्धियों को मारकर न मुझे विजय चाहिए और न मुझे राज्य की लालसा है। जिनके लिए हम राज्य-भोग और सुखों की इच्छा कर रहे हैं, वे सुखों की अभिलाषा छोड़ युद्ध में लड़ने-मरने के लिए आ खड़े हुए हैं।

२—युद्ध से उपराम होने का दूसरा कारण उसने बताया कि इस युद्ध में पितामह, आचार्य इत्यादि बड़ों से लेकर पौत्र-प्रपौत्र तक सब लड़ने के लिए खड़े हैं। आचार्य, कुल के पुत्र, पोते, बाबा, मामा, श्वसुर, साले-सम्बन्धी इत्यादि सब युद्ध करने के लिए यहाँ आ गए हैं। इस कुलहत्या से क्या अच्छा फल निकलने वाला है?

अर्जुन की युक्ति यह थी कि दुर्योधन आदि भ्रष्टबुद्धि हैं। वे कुल के विनाश को पाप नहीं मानते। परन्तु हम लोग कुल-नाश से होने वाली हानि को समझते हैं। मैं जानता हूँ कि कुल के नाश होने से सनातन काल से चला आ रहा धर्म नष्ट हो जाएगा, धर्म-नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप दबा लेगा और पाप के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। इसी से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होगी।

पिण्ड-क्रियाएँ लुप्त हो जाने से पितर भी पतित हो जाते हैं।

३—युद्ध न करने की बुद्धि उत्पन्न होने में तीसरा कारण अर्जुन ने यह बताया कि वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होने से कुल का सनातन धर्म नष्ट हो जाएगा और इस भाँति यह घोर पाप हो जाएगा। मैं इस घोर पाप को करने की इच्छा नहीं रखता।

ये तीन बातें अर्जुन के मन में भ्रम उत्पन्न करने लगीं और उसने श्रीकृष्ण से

---

१. दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

—भ० गी०, १—२८, २९, ३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कहा—

मुझको विजय प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं है। न ही मुझे राज्य का सुख चाहिए। जब धर्म नष्ट हो जाएगा तो राज्य और सुख किस प्रयोजन के ?[१]

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। लुप्तपिण्ड का अर्थ क्या है। पिण्ड का अर्थ आजीविका भी है। अतः लुप्तपिण्ड का अर्थ है वर्णसंकर सन्तान होने से पितरों की आजीविका नष्ट हो जाएगी।

स्त्रियाँ भ्रष्ट चरित्रा हो जाएँगी। उनकी सन्तान मूर्ख और दुश्चरित्र होंगी। वे अपने पितरों (माँ-बाप) का भी भरण-पोषण नहीं करेंगे। इससे वे बाध्य हो आजीविका के लिए वृद्धावस्था में पापमय जीवन व्यतीत करेंगे।

अर्जुन ने अपने मन का संकल्प वर्णन करते हुए यहाँ तक कह दिया कि मैं शस्त्र छोड़ रहा हूँ। यदि मुझे शस्त्ररहित और युद्ध न करते देख धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में मार भी देंगे तो ऐसे मरना मेरे लिए कल्याणकारी होगा।[२]

वर्तमान युग में महात्मा गांधी का व्यवहार वही रहा है, जो अर्जुन ने उस वक्तव्य में प्रकट किया है। गांधीजी के मंतव्य को अंग्रेजी कवि शैले ने इन पंक्तियों में सुन्दर

---

१. येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातना।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
—भ० गी०, १—३३, ३४, ३५, ३६, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३

२. यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥
—भ० गी०, १—४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ढंग से प्रस्तुत किया है :

With Folded arms and steady eyes,
And little fear, and less surprise,
Look upon them as they slay
Till their rage has died away.
Then they will return with shame
To the place from which they came,
And the blood thus shed will speak
In hot blushes on their cheek.

इस कविता का अर्थ है—हाथों को बगलों में दबाये हुए और स्थिर दृष्टि से निर्भय होकर देखते और बिना विस्मय प्रकट किए वह उनको देखता था। उस समय वे मार-काट कर रहे थे। उनकी मार-काट जारी रही, जब तक उनका क्रोध शान्त नहीं हो गया। तब हत्यारे लज्जित हो जिधर से आए थे, उधर को चल दिए। उनकी आँखें लज्जा से झुकी हुई थीं। रक्त जो उन्होंने बहाया था, उनके गालों पर शर्म की लाली के रूप में दिखाई दे रहा था।

गांधीजी भी कुछ इसी प्रकार की आशा करते थे। परन्तु यह संसार का वास्तविक चित्र नहीं है। एक व्यक्ति की भावना प्रतीत होती है। इतिहास इसका साक्षी नहीं है। गीता इतिहास के किसी व्यक्ति-विशेष की भावना का ही चित्रण नहीं है। यह समाज के व्यवहार का चित्रण करती है और इतिहास साक्षी है कि आततायी किसी की हत्या कर तनिक भी लज्जित नहीं होता।

## गीता की मान्यताएँ

गीता का यह पक्ष कि "मैं शस्त्र छोड़कर मर जाना पसन्द करूँगा, युद्ध में अपने सगे-सम्बन्धियों की हत्या कर, कुल का नाश कर तथा कुलधर्म नष्ट कर और कुल की स्त्रियों को दूषित कर पाप का भागी नहीं बनूँगा," यह अर्जुन का विचार था। कृष्ण इस पक्ष को मिथ्या और हानिकारक समझता था। इसी कारण गीता में स्थान-स्थान पर कृष्ण अर्जुन को यह कहता देखा जाता है—

इसलिए हे कौन्तेय! यू युद्ध का निश्चय कर।[१]

---

१. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

—भ० गी०, २—१८

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

—भ० गी०, २—३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



फिर कहा है कि—इसलिए तू अपना मोह छोड़कर अपना कर्त्तव्य कर्म कर।[१]

और भी; मेरा स्मरण कर और युद्ध कर।[२]

इस प्रकार अनेक स्थानों पर युद्ध करने की प्रेरणा कृष्ण ने अर्जुन को दी। गांधीजी का विचार वही था, जो अर्जुन का था। गांधीजी के पक्ष को कृष्ण का मत मिथ्या पक्ष मानता है।

सत्याग्रह व्यक्तिगत कर्म हो सकता है, परन्तु यह समष्टिगत व्यवहार का न स्रोत हो सकता है और न इसका व्यवहार फलदायी होता है।

इतिहास यह बताता है कि सत्याग्रह कभी भी, व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत, आततायी के मनोभावों को बदल नहीं सका। जहाँ कहीं भी आततायी झुकता दिखाई दिया है, वहाँ कारण यह रहा है कि सत्याग्रह पर जनसाधारण के भड़क उठने से आततायी अपनी जान वा माल के भय के हेतु, अपनी जान बचाने के लिए सामयिक नम्रता स्वीकार कर लेता है; उसका हृदय परिवर्तन होता है, ऐसा कहीं देखा नहीं गया। यह तथ्य भारत में स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त कांग्रेस सरकार अनेक बार स्वयं स्वीकार कर चुकी है।

गांधीजी और उनके विचार के लोगों ने जब देखा कि उनके मन की बात गीता का उत्तर-पक्ष नहीं वरन् पूर्व-पक्ष है, तो उन्होंने गीता के इतिहास-पक्ष को ही अमान्य कर दिया। उन्होंने कह डाला कि महाभारत इतिहास का ग्रन्थ ही नहीं; यह तो मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए अलंकार मात्र है।

गीता महाभारत ग्रन्थ का एक छोटा-सा अंग है। महाभारत प्राचीन इतिहास की एक घटना पर लिखा गया एक पुराण है और घटनाओं तथा उनके सम्भावित परिणामों का भी उसमें समावेश है। इस कारण महाभारत ऐतिहासिक आधार पर लिखा गया एक कथानक है। इस महायुद्ध के परिणामों का उल्लेख करने से यह धर्म की ओर प्रेरणा भी देता है। परन्तु इससे इसके इतिहास पक्ष का लोप नहीं होता। अतः महाभारत इतिहास भी है। गीता का संवाद उस ऐतिहासिक घटना का अंश ही है।

संक्षेप में महाभारत का इतिहास यह है : कुरुवंशियों में एक राजा शांतनु हुआ था। वह गंगा नाम की एक लड़की से प्रेम करने लगा। वह उस लड़की के सम्मोहन में इतना फँसा कि उससे विवाह करने में उसकी यह शर्त भी मान बैठा कि वह अपनी संतान से जैसा चाहे व्यवहार करेगी। संतान उत्पन्न होते ही गंगा उसे नदी में बहा देती

---

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

—भ० गी०, ३-१९

२. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥

—भ० गी०, ८—७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



थी। सात सन्तानों को जब गंगा में बहा चुकी तो आठवीं के जन्म के समय राजा ने आपत्ति कर दी। इस पर गंगा उस संतान को राजा को सौंप, स्वयं उसे छोड़ चली गई। इससे राजा शोकाभिभूत हो वृद्धावस्था तक अविवाहित रहा। गंगा की उस आठवीं सन्तान का नाम देवव्रत रखा गया। इस स्थिति में राजा शांतनु की दृष्टि एक मछुए—खेवट की लड़की पर जा पड़ी। उसका नाम था सत्यवती। शांतनु उससे विवाह की इच्छा करने लगा। लड़की के पिता ने यह शर्त लगा दी कि उसकी लड़की की सन्तान राजगद्दी पर बैठे और इसके समर्थन में राजा का पहला लड़का देवव्रत भी ऐसा ही वचन दे; साथ ही वह जीवन-भर अविवाहित रहने का प्रण ले।

शांतनु और गंगा का पुत्र देवव्रत यह आश्वासन देने और प्रण लेने को तैयार हो गये। अतः देवव्रत को ऐसी प्रतिज्ञा करने पर भीष्म कहा गया और सत्यवती का शांतनु से विवाह हो गया। सत्यवती के दो पुत्र हुए। इनमें से एक विवाह होने के पहले ही मर गया और दूसरा विवाह के बाद निःसंतान ही मृत्यु का ग्रास बन गया। इस स्थिति में राज्य के उत्तराधिकारी का प्रश्न उत्पन्न हुआ। विमाता सत्यवती के प्रबल अनुरोध पर भी भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा। उसने न तो विवाह किया और न ही राजगद्दी सँभाली।

बाध्य हो, राज्य-रक्षा के लिए सत्यवती को अपनी बहुओं से नियोग कराकर संतान प्राप्त करनी पड़ी। दुर्भाग्य से यह संतान ठीक नहीं हुई। बड़ा लड़का धृतराष्ट्र अन्धा और दूसरा पाण्डु वर्ण एवं दुर्बल हुआ।

कहा जाता है कि अन्धे के एक सौ एक पुत्र हुए। पाण्डु वर्ण राजकुमार के पाँच लड़के हुए। अन्धे धृतराष्ट्र के पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों में पारस्परिक कलह की कथा ही महाभारत ग्रन्थ है।

कलह की मुख्य बात यह थी कि धृतराष्ट्र के पुत्र राज्य अपना समझते थे। धृतराष्ट्र बड़ा और बड़ी रानी का लड़का था; परन्तु अन्धा होने से राज्यकार्य के अयोग्य माना जाकर छोटे भाई पाण्डु द्वारा राज्यकार्य चलाता था। यह निर्णय भी किया गया था कि धृतराष्ट्र और पाण्डु में से जिसके पहले सन्तान हो, वह सन्तान ही राज्य की अधिकारी मानी जाए। कलह तब प्रारम्भ हुआ, जब छोटे भाई पाण्डु के सन्तान पहले हुई और बड़े भाई धृतराष्ट्र के सन्तान बाद में हुई। दोनों भाइयों के लड़कों में सबसे बड़ा युधिष्ठिर था।

धृतराष्ट्र के पुत्र युधिष्ठिर को राज्याधिकारी नहीं मानते थे। बड़ों ने इस कलह का निपटारा राज्य बाँटकर कर दिया। एक नया राज्य निर्माण किया गया। वह युधिष्ठिर को दिया गया।

पर इससे कलह समाप्त नहीं हुआ।

युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया तो विश्व-भर के राजा युधिष्ठिर को भेंट में देने के लिए अनेक प्रकार के रत्न और पदार्थ लाये। यह देख दुर्योधन (अन्धे पिता का ज्येष्ठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पुत्र) के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। उसने युधिष्ठिर को अपने महलों में आमन्त्रित किया और जुआ खेल धोखे से पाण्डवों का राज्यपाट और सबकुछ जीत लिया।

पुनः झगड़ा होने की सम्भावना हुई। इस पर एक शर्त के साथ दुबारा जुआ खेला गया। शर्त यह थी कि पराजित व्यक्ति अपने भाइयों सहित बारह वर्ष तक वन में रहे और एक वर्ष कहीं छुपकर रहे। इस शर्त को पूरा करने पर उसे हारा हुआ राज्य वापस कर दिया जाय। युधिष्ठिर इस बार भी धोखे से हरा दिया गया और उसने वनवास और अज्ञातवास की अपनी शर्त पूरी कर दी। इस तेरह वर्ष की अवधि में दुर्योधन ने युधिष्ठिर को पकड़कर मरवा डालने के कई यत्न किये; परन्तु वह सफल नहीं हुआ। अन्ततः युद्ध हुआ। दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने आ गईं। इस युद्ध के आरम्भ होने के समय अर्जुन के मन में यह संशय उत्पन्न हो गया कि युद्ध करना न केवल व्यर्थ है, वरन् पाप भी है।

कृष्ण पाण्डवों के सम्बन्धी भी थे और विद्वान् तथा योग्य नेता थे। वह पाण्डवों की गौण रूप में सहायता कर रहे थे। वे अर्जुन के रथ के सारथि बने। जब अर्जुन ने अपना संशय प्रकट किया तो कृष्ण ने उसे समझाया कि युद्ध करना न पाप है और न पुण्य। यह एक कर्म है। जब यह धर्म की स्थापना के लिए किया जावेगा तो पुण्य होगा और यदि यह अधर्म की स्थापना के लिए किया जाएगा तो पाप होगा।

यद्यपि कृष्ण ने गीता के प्रवचन में दुर्योधन के व्यवहार का विस्तार से उल्लेख नहीं किया, तथापि इतना संकेत कर ही दिया कि अर्जुन का पक्ष धर्म का है। अतः उसका युद्ध करना पाप नहीं हो सकता।

दुर्योधन और युधिष्ठिर के पक्षों की विवेचना महाभारत में वर्णित है। युद्ध के लिए रणक्षेत्र में सेनाएँ लेकर उतरने से पूर्व कृष्ण दोनां कुलों में संधि कराने के विचार से हस्तिनापुर गये। हस्तिनापुर दुर्योधन की राजधानी थी। वहाँ भरी सभा में कृष्ण ने उन सब कार्यों का उल्लेख किया जो दुर्योधन ने अधर्म का आश्रय लेकर युधिष्ठिर के साथ किये थे। कृष्ण के इस वक्तव्य से यह बात सिद्ध हो जाती है कि दुर्योधन अधर्माचरण पर आरूढ़ था। कृष्ण ने उस सभा में कहा—

(१) यह बात सत्य है कि युधिष्ठिर का पिता पाण्डु राज्यकार्य चलाता था और उसका बड़ा भाई अन्धा होने से राज्यकार्य के अयोग्य था।

(२) परिवार के बड़ों का यह निर्णय था कि धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों की सन्तानों में सबसे बड़ा लड़का राज्य पायेगा। इस निर्णय के अनुसार पाण्डु का पुत्र युधिष्ठिर राज्याधिकारी माना जाना चाहिए।

(३) दुर्योधन का बड़ों के इस निर्णय को न मानना अधर्म है।

(४) दुर्योधन ने अपने बड़ों का कहा न मान पाण्डवों को विष देकर मार डालने का यत्न किया; इस कुकर्म में सफलता न मिलने पर जीवित जला देने का यत्न किया। यह व्यवहार अधर्म था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(५) इस स्थिति में घर के बड़ों ने राज्य बाँट दिया। पाण्डवों को एक क्षेत्र, जो 'वन' प्रदेश था, राज्य स्थापित करने के लिए दे दिया गया। युधिष्ठिर ने वहाँ नई राजधानी बनाई। इसका नाम इन्द्रप्रस्थ रखा और नगर बसाया। तत्पश्चात् राजसूय यज्ञ किया और अपना चक्रवर्ती राज्य स्थापित किया।

(६) दुर्योधन ने छल से जुआ खेलकर पाण्डवों का राज्य छीन लिया। पाण्डवों के जुए में दो बार हार जाने पर राज्य के अगुओं ने यह शर्त लगा दी कि पाण्डव बारह वर्ष तक वन में एवं एक वर्ष अज्ञातवास कर सकें तो राज्य उन्हें वापस मिल जाएगा। यह एक प्रकार से युधिष्ठिर को जुआ खेलने और उसमें मूर्खों की भाँति धोखा खा जाने का दण्ड था। इस दण्ड के भोगने के उपरान्त उसे राज्य मिल जाने की शर्त थी। परन्तु युधिष्ठिर के शर्त पूरी करने पर भी उसे राज्य नहीं दिया गया।

कृष्ण ने वयोवृद्धों को समझाया कि वे अपने निर्णयों का पालन करायें। दुर्योधन को समझाते हुए कहा कि यदि वह अपने भाइयों को पाँच गाँव भी दे दे तो युद्ध टल सकता है।

इस वक्तव्य में कृष्ण ने पाण्डवों के पक्ष को धर्म और न्यायसंगत सिद्ध कर दिया था। दुर्योधन के हठ के कारण संधि नहीं हुई और युद्ध होना अवश्यम्भावी हो गया।

कृष्ण ने अपने गीता-प्रवचन में महाभारत की पूर्ण घटनाओं का उल्लेख नहीं किया। गीता में केवल इतना संकेत किया है कि अर्जुन का पक्ष धर्मयुक्त है। वह धर्मयुद्ध करने आया है। अतः वह युद्ध में दोषी नहीं है। धर्मयुद्ध करता हुआ यदि वह जीवित रहेगा तो राज्य का सुख पायेगा और मृत्यु को प्राप्त हुआ तो स्वर्ग प्राप्त करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय परिच्छेद

# मृत्यु एवं हत्या की विवेचना

अर्जुन का विचार था कि अपने बन्धु-बान्धवों को मारकर वह महान् अनर्थ करने जा रहा है। मन की इस भावना को व्यक्त करते हुए अर्जुन ने यहाँ तक कह दिया था कि—

"मैं शस्त्र छोड़ रहा हूँ। यदि मुझ शस्त्ररहित को युद्ध न करते देख धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र मार भी दें तो ऐसा मरना मेरे लिए कल्याणकारक ही होगा।" (भ० गी०, १४—१)

हमने पिछले अध्याय में बताया है कि यह कुछ वैसी ही स्थिति थी जैसी १९२२ में चौरी-चौरा में हुई थी। तब गांधीजी ने कुछ हत्याएँ हुई देखकर भारत-भर में चल रहा सत्याग्रह आन्दोलन बन्द कर दिया था।

यह घटना इस प्रकार हुई। अंग्रेजी सरकार के एक फौजी कमांडर जनरल डायर द्वारा जलियाँवाला बाग, अमृतसर में वैशाखी के मेले में, सार्वजनिक सभा के नाम पर एकत्र हुए निहत्थे और शान्तिपूर्वक सभा में बैठे लोगों पर किसी काल्पनिक कारण से, बिना पूर्व सूचना दिये मशीनगनों से दनादन गोलियाँ चला दीं। इससे एक सहस्र से अधिक लोग मृत्यु के ग्रास बन गये। महात्मा गांधी ने इस हत्याकाण्ड के जिम्मेदार अधिकारियों को दण्ड देने की माँग की। इसी प्रकार पंजाब के छः-सात ज़िलों में अंग्रेजी सरकार ने सैनिक शासन लागू कर दिया और उस शासन ने अनेक स्थानों पर अमानुषिक अत्याचार किये। इस विषय में भी जाँच और अपराधी अधिकारियों को दण्ड देने की माँग की गयी थी। सरकार ने जाँच तो कराई, पर उस जाँच से गांधीजी और कांग्रेस ने असन्तुष्ट होकर सत्याग्रह करने की योजना बना ली।

पंजाब में जलियाँवाला हत्याकाण्ड और सैनिक शासन के अत्याचारों की जाँच ठीक नहीं हुई और इसके अपराधियों को उचित दण्ड नहीं दिया गया। फलस्वरूप देश-भर में तीव्र रोष फैल गया। साथ ही प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप टर्की के खलीफा को अपदस्थ किये जाने पर भारत के मुसलमानों में भी रोष था। गांधीजी ने उनको भी अपने सत्याग्रह में सम्मिलित करने के लिए खिलाफत के विषय को अपनी माँगों में सम्मिलित कर लिया और बाद में भारत में स्वराज्य दिये जाने की माँग को भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सत्याग्रह का लक्ष्य बना लिया गया।

गांधीजी और कांग्रेस की यह घोषणा थी कि वे शान्तिमय सत्याग्रह करेंगे। देश-भर में सत्याग्रह आरम्भ हो गया। स्कूलों, कॉलेजों और न्यायालयों का बहिष्कार होने लगा। स्थान-स्थान पर सभाएँ होने लगीं, जुलूस निकलने लगे और सरकार से असहयोग के स्वरूप सरकारी पदवियों पर से त्याग-पत्र दिए जाने लगे।

इस आन्दोलन के मध्य गोरखपुर के एक स्थान चौरी-चौरा में, पुलिस ने भीड़ पर गोली चलाई। इससे कुछ लोग मारे गए। इसके प्रतिकार में भीड़ ने पुलिस पर आक्रमण कर दिया। पुलिस चौकी घिर गयी। भीड़ ने थाने में आग लगा दी और इस आग के परिणामस्वरूप लगभग इक्कीस सिपाही जीवित जल गये।

गांधीजी को यह समाचार मिला तो उन्होंने अपना आन्दोलन वापस ले लिया। उस समय वे कांग्रेस की ओर से एकमात्र कार्य-संचालक (डिक्टेटर) नियुक्त थे। देश-भर का आन्दोलन स्थगित कर गांधीजी ने यही कहा था कि देश के लिए हिंसा कल्याणकारी नहीं हो सकती।

महाभारत युद्ध के पूर्व अर्जुन की मानसिक अवस्था और सन् १९२२ की घटना के उपरान्त गांधीजी की मानसिक अवस्था समानान्तर रेखाओं में चलती दिखाई देती है। अन्तर है तो केवल यह कि एक में योद्धा को घटना के पूर्व ही यह भास हुआ था कि हत्याएँ (हिंसा) अकल्याणकारी होंगी और दूसरी ओर गांधीजी को हत्याएँ होने का ज्ञान बाद में हुआ। यह अन्तर अदूरदर्शिता और नाक के आगे न देखने के कारण था। अर्जुन युद्ध आरम्भ होने से पूर्व ही इस परिणाम को कि अनेक मारे जायेंगे, समझ गया था। गांधीजी को वाइसराय हिन्द और भारत के तत्कालीन नेताओं ने बताया था कि उनका आन्दोलन अहिंसात्मक नहीं रहेगा और इसके भयंकर परिणाम निश्चित हैं। परन्तु गांधीजी यही समझते रहे कि हिंसा नहीं होगी। हिंसा दोनों ओर से हुई, पुलिस की ओर से भी और जनता की ओर से भी। इसका कारण था कि लोग इस सत्याग्रह को एक प्रकार का युद्ध समझकर इसमें सम्मिलित हो रहे थे। गांधीजी यह नहीं समझते थे। बस इतना ही अन्तर था, परन्तु मानसिक प्रतिक्रिया समान थी।

भगवान् कृष्ण की युक्ति थी कि इन (दोनों ओर की) हत्याओं से डरकर धर्मयुद्ध बन्द कर देना अधिक हानिकारक और अकल्याणकारी होगा। युद्ध से क्या कल्याण होने वाला था, वह तो इतिहास का विषय है। भगवान् कृष्ण ने युद्धभूमि पर खड़े होकर प्राचीन इतिहास की विवेचना करनी उचित नहीं समझी। इसकी व्याख्या महाभारत में भली-भाँति कर दी गई है। देवासुर संग्रामों और असुरों के दमन के लिए देवताओं तथा अवतारों द्वारा युद्ध करने के कई इतिहास महाभारत में लिखे हैं। इतिहास का सार बताते हुए महाभारत के लेखक ने यह लिखा है कि पूर्वकाल में भगवान् विष्णु ने शस्त्रधर्म के द्वारा ही शत्रुओं का दमन करके देवताओं और अमित तेजवाले ऋषियों की रक्षा की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यदि भगवान् श्रीहरि समस्त शत्रुरूपी असुरों का संहार न करते तो न कहीं ब्राह्मणों का पता चलता और न ही जगत् के आदिस्रष्टा ब्रह्मा दिखाई देते। न यहाँ धर्म रहता, न आदि धर्म का पता चलता।[१]

अतः भगवान् कृष्ण ने गीता में केवल संकेत मात्र कहा कि—

हे अर्जुन! अपने धर्म को देखकर भी तुम भय करने के योग्य नहीं हो, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कल्याणकारक कर्म क्षत्रियों के लिए कोई नहीं है।

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पाप को प्राप्त होगा।[२]

इस धर्मयुद्ध में मारने अथवा मरने को एक साधारण घटना माना गया है। भगवान् कृष्ण ने इसको बहुत कुशलतापूर्वक समझाया।

अर्जुन ने कहा कि युद्ध में चाचा, मामा, पितामह, आचार्य, भाई, बंधु, पुत्र, पौत्र इत्यादि की हत्या हो जाएगी। इस कारण यह अधर्म कृत्य वह नहीं करेगा।

कुछ ऐसी ही युक्ति भारत में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े में कुछ हिन्दू लोग देने लगते हैं कि उनकी हत्या पाप हो जाएगी, इत्यादि।

वे अपनी भूल समझेंगे अथवा नहीं, यह अनुभव करनेवालों के विचार का विषय है। पर प्रश्न होता है कि कृष्ण इस विषय में क्या कहते हैं। जो असुर समझाने से नहीं मानता और अपनी आसुरी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ता, उसी के साथ युद्ध किया जाता है। हत्या उसी की क्षम्य है।

परन्तु कृष्ण कहते हैं कि हत्या नाम की कोई वस्तु अथवा कार्य नहीं है। जो वास्तविक मनुष्य है, वह मरता ही नहीं। यदि वास्तविक प्राणी मरता नहीं तो फिर इस बात की चिन्ता ही क्यों करता है? भगवान् ने कहा है कि जो शोक करने योग्य नहीं, उसके लिए तू शोक करता है, इस पर भी पण्डितों की भाँति बातें करता है। बुद्धिमान् मनुष्य, जो मर गये हैं, उनके लिए अथवा जिनके प्राण नहीं गए, उनके लिए शोक नहीं

---

१. कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः।
त्राताः सर्वे प्रसह्यारीन् क्षत्रधर्मेण विष्णुना॥
यदि ह्यसौ भगवान् नाहनिष्यद् रिपून् सर्वानसुरानप्रमेयः।
न ब्राह्मणा न च लोकादिकर्त्ता नायं धर्मो नादिधर्मोऽभविष्यत्॥

—महा भा०, शां० ६४—२३, २४

२. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रिस्य न विद्यते॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

—भ० गी०, २—३१, ३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करते।[१]

श्रीकृष्ण का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी में दो प्रकार के तत्त्व रहते हैं। इन दो के संयोग का नाम ही प्राणी है। इनमें एक शरीर है और दूसरा जीवात्मा है। मृत्यु के समय शरीर और जीवात्मा का वियोग हो जाता है। जीवित अवस्था में कर्म करनेवाला जीवात्मा है। कर्मफल भोगनेवाला भी जीवात्मा है। शरीर एक उपकरण मात्र है। इसके विनष्ट हो जाने से अविनाशी जीवात्मा ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। शरीर जीवात्मा से पृथक् हो जाने पर समय पाकर गल-सड़ जाता है पर जीवात्मा तो एकसदृश बना रहता है। मृत्यु के उपरान्त जीवात्मा शरीर से पृथक् कर दिए जाने पर उस शरीर का प्रयोग नहीं कर सकता। यह ऐसे ही है, जैसे किसी बालक के हाथ में छड़ी हो और वह उस छड़ी से दूसरों को पीटता चला जाए। मना करने पर भी वह न माने, तो उसके हाथ से छड़ी छीन लेना ही उचित है। किसी असुर की हत्या कर देने का भी यही प्रयोजन है। जब कोई असुर परमात्मा की ओर से दिये गये शरीर का दुरुपयोग करने लगता है, तब शरीर को उस आत्मा से छीन लेना ही उचित उपाय है।

यह कहना कि शरीर छीने बिना उस आत्मा को सन्मार्ग दिखाना ठीक होगा, ठीक है। परन्तु उसी सीमा तक, जिस तक बालक के हाथ में छड़ी रहने से बालक को समझाने का उपाय किया जा सकता है। सब जानते हैं कि कुछ बालक हैं, जो छड़ी छीन लेने पर ही सन्मार्ग पर चलते हैं।

युद्ध से पूर्व दुर्योधन इत्यादि को समझाने का तीन बार प्रयत्न किया गया। एक बार महाराज द्रुपद के पुरोहित उसे समझाने गये थे। दूसरी बार देश के प्रमुख ऋषियों ने समझाने का यत्न किया और तीसरी बार श्रीकृष्ण स्वयं हस्तिनापुर गये। इनके अतिरिक्त भीष्म पितामह, धृतराष्ट्र और गांधारी ने भी उसे समझाया था। इस सबके उपरान्त जब न्याय और धर्म के पक्ष का अवलम्बन नहीं किया गया तो दुर्योधनादि कौरवों को इस शरीर से वंचित करने के अतिरिक्त अन्य कुछ उपाय नहीं रहा था।

शरीर को जीवात्मा से पृथक् कर देने की मीमांसा भी कृष्ण ने गीता में कर दी है। यह मीमांसा स्वविचारित युक्तियों से नहीं, वरन् उपनिषदों में वर्णित मत के अनुसार ही है।

कृष्ण ने कहा था कि शरीर और आत्मा दो पृथक् पदार्थ हैं। शरीर नाशवान् है और जीवात्मा अविनाशी है। मनुष्य में आत्मा ही, सब प्रकार के कर्मों के प्रति उत्तरदायी है, शरीर नहीं। शरीर अचेतन है। वह केवल यन्त्र है। इस यन्त्र का संचालन जीवात्मा है। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मृत्यु होने पर शरीर ही विनष्ट होता है, आत्मा नष्ट नहीं होता।

---

१. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

—भ० गी०, २—११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जैसे आत्मा देह में, बाल्यकाल से जरा अवस्था तक रहता है, वैसे ही मरने के उपरान्त भी निःशरीर हो विद्यमान रहता है। एक देह छूटने पर इसको दूसरी देह प्राप्त हो जाती है।[१]

इसमें युक्ति यह है कि जो वस्तु सत् है वह असत् नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञानी सत् और असत् दोनों को प्राणी में देखते हैं।

एक प्राणी में दो प्रकार के पदार्थ हैं। प्राणी में अविनाशी पदार्थ पूर्ण शरीर का संचालक है और इस अविनाशी पदार्थ को कोई भी नष्ट करने में समर्थ नहीं।

नाश होनेवाला देह है और अविनाशी है जीवात्मा। आत्मा विकार-रहित है।

जो यह समझते हैं कि आत्मा नष्ट किया जा सकता है, अर्थात् इसकी हत्या की जा सकती है, और जो समझते हैं कि यह नष्ट हो सकता है, ये दोनों ही कुछ नहीं जानते। यह न तो मारा जा सकता है, न मरता है। यह आत्मा न पैदा होता है, और न कभी मरता है। यह न (भूत्वा) समाप्त होकर न (भूयः) फिर होनेवाला है। आत्मा अजन्मा है, नित्य (सदा रहनेवाला) है, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता।

अर्थात्—गीता का यह कथन है कि प्राणी में दो तत्त्व हैं, एक शरीर है और दूसरा शरीरी।

गीता के दूसरे अध्याय में जीवात्मा और शरीर का ही वर्णन किया गया है। हत्या करने से विनष्ट होनेवाला शरीर है। आत्मा जो प्राणी में वास्तविक पदार्थ है, वह नष्ट नहीं होता।

कृष्ण कहते हैं कि आत्मा को अविनाशी, सदा रहनेवाला, अव्यय (न घटनेवाला) जान। ऐसा जाननेवाला मनुष्य भला कैसे किसी की हत्या करता है, अथवा किसी को मारता है?

शरीर छोड़ना तो पुराने वस्त्रों को उतार फेंकने के समान है और जन्म लेना नये

---

१. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—भ० गी०, २—१३, १६, १७, १९, २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वस्त्र पहन लेने के समान है।

आत्मा न अस्त्र से कट सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है, न पानी से गलाया और न हवा से सुखाया जा सकता है। यह तो अच्छेद्य, अदाह्य, अलेष और अशेष्य हैं। यह आत्मा निःसन्देह नित्य (सर्वगतः) पूर्ण शरीर का संचालक, अचल और स्थिर है।

यह अव्यक्त, अचिन्त्य, अपरिणामी कहा जाता है। इस आत्मा को ऐसा जानकर तू (मरने-मारने का) शोक क्यों करता है?[१]

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह भी बताया कि न तो ऐसी बात है कि मैं कभी नहीं था, अथवा मैं, तू और ये सामने खड़े राजे-महाराजे कभी नहीं रहेंगे। अतः मरने-मारने का कुछ भी अर्थ नहीं है।[२]

यदि ऐसा है, तो यह (शरीर-आत्मा का संयोग) नित्य बनता और बिगड़ता रहता है। तब इसके मरने का शोक क्यों करते हो?

जो जन्म लेता है, वह निश्चय ही मरता है और जो मरता है वह जन्म भी लेता है। इसमें हमारा बस नहीं। अतः शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

सब प्राणी जन्म से पहले बिना शरीर के थे, मरने के उपरान्त वे पुनः बिना शरीर वाले हो जायेंगे। यह तो बीच काल में ही शरीरवाले देखे जाते हैं, फिर इसका शोक क्यों करते हो?[३]

---

१. वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥
वांसासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽय मुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

—भ० गी०, २—२१, २२, २३, २४, २५

२. न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

—भ० गी०, २—१२

३. अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

—भ० गी० २—२६, २७, २८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भगवान् कृष्ण का कहना था कि युद्ध का व्यवहार तब ही ठीक होगा जब यह धर्म की स्थापना के लिए किया जाए।

क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन का यह धर्म था कि वह धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करे। यह हम पहले बता आये हैं कि अर्जुन इस युद्ध में धर्म के पक्ष में था। अतः उसके लिए युद्ध में हत्या करना क्षम्य है। वास्तव में हत्या करना न पुण्य है और न पाप। यह एक कर्म है और इसका फल भी और कर्मों की भाँति होगा। यदि किसी धर्मयुक्त उद्देश्य के लिए हत्या की जाएगी तो इसका फल शुभ होगा और यदि इसके करने में उद्देश्य अधर्मयुक्त है, तो इसका फल अशुभ होगा।

कोई डाका डालता हुआ किसी मनुष्य की हत्या करता है, तब डाके के धर्म के साथ हत्या एक घोर कर्म बन जाती है। इसके विपरीत यदि डाकुओं से अपनी अथवा किसी के धन-सम्पद् की रक्षा करते हुए हत्या अथवा हत्याएँ हो जाती हैं, तो यह पुण्य का कार्य हो जाता है। इसका फल शुभ ही होगा।

युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। भगवान् ने इस स्थल (२—२३) पर भी अर्जुन को यही कहा है। अब प्रश्न यह है कि क्या क्षत्रियों के अतिरिक्त किसी अन्य के लिए यह कार्य करना धर्म नहीं है? हम ऐसा नहीं मानते। श्रीकृष्ण का यह अभिप्राय नहीं है। विचारणीय यह नहीं कि कौन युद्ध करे। जिसमें सामर्थ्य हो, वह युद्ध करे। प्रश्न यह है कि कौन-सा युद्ध धर्मयुक्त है और कौन-सा धर्मयुक्त नहीं है? इसका निर्णय कौन करेगा?

वर्तमान युग का उदाहरण लें। पाकिस्तान ने १९६५ में भारत पर आक्रमण किया और भारत ने इसके विरोध में अपनी सेनाएँ भेजीं। एक स्थान पर भारत पाकिस्तानी क्षेत्र में युद्ध करता हुआ आगे बढ़ गया। दोनों ओर से सहस्रों सैनिक हताहत हुए।

क्या पाकिस्तान का आक्रमण धर्मयुक्त था? इस प्रकार प्रश्न उपस्थित होता है कि भारत का प्रत्याक्रमण धर्मयुक्त था अथवा अधर्मयुक्त था? इसी के निर्णय पर ही पाकिस्तान की ओर से की जानेवाली हत्याएँ शुभ फलदायक होंगी अथवा भारत की ओर से की जानेवाली हत्याएँ शुभ फल के लानेवाली होंगी।

हम इसका निर्णय नहीं करना चाहते। यह निर्णय करना इस पुस्तक का विषय नहीं है। यहाँ हम सैद्धान्तिक प्रश्न पर ही विचार कर रहे हैं कि हत्या करने में धर्म-अधर्म का निर्णय हत्या अथवा हत्याओं की संख्या पर नहीं होगा, वरन् घातकों के उद्देश्य से होगा। ऐसी स्थिति में युद्ध आरम्भ करनेवाले का ही यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि युद्ध धर्म की स्थापना के लिए किया जा रहा है अथवा अधर्म की स्थापना के लिए। साधारण योद्धा, इस नीति के प्रश्न पर, न तो विचार करने की क्षमता रखता है और न ही उसका अधिकार है कि वह इस पर अपना मस्तिष्क खपाए। अतः जब एक बार युद्ध आरम्भ हुआ तो योद्धा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अधिक-से-अधिक शत्रुओं को मृत्यु के घाट उतारे। इसमें वह पुण्य का ही भागी होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परन्तु कभी विषम स्थिति भी उपस्थित हो जाती है; जैसी कि महाभारत युद्ध में हुई थी। भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा इत्यादि कौरव-पक्ष के वीर, विद्वान् और पुरखा व्यक्ति यह मान गये थे कि दुर्योधन का पक्ष अधर्मयुक्त है। जब कृष्ण शान्ति के लिए धृतराष्ट्र के सम्मुख उपस्थित हुए थे तो भीष्म, द्रोण, इत्यादि भी वहाँ उपस्थित थे। कृष्ण के वक्तव्य को सुनकर वे समझ गये थे कि दुर्योधन को पाण्डवों का राज्य वापस कर देना चाहिए। उन्होंने एकान्त में दुर्योधन को समझाया भी था। जब दुर्योधन नहीं माना तो वे मौन रहे। अन्त में वे दुर्योधन की ओर से लड़े और उन्होंने युद्ध में सहस्रों कदाचित् लाखों विपक्षियों की हत्या की। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भीष्मादि ने उन हत्याओं को करके पुण्य किया था अथवा पाप?

इसके विपरीत इतिहास में एक अन्य उदाहरण मिलता है। रावण और राम का युद्ध होने वाला था। वह युद्ध टल सकता था, यदि रावण सीता को वापस कर देता। विभीषण ने रावण को समझाया कि पराई स्त्री को बलात् अपने घर रखना अधर्म है। रावण ऐसा नहीं मानता था। इसका परिणाम हुआ कि विभीषण रावण का घर और पक्ष छोड़कर राम के पास चला गया।

महर्षि वाल्मीकि का मत है कि विभीषण ने धर्म का पालन किया; यद्यपि राम ने विभीषण को अपनी ओर से लड़ने के लिए नहीं कहा था, फिर भी युद्ध का पुण्य-फल उसको प्राप्त हुआ।

हम गीता के प्रवचन से यह समझते हैं कि विभीषण और भीष्मादि का व्यवहार परस्पर विरोधी है। जहाँ विभीषण न युद्ध करता हुआ और एक भी योद्धा की हत्या न करता हुआ पुण्य का भागी हुआ, वहाँ भीष्म इत्यादि युद्ध में स्वयं मरकर भी शुभ फल पानेवाले नहीं माने जा सकते।

भीष्मादि जानते थे कि दुर्योधन का व्यवहार धर्मानुसार नहीं है। वे साधारण वेतनधारी सैनिक नहीं थे। परिवार के पुरखा थे और युद्ध हो अथवा न हो, इस पर प्रभावशाली सम्मति दे सकते थे। इस अवस्था में उनका दुर्योधन की ओर से युद्ध में सम्मिलित होना जान-बूझकर अधर्म का पक्ष लेना था। उन्होंने वेतनधारी साधारण सैनिक का व्यवहार अपनाया, अर्थात् पाप होता देख कबूतर की भाँति आँखें मूँद लीं। ऐसे योद्धाओं के लिए कृष्ण ने नहीं कहा कि (स्वर्गद्वारपावृतम्) स्वर्ग का द्वार खुल गया है।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि वह शस्त्र छोड़कर शस्त्रधारी शत्रुओं से मारे जाने में अपना कल्याण समझता है। इसका भी भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि इतना सब कुछ कहने पर भी यदि वह धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो वह स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप का भागी होगा। पाप का भागी कैसे होगा? यह पहले वर्णन कर दिया गया है। धर्म का पक्ष न लेना और यह जानकर भी कि धर्म किधर है, उसका समर्थन न करना पाप ही है।

पाप-पुण्य के अतिरिक्त भी, क्षत्रिय होने से सोच-विचारकर, युद्ध में आ खड़े हो जाओ; युद्ध से उपराम होओगे तो यह तुम्हारे लिए अपकीर्ति का कारण भी हो जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लोग यही समझेंगे कि अर्जुन युद्ध से भयभीत होकर युद्धभूमि को छोड़ गया है। यह अपकीर्ति चिरकाल तक रहेगी और अपकीर्ति मरने से भी अधिक बुरी बात है।

जिनको न मारने के लिए तू युद्ध से उपराम हो रहा है, जिनको माननीय मानकर, हत्या करने से बच रहा है, वे ही तुम्हें भय के हेतु युद्ध से उपराम हुआ मान तुम्हारी निन्दा करेंगे। वे तुम्हें ऐसे कटु वचन कहेंगे जो न कहने योग्य हैं। वे कहेंगे कि तुम भीरु हो और सामर्थ्यहीन हो। भला इससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी ?

अतः हे अर्जुन ! देख लो, यदि इस युद्ध में मर गये तो स्वर्ग को प्राप्त होगे क्योंकि तुम्हारा पक्ष धर्म का है। धर्म के लिए लड़ते हुए मरना महान् पुण्य कर्म है। और यदि तुम इस युद्ध में जीत गये तो यश, कीर्ति और राज्य का सुख भोग करोगे। तुम्हें युद्ध करने का पाप नहीं लगेगा। तुम धर्म की स्थापना के लिए युद्ध कर रहे हो।[१]

एक बात भगवान् कृष्ण ने और कही। वह यह थी कि सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर युद्ध करने में लग जाओ। नहीं तो पाप को प्राप्त होओगे।[२]

इस अध्याय में हमने हत्या के विषय में कृष्ण की विवेचना को स्पष्ट करने का यत्न किया है।

युद्ध में हत्याएँ होती हैं। दोनों पक्ष के लोग मरते हैं। इन हत्याओं से बचने का उपाय क्या है ? यह प्रश्न सदा शान्तिप्रिय लोगों के सामने रहता है। कृष्ण का कथन अर्जुन के मन में यह अंकित करने का प्रयास है कि हत्या से भी अधिक बुरी बात धर्म की हानि है। धर्म की हानि से मनुष्य का लोक-परलोक, दोनों में पतन होता है। अतः धर्म की रक्षा के लिए हत्याएँ भी करनी पड़ जायें तो हानि नहीं होगी और इसमें पाप नहीं

---

१. यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥भ० गी०, २—३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७

२. सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

—भ० गी०, २—३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लगेगा।

जब युद्ध की तैयारी हो रही थी, तब भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। यह कहा गया था कि दुर्योधन को अपने पाप-कर्मों में स्वयं ही जलने दिया जाय; परन्तु कृष्ण का मत उस समय भी यही था कि चरित्रहीन व्यक्ति की हत्या कर देनी ही उचित है। कृष्ण ने कहा था कि उच्च कुल का मनुष्य यदि अधर्म पर आरूढ़ हो जाये तो उसको समझाने से अथवा उसकी निन्दा से कुछ लाभ नहीं होता। वह अपने कुल एवं पदवी के गर्व में इन दोनों उपायों से ठीक मार्ग पर नहीं आता। ऐसे कुलीन की तो निन्दा के स्थान पर हत्या कर देनी ही उचित है।[१]

यह भी कहा है कि दुष्ट चरित्र के पुरुषों को जो कोई भी मार डाले, ठीक है। यदि चरित्रवान् श्रेष्ठ पुरुष उसकी हत्या करे तो बहुत ठीक है।[२]

कृष्ण का मत वह नहीं था, जो गांधीजी भारत में प्रतिपादित करते रहे हैं। गांधीजी का यह कहना था कि वे शत्रु से भी प्रेम करते हैं। कृष्ण का मत तो यह था कि संधि के लिए सब प्रकार के प्रयत्न किये जायें, फिर भी ऐसा समय आ सकता है कि युद्ध करना अनिवार्य हो जाए।[३] ऐसी स्थिति में युद्ध होना ही चाहिए।

गांधीजी का कहना था कि यदि कोई दुर्बलात्मा अहिंसा व्रत पर आरूढ़ न रह सकता हो और वह अपने को बचाने के लिए युद्ध करना ही चाहे तो वह कर सकता है। आप अपने प्रसिद्ध लेख 'The Doctrine of the Sword' में लिखते हैं—

"जब भीरुता और हिंसा में एक को चुनना हो तो हिंसा अच्छी है। ऐसी अवस्था में मैं हिंसा के लिए राय दूँगा।"[४] इसी लेख में आप लिखते हैं—"अहिंसा मानव धर्म है और हिंसा पशुपन है।"

कृष्ण ऐसा कुछ नहीं मानते। उनका मत हमने बताया है कि हत्या करनी दुर्बलता अथवा शक्ति पर निर्भर नहीं, वरन् यह प्रतिपक्ष के हठ और दुराग्रह पर निर्भर करती है। जहाँ गांधीजी हिंसा की स्वीकृति उसको देते हैं जो आत्मबल नहीं रखता, वहाँ कृष्ण हिंसा

---

१. कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका॥

—म० भा०, उद्यो० ७३—२४

२. तथाशीलसमाचारे राजन् मा प्रणयं कृथाः।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत॥

—म० भा०, उद्यो० ७३—१४

३. ते चेदभिनिवेक्ष्यन्ते नाभ्युपैष्यन्ति मे वचः।
कुरवो यूद्धमेवात्र घोरं कर्म भविष्यति॥

—महा० भा०, उद्यो० ७७—१७

2 I do believe that when there is only a choice between cowardice and violence, I would advise violence. Non-violence is the law of our species as violence is law of the brutes.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उस व्यक्ति के विरुद्ध प्रयोग करने की सम्मति देते हैं, जो समझाने से नहीं समझता।

दोनों बातों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

कृष्ण ने अपने विचारों की पुष्टि सांख्यदर्शन के आधार पर की है। सांख्यदर्शन में महर्षि कपिल ने कहा है—प्राणी में शरीर जड़ है। इसके बने रहने अथवा टूट जाने में कोई पुण्य अथवा पाप की बात नहीं है। यह तो क्षर पदार्थ है। यह टूटता ही है। मुख्य बात है अविनाशी आत्मा। वह नष्ट नहीं होता। उसकी हत्या नहीं की जा सकती।

कृष्ण का कहना है कि हत्या वास्तव में आत्मा से उसका शरीर छीन लेना है। जब कोई आत्मा समझाने पर अथवा दंड के भय से डरता नहीं तो उसको उन साधनों (करणों) से अर्थात् शरीर से वंचित कर देना चाहिए। यह इस प्रकार मानना चाहिए जैसे बार-बार किसी चोरी करनेवाले से वे हथियार छीन लिये जायें जिनसे वह सेंध लगाता है।

भगवान् कृष्ण ने वही बात कही है जो वेदों में लिखी है। वेद कहते हैं कि दुष्ट पुरुष की भलीभाँति परीक्षा कर लो। जब यह निश्चय हो जाए कि वह दुर्जन है, तब उसे खूब संतप्त करो। परद्रव्यापहारी तथा निर्दयी शत्रु संतप्त हों। उनके अपराध का ठीक विवेचन होने पर उनको दंड देने का विधान हो। सब भूमण्डल और अन्तरिक्ष भी हमारे वश में हों।[१]

और भी लिखा है—

हे, वीर पुरुषो ! आप लोगों के आयुध (शस्त्रास्त्र) सुदृढ़ हों, शत्रुओं को भगा देने वाले हों। आपकी बलवती सेना अति व्यवहार कुशल हो। वह धोखा देनेवाले शत्रुओं को समस्त दिशाओं में प्रबल न होने दे।[२]

## कुलक्षय और कुलधर्म

अर्जुन की समस्या केवल अपने सम्बन्धियों की हत्या की ही नहीं थी, बल्कि वह इसके साथ ही कुल के सनातन धर्म के नष्ट हो जाने की आशंका से भी दुखी था। वह देख रहा था कि कुल के सब सदस्य लड़ने-मरने के लिए युद्धभूमि में आये हैं। वह यह भी समझ रहा था कि उनमें से किसी एक के भी उस युद्ध में बच जाने की आशा नहीं है। पूर्ण परिवार ही नाश को प्राप्त हो रहा था। इसी कारण उसने कहा था—'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः' (१—४०)। उसने यह कहा कि कुलधर्म के नष्ट हो जाने

१. प्रत्युष्ट ँ् रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्त ँ् रक्षो।
निष्टप्ता अरातयः उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥

—यजु०, १—७

२. स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळु, उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥

—ऋ०, १—३९-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से सम्पूर्ण कुल पाप से दब जायेगा।

यह आशंका अति गम्भीर थी। किसी व्यक्ति के मर जाने अथवा अपाहिज हो जाने की अपेक्षा यह आशंका कि कुलधर्म ही नष्ट हो जायेगा, अधिक चिन्ता का विषय है।

कुछ लोग तो आज भी भगवान् कृष्ण पर यह आरोप लगाते हैं कि मुख्य रूप में वह ही महाभारत युद्ध कराने वाले थे। यदि श्रीकृष्ण पाण्डवों को और विशेष रूप में अर्जुन को उत्साहित न करते तो यह युद्ध नहीं होता और इस युद्ध के उपरान्त देश और जाति का जो पतन हुआ है, वह न होता।

यह कहा जाता है कि युद्ध में क्षत्रिय कुल की असीम क्षति होने से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न हो गई और वह अशुद्ध आचार-व्यवहार तथा संस्कृति को जन्म देने वाली हो गई। यह ठीक है, परन्तु इस समस्या को उस प्रकार सुलझाया नहीं गया, जिस प्रकार परशुराम द्वारा क्षत्रिय वंश के नष्ट कर देने पर ब्राह्मण वर्ग ने सुलझाया था। उस समय क्षत्रिय विधवा पत्नियों से ब्राह्मणों ने सन्तान उत्पन्न कर वर्णसंकरों की उत्पत्ति नहीं होने दी थी। महाभारत युद्ध के समय ब्राह्मण वर्ग इस योग्य नहीं रहा था कि वह क्षत्रिय वंश को प्रेरणा दे सकता। तत्कालीन विद्वान् ऋषि-महर्षि इस प्रकार का सुझाव भी नहीं दे सके। ब्राह्मण वर्ग में कुछ ऐसे लोग उत्पन्न हो गए थे जो धन के लोभ में भला कार्य करने से भी विरत रहे। महाराज परीक्षित की जीवनरक्षा के लिए जाने वाला ब्राह्मण धन के लोभ से वापस हो गया। यह उस काल के ब्राह्मणों के चरित्र की दशा थी।

संक्षेप में, युद्ध से नैतिक पतन नहीं हुआ। नैतिक पतन तो पहले ही हो चुका था। युद्ध के उपरान्त होने वाले नैतिक पतन को रोका तो गया परन्तु पतन हो चुका था, उस को लौटाया नहीं जा सका। इसमें मुख्य कारण ब्राह्मण वर्ग का पतन था।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल से बना हुआ, लोक और परलोक सम्बन्धी विचारों में सन्तुलन, टूट चुका था। उस समय मोक्ष-प्राप्ति के प्रयास को इस लोक के नियत कर्मों से श्रेष्ठ माना जाने लगा था।

यह विचार महाभारत काल में विद्यमान था कि वर्णाश्रम कर्त्तव्यों को छोड़कर मोक्ष-प्राप्ति अपेक्षित है। इसी कारण गीता में भगवान् कृष्ण को इसका खण्डन करना पड़ा था।

अर्जुन का युद्धभूमि पर पहुँचकर युद्ध करने से विरक्तता प्रकट करना, यही सिद्ध करता है कि उस समय सांसारिक धर्म-युक्त कर्त्तव्यों को भी छोड़ने का विचार विद्यमान था और यह विचार परलोक सुधारने के निमित्त ही था।

कृष्ण ने इस बात का खण्डन किया। स्थान-स्थान पर बताया कि अपने-अपने धर्म का पालन करना आवश्यक है। उसके बिना मोक्ष भी प्राप्त नहीं होगा। कर्म छोड़ा नहीं जा सकता। निष्कर्मता कर्म न करने को नहीं कहते। निष्काम मन से कर्म करते हुए ही मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



गीता में बार-बार इस बात पर बल देना कि **'सर्व कर्म-फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षण:'** यह सिद्ध करता है कि उस समय भी यह भावना बहुत बल पकड़ चुकी थी कि कर्म त्यागकर संन्यास लेना जीवन का उद्देश्य है।

यह भावना शिक्षकों, ग्रन्थकारों द्वारा फैलाई गई थी। अतः जहाँ अधर्माचरण करने का हठ करनेवाले को युद्ध में मार डाला गया, वहाँ इस मिथ्या साहित्य की रचना अथवा साहित्य की मिथ्या विवेचना करनेवालों को बदला नहीं जा सका।

महाभारत काल में अधर्म की व्यापक प्रवृत्ति का कारण यही बात थी और इस प्रवृत्ति ने भारत के उत्तर काल के युग में भी वृद्धि ही की है। जब-जब धर्म का ऐसा विकृत स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है, तब-तब समाज का प्रायः श्रेष्ठ वर्ग संसार से विरक्त हो जाता है। यही वर्ग दूसरे वर्ग को सन्मार्ग दिखाने में समर्थ होता है। परन्तु जनसाधारण इस वर्ग के श्रेष्ठ प्रभाव से वंचित होते जाते हैं तो घोर पतन की ओर चलने लगते हैं।

महाभारत युद्ध के उपरान्त राष्ट्र और जाति निर्माण के लिए श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं की जा सकी। साथ ही जो साहित्य, उपनिषदादि ग्रन्थ, उपस्थित थे, उनके मिथ्या अर्थ लगाकर लोक को छोड़ परलोक के लिए यत्न करने की प्रेरणा दी जाने लगी थी।

महाभारत में, महर्षि व्यास ने और भगवान् कृष्ण ने गीता में यह बात स्पष्ट कहनी चाही है कि इस संसार का त्याग न सम्भव है, न उपयुक्त। इसे सुधारने से ही परलोक के सुधरने की सम्भावना हो सकती है। तदपि देश में ऐसे विद्वान् उत्पन्न होते ही रहे हैं, जो लोक को हेय और त्याज्य घोषित करते थे।

गीता का पूर्ण प्रवचन इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही है कि कुलधर्म युद्ध से नष्ट नहीं होता। युद्ध से तो कुल में प्रचलित अधर्म का ही नाश होता है। फिर भी विरोधी मिथ्या साहित्य का निर्माण अथवा साहित्य की मिथ्या विवेचना नहीं रुक सकी। उसके लिए युद्ध के अतिरिक्त भी प्रयास किया जाना आवश्यक था।

यहाँ कुल और कुलधर्म से देश तथा जाति एवं राष्ट्रीय धर्म का ही अभिप्राय है। अतः इस अध्याय में जहाँ-जहाँ कुलधर्म का उल्लेख आया है वहाँ-वहाँ देश और राष्ट्रीय धर्म का अभिप्राय समझ लेना चाहिए।

इस अध्याय में हमने यह बताने का यत्न किया है कि अर्जुन का भ्रम कि युद्ध करने से कुलधर्म नष्ट होगा और कुल पाप से दब जाएगा, कृष्ण ने नहीं माना। उन्होंने बार-बार यह बताने का यत्न किया है कि संसार में धर्म का पालन होना चाहिए। नियत कर्म नहीं छोड़ने चाहिए। अपने वर्ण के नियत कर्म करते हुए भी मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त हो सकता है और नियत कर्म को छोड़ देने से बहुत भय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

महाभारत के युद्धकाल से लेकर बुद्ध के काल तक भारत अपना अस्तित्व रख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सका परन्तु इस अवधि में श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं हो सकी, न ही प्राचीन साहित्य की सत्य विवेचना हो सकी और समाज के वे अंग, जो साधारण योग्यता के थे, वर्णधर्म को छोड़नेवाले बन गये।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के कुलधर्म और पाप में कुल के दब जाने की बात (१—३८, ३९, ४०, ४१) सुनकर यह उचित समझा था कि धर्म की व्याख्या कर दी जाय। धर्म का कर्म से सम्बन्ध है। धर्म वह है जो धारण किया जाता है। अतः धर्म उस कर्म को कहते हैं जो कल्याण का सूचक है।

इसका यह अर्थ भी निकलता है कि कर्म अकल्याण का भी सूचक हो सकता है। उसे विकर्म कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय परिच्छेद

# कर्म-योग

कृष्ण ने मृत्यु और हत्या की विवेचना सांख्य की दृष्टि से की थी। अर्थात् कृष्ण ने सांख्य के विचारानुसार यह बताया था कि शरीर और आत्मा का वियोग धर्म की स्थापना के निमित्त करना पड़े तो चिन्ता की बात नहीं है।

समस्या पर विचार करने का एक दूसरा भी ढंग है। वह ढंग है योग का। अतः श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सांख्य की दृष्टि से तो बता दिया की हत्या किसी की होती नहीं। अब योग की दृष्टि से भी तुमको बताते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर तू कर्म-बन्धन को पार कर जायेगा।[1] परन्तु इससे कर्म का नाश नहीं होता।

कर्म के अभिक्रम का अभिप्राय यह है कि कर्म से फल तथा फल भोगते हुए कर्म और फिर फल की शृंखला टूटती नहीं। इसके होते हुए भी और कर्म करते हुए भी दोष नहीं लगता। यदि इस (कर्म) योग के किंचित् मात्र का भी सेवन किया जाय तो इससे महान् भय (पाप) से उद्धार हो सकता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सांख्य एक दर्शन है। इसके प्रणेता महर्षि कपिल थे। भगवान् कृष्ण के मन में कपिल मुनि के लिए बहुत आदर था। वे लिखते हैं कि सिद्धों में कपिल परमात्मा की विशेष विभूति हैं। **'सिद्धानां कपिलो मुनिः।'**

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो कुछ पहले वर्णन किया गया है वह सांख्य की दृष्टि से है। इसी विषय पर एक दूसरी दृष्टि से प्रकाश डाला जा सकता है। वह दृष्टि है योग की।

समस्या है कि धर्मयुद्ध में प्राणियों की हत्या पुण्य है अथवा पाप? कृष्ण ने अभी सांख्य दृष्टि से यह सिद्ध किया है कि हत्या स्वतः न पाप है, न पुण्य। यह पुण्य हो जाती है जब धर्म की स्थापना के लिए की जाये और पाप हो जाती है जब अधर्म की स्थापना

---

१. ऐषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

—भ० गी०, २—३९, ४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के लिए की जाये।

अब आगे इसी समस्या का सुझाव योग की दृष्टि से किया जायेगा। योग का अर्थ है कर्म-योग। इसे भगवान् ने गीता में ही लिख दिया है।[१]

योग में स्थित होकर सिद्धि-असिद्धि का विचार छोड़कर कर्म कर, क्योंकि द्वन्द्वों में सम बुद्धि से रहना ही योग है।

इसी स्थान पर (२—५० में) लिखा है '**योगः कर्मसु कौशलम्**', कुशलतापूर्वक कर्म करने को योग कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि फल की इच्छा छोड़कर किया हुआ कर्म ही योग कहलाता है। कर्म से मिलनेवाले फल में समत्व बुद्धि रखने को कर्म-योग कहा जाता है।

इसको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—मनीषी लोग कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फल को बुद्धियुक्त होकर छोड़ देते हैं। ऐसा करने से वे जन्म-मरण के बन्धन से निर्दोष होकर छूट जाते हैं।[२]

इस समत्व-बुद्धि और निष्काम-कर्म को कर्म-योग कहते हैं। इसी कर्म-योग से युद्ध भी किया जा सकता है।

इस प्रकार कर्म करनेवाले के मन में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कर्म (युद्ध) का उद्देश्य धर्मयुक्त हो। परन्तु यह किस प्रकार निश्चय किया जा सकता है कि कर्म धर्म की स्थापना के लिए है, अधर्म के प्रसार के लिए नहीं?

फल की इच्छा छोड़कर किया गया कर्म सदैव क्षम्य नहीं हो सकता। न ही यह सदा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करानेवाला होगा। उदाहरण के रूप में एक मोटर गाड़ी चलानेवाला निरुद्देश्य, सड़क पर, जहाँ बच्चे खेल रहे हैं, वेग से गाड़ी चलाता हुआ चला जाता है। वह हॉर्न भी नहीं बजाता। उसको किसी के कुचले जा सकने की कोई चिन्ता नहीं है। ऐसा मनुष्य दो-चार की हत्या अवश्य कर देता है। तो क्या वह भी पाप से मुक्त होगा? भगवान् कृष्ण के मतानुसार नहीं। ऊपर दिये गये उद्धरण (२—५१) में 'बुद्धियुक्त होकर' ऐसा लिखा है, अर्थात् उसका कर्म विचार से युक्त तो होना ही चाहिए। निरुद्देश्य का अर्थ निष्काम कर्म नहीं। कर्म तो उद्देश्य से युक्त ही होगा और उद्देश्य का निश्चय बुद्धि से किया जायेगा। इसलिए लिखा है बुद्धियुक्त कर्म से उत्पन्न फल को त्यागकर ही कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है।

कर्म-बन्धन का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। जब मनुष्य किसी कर्म को करता है

---

१. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—भ० गी०, २—४८

२. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

—भ० गी०, २—५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तो उसे उसका फल अवश्य मिलता है। फल भोगते समय पुनः कर्म किया जाता है और फिर उसका फल मिलता है। इस प्रकार कर्म तथा फल की एक शृंखला बन जाती है और इससे मुक्त होना कठिन हो जाता है।

उदाहरण के रूप में एक मनुष्य अति श्रेष्ठ कर्म करने पर धनवान बन जाता है। यह उसके त्याग, तपस्या और श्रेष्ठ कर्मों का फल है। वह धनवान बन एक सेना रखकर पास-पड़ोस के लोगों को लूटना शुरू कर देता है। उसका अपने अर्जित धन से सेना रखना उसके श्रेष्ठ कर्मों का फल ही है। वह उन श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप ही एक प्रबल सेना रख पाया है। अतः सेना से जो कुछ भोग वह प्राप्त करता है, वह उसके पूर्व के श्रेष्ठ कर्मों का फल है। परन्तु इससे वह दूसरों को लूटने-पीटने लगा है। वह नवीन कर्म करने लगा है। इसका बुरा फल मिलेगा ही। वह अपने धन से स्कूल-कॉलेज खोल सकता है। यह भी नवीन कर्म है और इसका शुभ फल उसको मिलेगा। इस प्रकार पूर्व कर्म का फल भोगता हुआ मनुष्य नये कर्म करने लगता है और उन नवीन कर्मों का शुभ-अशुभ फल मिलता ही है। इसको कर्म-बन्धन कहते हैं। इसी को प्रकट करने के लिए गीता (२—४०) में 'इह अभिक्रम' लिखा है। इस अभिक्रम अर्थात् कर्म-बन्धनों से मुक्त होने का उपाय कर्म-योग में बताया गया है।

कर्म-योग में बुद्धि का विशेष काम है। कर्म बुद्धि-युक्त होना चाहिए। इसलिए भगवान् कृष्ण ने सबसे पहले बुद्धि के विषय में ही समझाने का यत्न किया है।

## स्थित-प्रज्ञ

यह हम पहले बता चुके हैं कि कर्म-योग में कर्म का उद्देश्य धर्मयुक्त होना चाहिए। तब योगस्थ होकर मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकता है। यदि यह भलीभाँति विचारकर निश्चय कर लिया जाये कि युद्ध धर्म की स्थापना के लिए है, तब युद्ध पाप नहीं होगा। यह पुण्य हो जायगा और तदनन्तर युद्ध करनेवाला उसमें से अपने लिए किसी लाभ-हानि की आकांक्षा न करे तो वह मोक्ष पद का भागी बन जाता है।

परन्तु यह निश्चय करना बहुत कठिन है कि युद्ध धर्मयुद्ध है अथवा नहीं। उदाहरणार्थ सन् १९६५ में पाकिस्तान और भारत में युद्ध छिड़ गया। पाकिस्तान और भारत इसे धर्मयुद्ध कहते थे। ऐसे मतभेद के विषय में कैसे निर्णय किया जाय कि किसका पक्ष धर्म का पक्ष है? बिना इस बात का निर्णय किये कि कौन पक्ष धर्म के अनुसार व्यवहार कर रहा है, युद्ध में भाग लेना पाप अथवा पुण्यमय नहीं माना जा सकता।

युद्ध, किसी के अपने देश की वृद्धि के लिए होने पर अथवा किसी समुदाय की वृद्धि के लिए होने पर, धर्मयुक्त नहीं माना जा सकता। युद्ध जैसी भयंकर बात के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सैद्धान्तिक धर्म की कसौटी पर उसके उद्देश्यों को कसना होगा। यह कसौटी पर कसना ही बुद्धियुक्त होने की बात है।

अतएव वे लोग जो किसी कर्म अथवा युद्ध के धर्मयुक्त होने के विषय में निर्णय करें, वे स्थितप्रज्ञ होने चाहिएँ। स्थितप्रज्ञ की विवेचना भगवद्‌गीता में की गई है।

भगवान् कहते हैं कि मुख्य रूप में बुद्धियाँ दो प्रकार की हैं। एक व्यवसायात्मिका और दूसरी अव्यवसायात्मिका।[1]

जो (अव्यवसायिनाम्) व्यवसाय (ज्ञान) से रहित है अर्थात् अज्ञानयुक्त है, वह बुद्धि बहुत दिशाओं में विभक्त रहती है।

बुद्धि बहुत दिशाओं में विभक्त कैसे होती है? इसका भी भगवान् कृष्ण ने बहुत सुन्दरता से वर्णन किया है। भगवान् ने कहा है कि कामीजन (वेदवादरताः) ज्ञानवाद अर्थात् इस संसार की बातों को जाननेवालों के कथनानुसार, जो बहुत सुन्दर वाणी में यह कहते हैं कि इस (संसार) के अतिरिक्त कुछ नहीं, इस जन्म के कर्म का फल ही मिलता है और भोग एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए ही अनेक क्रियाएँ की जाती हैं, ऐसे लोग भोग-ऐश्वर्य में आसक्त हो जाते हैं। वे कामी जो इन (ऐश्वर्य-भोग) को ही स्वर्ग से बड़ा मानने लगते हैं, वे स्थिर बुद्धि नहीं होते, वे इधर-उधर और अनेक दिशाओं में भागते दिखाई देते हैं।[2]

इसका भावार्थ है—अनिश्चित बुद्धि उनकी होती है जो इस शरीर और शरीर के भोगों को ही सबकुछ मानते हैं और इस जन्म से मृत्युपर्यन्त ही जीवन है, ऐसा विश्वास रखते हैं।

ऐसे लोगों की बुद्धि अनिश्चित क्यों हो जाती है और उसका क्या परिणाम होता है? यह विचारणीय है। प्रकृति का व्यक्त रूप अनेक प्रकार का है। इस अनेक रूपी प्रकृति की शोभा देखने और उसका भोग करने में लीन मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता। संसार के अनेक रूप और रस समाप्त नहीं होते, परन्तु जीवन समाप्त हो जाता है।

प्रकृति के ये रूप और रस इन्द्रियों के विषय हैं। इस कारण कुछ ही समय में

---

१. व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

—भ० गी०, २—४१

२. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

—भ० गी०, २—४२, ४३, ४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रसहीन लगने लगते हैं। इन्द्रियाँ विषयभोग से थक जाती हैं परन्तु मन की लालसा बनी रहती है। अतः मन एक विषय से उचाट हो दूसरे विषय में लगने की लालसा करने लगता है। यही कारण है कि विषयासक्त की बुद्धि भिन्न-भिन्न दिशाओं में भागती फिरती है।

जो लोग प्राणी का जीवन वर्तमान जन्म से मृत्युपर्यन्त ही मानते हैं अर्थात् वे प्राणी में कोई ऐसी सत्ता नहीं मानते जो प्राणी के मरने के उपरान्त रहती है, वे आत्मा के अस्तित्व को नहीं जानते। ऐसे लोग चेतना को भी शरीर की एक स्थिति ही मानते हैं। ये लोग इस छोटे-से जीवन में अधिक-से-अधिक भोग प्राप्त करने का यत्न करते हैं। कुछ भोग ऐसे भी हैं जो यौवन में ही प्राप्त हो सकते हैं और यह यौवन जीवन से भी कम अवधिवाला है। अतः यही लोग इस बहुरूपी प्रकृति के भोगों को प्राप्त करने के लिए भटकते फिरते हैं। उसके लिए वे अनेक उपाय करते हैं, पर उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। यह भी कि इन भोगों को प्राप्त करने की सामर्थ्य सब लोगों में एक समान नहीं होती। अनेक जन ऐसे भी हैं जो भोगों को प्राप्त करने के अनेक उपाय करते हैं लेकिन फिर भी प्राप्त नहीं कर सकते। इन उपायों के प्रयोग में वे धर्म और अधर्म की सीमा का भी उल्लंघन करते रहते हैं।

फिर भी वे सब भोग प्राप्त नहीं कर पाते। भोग अनन्त हैं और असीम हैं, परन्तु मनुष्य जीवन और उसका सामर्थ्य एक सीमा में बँधा है।

ऐसे मनुष्यों की बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। सांसारिक विषयों में भी यह स्थिर नहीं होती। विषयों की संख्या और मात्रा सीमित हो तो बुद्धि एक-दो पर टिकी रहे। वे अनेक हैं, उनके भोग असीम हैं। परन्तु समय और सामर्थ्य सीमित हैं। परिणाम यह होता है कि बुद्धि अनन्त प्रकार की और बहुत दिशाओं (बहुशाखा ह्यनन्ताश्च) में जाने वाली हो जाती है।

जो बुद्धि स्थिर नहीं अर्थात् जो किसी एक विषय पर गम्भीरता से विचार नहीं कर सकती, वह किसी भी सत्य परिणाम पर पहुँच नहीं सकती। यह बुद्धि अस्थिर है और वह किसी भी कार्य का पूर्वापर न जानने से उसके उद्देश्य और परिणाम तक नहीं पहुँच पाती।

श्लोक २—४२ में एक शब्द 'वेदवादरताः' है। इस शब्द का अर्थ हमने किया —'सांसारिक ज्ञान में रत लोग।' कुछ लोग इसका अर्थ करते हैं 'वेदों (ऋक्, यजु, साम और अथर्व) में प्रतिपादित मत में लीन पुरुष।' परन्तु यहाँ वेद के अर्थ ऋक्, यजु, सामादि वेद नहीं। यहाँ 'वेदवाद' का अभिप्राय है—वे सांसारिक ज्ञान पर मुग्ध विद्वान् जो इस संसार के अतिरिक्त अन्य किसी लोक को स्वीकार नहीं करते और जो जीवन तत्त्व को मरण-काल में समाप्त हो जानेवाला मानते हैं। ये विद्वान् उसी श्रेणी के हैं जैसे वर्तमान युग में साइंसदान हैं; भारत में ऐसे साइंसदानों ने तो अन्धेरगर्दी मचा रखी है। ये लोग येन-केन-प्रकारेण वर्तमान जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाने में लगे हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अतः श्लोक २—४२, ४३ तथा ४४ का अर्थ यह बनता है—

ज्ञान (सांसारिक) में रत कामी पुरुष सुन्दर वाणी में यह कहते हैं कि (यह जीवन) अनेक क्रियाओं से युक्त, स्वर्ग से भी अधिक, इस जन्म में ही फल देनेवाला है। ऐसे भोग-ऐश्वर्य में लीन बुद्धिविहीन की बुद्धि स्थिर नहीं होती।

**'यामिमां पुष्पितां वाचं'** का अभिप्राय है कि भोगैश्वर्य का सुन्दर भाषा में वर्णन करनेवाले। वर्तमान युग की परिभाषा में ये विज्ञापन विशेषज्ञ कहे जा सकते हैं। बीड़ी-सिगरेट, वस्त्र-भोजन, मिठाई, घी, दूध, अभिप्राय यह कि प्रत्येक प्रकार के पदार्थ के प्रचार के लिए सुन्दर, स्वस्थ, अपने सुन्दर अंगों का प्रदर्शन करती हुई स्त्री को दिखाना गीता के इस अभिप्राय को भलीभाँति स्पष्ट करता है। ये लोग जनसाधारण को भोगैश्वर्य की ओर आकर्षित कर उनकी (अपहृतचेतसाम्) बुद्धि मलिन करनेवाले हैं।

ये सांसारिक पदार्थ कैसे बुद्धि को अस्थिर करते हैं? इस विषय में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। उसके व्यक्त रूपों में तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में रहते हैं। जब इनके अधीन बुद्धि विचार करती है तो वह इन गुणों से प्रभावित हो जाती है।

अतः इन गुणों के प्रभाव से बचने के लिए चित्त को द्वन्द्वों, सुख-दुःखादि परस्पर विपरीत भावों से दूर करके, आत्म-परायण होकर नित्य स्थित रहनेवाले पदार्थों में लगाना चाहिए।[१]

सांसारिक ज्ञान, सब-के-सब त्रिगुणात्मक विषयों से सम्बन्धित हैं। अतः इन त्रिगुणों से अतीत होने के लिए (निर्द्वन्द्व) सुख-दुःख, हर्ष-शोकादि परस्पर विरोधी भावों को छोड़कर नित्य सत्त्व पदार्थों में चित्त को लगावे। निर्योग क्षेम अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति के लिए इच्छा न करे, न ही प्राप्त को समेट रखने की लालसा करे और आत्मवान् अर्थात् आत्म-परायण होकर रहे। इससे (निस्त्रैगुण्यः) तीनों गुणों के प्रभाव से पृथक् हो जायेगा।

जब ऐसा हो जायेगा और आत्म-परायण हो जायेगा, तब तू ऐसा अनुभव करेगा कि तू ज्ञान-सागर के तट पर पहुँच गया है और तब तू विद्वानों के सांसारिक ज्ञान को एक छोटा-सा ताल मात्र मानने लगेगा।

कई टीकाकार निस्त्रैगुण्यः का अर्थ यह लेते हैं कि संसार को ही छोड़ दिया जाये और निष्क्रिय होकर बैठा जाये।

---

१. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

—भ० गी०, २—४५, ४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परन्तु गीता का 'निस्त्रैगुण्यः' का यह अभिप्राय नहीं है। भगवान् कृष्ण कर्म छोड़ने की बात नहीं कहते। उन्होंने तो उक्त निस्त्रैगुण्यः का प्रवचन करते ही यह कह दिया कि कर्म करना मनुष्य के अधिकार की बात है। फल प्राप्त करना उसके अधिकार से बाहर की बात है। अतः कर्मफल की इच्छा मत कर, परन्तु कर्म करता जा।[१] कर्म करना ही पड़ेगा, अतः योगस्थ होकर कर्म कर। योग का अर्थ है सिद्धि-असिद्धि में समान भाव होकर रहना। समत्व का नाम ही योग है।

समत्व अर्थात् सिद्धि-असिद्धि में सम की भावना कैसे बनती है? यह अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है? यही पूर्ण समस्या की कुंजी है। इसी को बताने के लिए कृष्ण ने यह कहा है कि समत्व की भावना योगयुक्त बुद्धि से प्राप्त हो सकती है। साधारण कर्म और योगयुक्त बुद्धि से किये कर्म में बहुत अन्तर है। अतः योगयुक्त बुद्धि का आश्रय लेकर कर्म कर। फल के हेतु किया कर्म बहुत ही हीन है। साधारण कर्म, फल की इच्छा से किया जाता है। योगयुक्त बुद्धि से किया कर्म समत्व की भावना से होगा। कारण यह कि योग के अर्थ ही यह हैं कि सिद्धि-असिद्धि में एक समान रहना। कर्म का फल मिलता है अथवा नहीं मिलता, इसकी चिन्ता किये बिना किया गया कर्म योग बुद्धि से किया कर्म होगा और फल की इच्छा से किये कर्म से यह अति श्रेष्ठ है।

योगयुक्त बुद्धि से अर्थात् फल की इच्छा छोड़कर मनीषि जब कर्म करते हैं तो वे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त और शुद्ध पवित्र होकर परम पद को प्राप्त होते हैं।[२]

कोई भी मनुष्य कर्म के बिना नहीं रह सकता। एक क्षण के लिए भी मनुष्य (ज्ञानी-अज्ञानी दोनों) बिना कर्म के नहीं रह सकते। निःसन्देह सब मनुष्य स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विवश हो कर्म करते हैं।[३]

भगवान् कहते हैं कि कर्म करना, कर्म किस प्रकार करना और किसी कर्म को न

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

—भ० गी०, २—४७

२. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

—भ० गी०, २—४८, ४९, ५०, ५१

३. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्टत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—भ० गी० ३—५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करना यह सब मनुष्य के अधीन है, परन्तु उस कर्म के फल की प्राप्ति और वह फल कब और किस रूप में प्राप्त होगा, यह मनुष्य के अधीन नहीं।

इस कारण मनुष्य को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। निष्काम भाव का ही दूसरा नाम निर्द्वन्द्व और निर्योगक्षेम है।

यह तब सम्भव है जब बुद्धि योगयुक्त हो। योग का अर्थ है समभाव।

भगवान् कृष्ण का आशय है कि योगस्थ होने के लिए बुद्धि योगयुक्त होनी चाहिए। अभिप्राय यह कि सुख-दुःख, शोक-हर्ष, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि इत्यादि में निर्द्वन्द्व अवस्था बुद्धि को योगयुक्त अर्थात् समत्व की भावना युक्त करने से ही हो सकती है।

अपने भाव को और स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने अर्जुन से यह भी कहा कि जब तक तू मोह के कीचड़ से पार नहीं हो जाता तब तक तू सुनने योग्य बात को नहीं सुनेगा और सुनी हुई बात को समझ नहीं सकेगा।

साथ ही भाँति-भाँति की बातों को सुनकर विचलित हुई बुद्धि जब तक स्थिर, समाधिस्थ और अविचल नहीं हो जाती, तब तक तू योग (कर्म-कुशलता) को प्राप्त नहीं हो सकता।[१]

इस पूर्ण प्रवचन को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) जब हम किसी कर्म के धर्मयुक्त अथवा अधर्मयुक्त होने के विषय में विचार करते हैं तो बुद्धि ही इसमें सहायक होती है।

(२) बुद्धियाँ दो प्रकार की हैं व्यवसायात्मिका (निश्चित) और अव्यवसायात्मिका (अनिश्चित)।

(३) अनिश्चित बुद्धि अनेक दिशाओं में भटकती रहती है।

(४) जब बुद्धि अनेक सांसारिक पदार्थों के ज्ञान और उनसे प्राप्त भोग-ऐश्वर्य के पीछे जाती है, तो यह अव्यवसायात्मिका हो जाती है। संसार के विषय अनेक हैं अतः उनके पीछे जानेवाली बुद्धि (बहुशाखा) अनेक दिशाओं में भटकनेवाली बन जाती है।

(५) सांसारिक पदार्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति से बने हैं। इन गुणों के कारण ही बुद्धि भटकती रहती है।

(६) जीवन में प्राणी इन सांसारिक पदार्थों से छूट नहीं सकता। एक क्षण के लिए भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म संसार में होंगे ही। अतः सांसारिक

---

१. यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

—भ० गी०, २—५२, ५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कार्यों को छोड़ा नहीं जा सकता।

(७) इस संसार में रहते हुए मनुष्य संसार के त्रिगुणात्मक प्रभाव से तब ही छूट सकता है जब वह निर्द्वन्द्व, निर्योगक्षेम, नित्य सत्त्वस्थ और आत्मस्थ होकर रहे। ऐसा रहना तब ही सम्भव है, जब कर्म तो करे परन्तु फल की चिन्ता न करे। कर्म करने पर फल तो मिलेगा ही। इस कारण फल की चिन्ता करनी व्यर्थ है।

(८) ऐसा करनेवाला व्यक्ति अपनी बुद्धि को स्थिर कर सकता है और इस स्थिर करने का परिणाम होगा समाधि की योग्यता। तदनन्तर **'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।'** जन्म-मरण बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है और निर्मल मोक्षावस्था प्राप्त होती है।

## स्थितप्रज्ञ की परिभाषा

जब अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ शब्द सुना तो उसके विषय में पूछ लिया कि इस शब्द के क्या अर्थ हैं? समाधि में इसका क्या प्रयोजन है। स्थितप्रज्ञ क्या करता है? कैसे बैठता है और कैसे चलता है।

भगवान् कृष्ण ने स्थिर-बुद्धि के विषय में कहा कि जब मनुष्य मन में चलनेवाली सब कामनाओं को त्यागकर आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है, उस समय वह मनुष्य स्थितप्रज्ञ कहाता है।[१]

मन में चलनेवाली कामनाओं की उत्पत्ति कैसे होती है और फिर उनका त्याग कैसे किया जा सकता है? यह समझने की बात है। कामना किसी वस्तु अथवा स्थिति की प्राप्ति की अभिलाषा को कहते हैं। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति हलवाई की दुकान पर रसगुल्ले पड़े देखता है। उन रसगुल्लों को खाने के लिए प्राप्ति की इच्छा तब पैदा होती है जब रसगुल्ला पहले खाया हो और स्वाद की स्मृति हो। इसे रसगुल्ले के स्वाद का संस्कार कहते हैं। संस्कार मन में स्थित रहते हैं।

मनुष्य को मन एक ऐसा करण मिला है, जिस पर जीवन के अनुभवों के संस्कार एकत्रित होते रहते हैं। यदि मन निर्मल और सबल हो तो संस्कार जन्म-जन्मांतर तक चलते हैं।

इन संस्कारों का अर्थात् उनसे उत्पन्न होनेवाले अनुभवों को प्राप्त करने अथवा उनसे बचने की अभिलाषा को कामना कहते हैं। मनुष्य ने रसगुल्ले खाये हैं। उनका स्वाद पसन्द है। वह उनको सामने पड़ा देखता है तो उनको पुनः खाने की इच्छा करता

---

१. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

—भ० गी०, २—५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है। यह इच्छा ही कामना है।

इसी प्रकार किसी रोगी को ज्वर हुआ तो उस ज्वर में उसे कष्ट हुआ। वह कष्ट मन पर एक संस्कार छोड़ जाता है। यह संस्कार दुःखद है। अतः जब डाक्टर उसे बताता है कि सर्दी में शीतल जल से स्नान करने पर ज्वर हो जायगा तो वह शीतल जल से स्नान न करने की इच्छा करने लगता है। यह कामना ज्वर के दुःखद संस्कार के मन पर अंकित होने के कारण है।

संस्कार मन पर सीधे नहीं पड़ते। इनका अनुभव ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, स्पर्श और रसना। इन पाँच इन्द्रियों द्वारा अनुभव प्राप्त होते हैं और ये अनुभव मन पर संस्कार के रूप में उपस्थित रहते हैं। यही कामनाओं के स्रोत है।

मन जड़ है। वह संस्कारों को ऐसे संचित रखता है, जैसे फोटोग्राफिक फिल्म दृश्यों को संचित रखती है। अतः मन कामना नहीं करता, जैसे फोटोग्राफिक फिल्म चित्र रखता हुआ भी चित्र वाली वस्तु को देखने की इच्छा नहीं रखता। यह इच्छा फोटोग्राफिक फिल्म का स्वामी ही कर सकता है। इसी प्रकार मन के संस्कार से मन में इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। मन फोटोग्राफिक फिल्म की भाँति जड़ पदार्थ है। मन का स्वामी आत्मा ही उस संस्कार के कारण कामना करता है।

संस्कारों के होने पर भी यदि आत्मा इतना प्रबल हो कि वह कामना न करे तो **'मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति'** की शर्त पूरी हो जाती है।

हलवाई की दुकान पर मिठाइयाँ लगी हैं। परन्तु आत्मा, मन पर उनके स्वाद का संस्कार होते हुए भी खाने की कामना नहीं करता। तो प्रश्न उत्पन्न होता है क्यों?

इसका उत्तर है कि जहाँ प्राणी में मन संस्कारों को संचय कर रखने का एक यंत्र है, वहाँ प्राणी के पास एक अन्य यन्त्र भी रहता है। वह यंत्र मन के संस्कारों का विश्लेषण कर उसके लाभ-हानि पर विचार प्रकट करता है। यह यन्त्र बुद्धि कहलाता है।

वही हलवाई की मिठाईवाला उदाहरण लें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। मन को रसगुल्लों के स्वाद का ज्ञान है। मन पर एक और भी संस्कार है। किसी पूर्वकाल में रसगुल्ले खाये गये थे तो उससे अपचन हो गया था। उस अपचन से दस्त हुए थे और ज्वर हो गया था। इन सब संस्कारों का तारतम्य मिलाना और फिर उससे यह परिणाम निकालना कि रसगुल्ले खाने से वे सब परिणाम पुनः उत्पन्न हो सकते हैं, जो पहले हुए थे, यह कार्य बुद्धि रूपी यन्त्र करता है। बुद्धि इन सब विश्लेषणों को करती हुई भी स्वयं इच्छा अथवा अनिच्छा नहीं करती। मन की भाँति बुद्धि भी जड़ है। यह भी न इच्छा कर सकती है न अनिच्छा। मन अपने संस्कार बुद्धि के सम्मुख रख देता है। बुद्धि उनका विश्लेषण कर आत्मा के सम्मुख प्रस्तुत कर देती है और आत्मा निर्णय करता है कि रसगुल्ला खाना चाहिए अथवा नहीं।

गीता में कृष्ण कहते हैं कि इन्द्रियाँ बलवान हैं, परन्तु मन इन्द्रियों से ऊपर है। मन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा है।[१] इस कारण बुद्धि से ऊपर (आत्मा) को जानकर बुद्धि के द्वारा आत्मानम् (अपने मन और इन्द्रियादि शरीर) को वश में करके काम रूपी शत्रु को मारे, अर्थात् कामनाओं का त्याग करे।

श्लोक २—५५ में लिखा है, '**आत्मन्येव आत्मना तुष्टः**' अर्थात् आत्मा को आत्मा में लगाये। यहाँ एक आत्मा का अर्थ है जीवात्मा और दूसरे आत्मा शब्द से परमात्मा का अभिप्राय है।

जब मन में विचरनेवाली कामनाओं का त्याग कर दिया तो आत्मा ऐसा करने पर क्या करे? इस श्लोक में लिखा है कि कामनाओं का त्याग करके परमात्मा से तुष्टि प्राप्त करे। अर्थात् उसमें लगाये।

इसको समझने के लिए उपनिषद् के निम्न कथन को समझना आवश्यक है। कठोपनिषद् में लिखा है कि आत्मा शरीर में कहाँ रहता है। उनका परस्पर कैसे सम्बन्ध बनता है। यह कहा है कि अच्छे कर्मों से प्राप्त मानव के शरीर के उच्च स्थान गुहा में प्रविष्ट हो आत्मा और परमात्मा साथ-साथ रहते हैं, जैसे छाया और धूप। यह बात ब्रह्मवादी और पंचाग्नि तपनेवाले त्रिनाचिकेता भी कहते हैं।[२]

यहाँ हमारा अभिप्राय केवल इतनी बात से है कि अच्छे कर्मों से प्राप्त देह (मानव देह) में दोनों आत्मतत्त्व समीप-समीप रहते हैं और इनका ऐसे रहने का स्थान शरीर के मस्तिष्क में एक गुहा है।

उपनिषद् में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि कठिनाई से देखे जानेवाला आत्मा बहुत गहराई में एक गुहा में अणु समान प्रविष्ट हो पुरातन देव को अध्यात्म योग से जान हर्ष-शोक को त्याग देता है।[३]

उपनिषद् के इन वाक्यों का अर्थ यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क की एक गुहा में आत्मा रहता है। परमात्मा जो सर्वव्यापक है, वहाँ आत्मा के सम्पर्क में रहता है। वहाँ पर उस गुहा में ही अन्तःकरण का निवास है। अन्तःकरण का अर्थ मन और बुद्धि है। मन ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों को संस्कारों के रूप में संचित रखता है और उस संचित

---

१. इन्द्रयाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

—भ० गी०, ३—४२, ४३

२. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

—कठो०, १—३, १

३. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

—कठो०, १—२-१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ज्ञान और नवीन ज्ञान से बुद्धि को अवगत कराता है। बुद्धि इस ज्ञान से प्रभावित हो उस ज्ञान का विश्लेषण कर आत्मा पर उसको प्रतिबिम्बित करती है। आत्मा उस विश्लेषण पर कर्म का निर्णय करता है। उस निर्णय का आदेश मन को मिलता है। और मन कर्मेन्द्रियों द्वारा उस कर्म को कराता है।

गीता के श्लोक (२—५५) में आत्मा से आत्मा को सन्तुष्ट करने का अभिप्राय यह है कि आत्मा संस्कारों से चल रही कामनाओं का त्याग कर अपना ध्यान दूसरे आत्म-तत्त्व की ओर लगाये और उससे ही सन्तोष अनुभव करे। ऐसा करने का यह फल भी बताया है कि ऐसा करने पर उस मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो गयी कही जाती है।

यह नहीं कि उक्त क्रिया के करने से बुद्धि स्थिर होगी। बुद्धि स्थिर करने के उपाय तो दूसरे हैं; परन्तु स्थितप्रज्ञ होने का यह परिणाम है कि मनुष्य में कामनाओं का त्याग होता है, जिससे आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार कर सन्तोष अनुभव करने लगता है।

स्थितप्रज्ञ के और भी लक्षण बताये हैं। यह बताया है कि जिसका मन दुःख से उद्विग्न नहीं होता, सुख से जिसे मोह नहीं होता, राग, भय तथा क्रोध जिसमें उत्पन्न नहीं होते, उस व्यक्ति की प्रज्ञा स्थिर समझनी चाहिए।

जिस मनुष्य में स्नेह नहीं है (स्नेह होता है अपने सम्बन्धियों के प्रति सहानुभूति और लगाव), जिस मनुष्य को किसी शुभ की प्राप्ति से हर्ष नहीं होता अथवा अशुभ की प्राप्ति से दुःख नहीं होता, उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिए।

स्थिर बुद्धि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से ऐसे समेट लेता है, जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने अन्दर समेट लेता है।

कई लोग कई कारणों से इन्द्रियों से विषयों का सेवन तो नहीं करते अथवा नहीं कर सकते, परन्तु उनके मन में उन विषयों की लालसा बनी रहती है। लालसा निवृत्त नहीं होती। यह लालसा तब निवृत्त होती है जब आत्मा का ध्यान परमात्मा की ओर लग जाता है।[१]

विषय इन्द्रियों को आकर्षित करते हैं। इन्द्रियाँ अति बलवान हैं। इस कारण जब वे विषयों की ओर जाती हैं तो यत्न करने पर भी आत्मा इन पर नियन्त्रण नहीं रख पाता।

अतः इन बलवान इन्द्रियों पर अधिकार पाने के लिए आत्मा को परमात्माभिमुख

---

१. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रयार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

—भ० गी०, २—५६, ५७, ५८, ५९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(ईश्वर-परायण) कर देना चाहिए। जब ऐसा किया जा सके तो समझो कि उस पुरुष की बुद्धि स्थिर है।[१] जब बुद्धि स्थिर होगी तब ही वह आत्मा के सम्मुख, मन पर अंकित संस्कारों का ऐसा विश्लेषण उपस्थित करेगी, जिसका परिणाम यह होगा कि आत्मा विषयों से उपराम होकर परमात्मा की ओर ध्यान लगा सकेगा। इसी कारण कहा है कि जिसकी बुद्धि स्थिर होगी, उसमें ही आत्मा इन्द्रियों के विषयों से उपराम होकर परमात्मा की ओर लग सकेगा।

इस प्रकार स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताने के उपरान्त श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ होने के अर्थात् बुद्धि स्थिर करने के उपाय भी बताते हैं। ऐसा बताने से पूर्व उन्होंने बताया कि बुद्धि अस्थिर कैसे होती है।

इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन ही पूर्ण अव्यवस्था का मूल स्रोत है। किसी नें किसी समय मिठाई खाई थी। उसे वह बहुत स्वादिष्ट लगी। उस स्वाद का संस्कार मन पर रहता है। वह स्वाद बुद्धि पर प्रतिबिम्बित होता रहता है। बुद्धि उस स्वाद का चिन्तन करती रहे तो अस्थिर रहती है। वह अस्थिर बुद्धि पुनः किसी अन्य विषयों पर स्थिर नहीं हो सकती।

इसके साथ ही यदि उन विषयों में आसक्ति हो तो विषयों की पूर्ति के लिए कामना जाग्रत हो जाती है। कामनाओं की तृप्ति में बाधा अथवा विलम्ब होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक (ज्ञानशून्यता) उत्पन्न होता है। अविवेक से स्मृति का नाश होता है। स्मृति-भ्रंश से बुद्धि का नाश होता है और इससे कल्याण का क्षय होता है।[२]

परन्तु जिसका आत्मा सबल है, वह राग और द्वेष से मुक्त रहता है। वह इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी प्रसाद (शुभ फल) को प्राप्त करता है। इस प्रसाद (शुभ फल) के होने पर सब दुःखों का अभाव हो जाता है। ऐसे प्रसाद-युक्त, प्रसन्न-चित्तवाले मनुष्य की बुद्धि सहज ही स्थिर हो जाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि विषयों का चिन्तन करना ही सब विनाश की

---

१. यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

—भ० गी०, २—६०, ६१

२. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

—भा० गी०, २—६२, ६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जड़ है। वही मिठाईवाला उदाहरण लें तो पता चलेगा कि मीठा खा लेना इतना हानिकारक नहीं, जितना उसके स्वाद का सदा चिन्तन करते रहना। सदा चिन्तन करने से उस स्वाद को बार-बार प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है। वह लालसा सदा पूरी नहीं हो सकती। कभी मनुष्य का सामर्थ्य उस विषय के भोग में उसका साथ नहीं देता। इससे क्रोध उत्पन्न होता है और फिर अविवेक तथा स्मृति-नाश के अनन्तर बुद्धि मलिन हो जाती है।

बुद्धि को मलिन होने से बचाने का उपाय यह है कि जब इन्द्रियों के विषयों के भोग उपस्थित हों तो भोग कर लिया जाये, परन्तु भोग के विषय का चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करते रहने से दुःख और क्लेश उत्पन्न होगा। ऐसा करने के लिए सबल आत्मा से राग (मोह) और द्वेष (क्रोध) को त्यागकर इन्द्रियों को वश में करके रखे। इस प्रकार इन्द्रियाँ और मन पर नियन्त्रण करे अर्थात् उक्त विषय का चिन्तन छोड़ दे तो बुद्धि निर्मलता को प्राप्त होती है। यही बुद्धि की स्थिरता है।[१]

भगवान् कृष्ण ने बुद्धि को स्थिर करने का ढंग भी बता दिया। इसके उपरान्त अस्थिर बुद्धि की हानियाँ भी वर्णन की हैं। वे कहते हैं कि जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं, उस अयुक्त पुरुष की भावना (उच्च आकांक्षाएँ) भी नहीं होतीं। उच्च भावनाओं के बिना शान्ति नहीं होती। जिसको शान्ति नहीं, उसको सुख कैसे प्राप्त हो सकता है!

जब इन्द्रियाँ मन के साथ विषयों में विचरती हैं तो वे बुद्धि को ऐसे ही हर लेती हैं जैसे वेगयुक्त वायु नाव को बहाकर ले जाता है। अतः जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों से पृथक् रखी जाती हैं, उस मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो सकती है।[२]

ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुष के लिए वह दिन है, जो साधारण बुद्धिवालों के लिए रात है; जब दूसरे लोग सोते हैं, तब वह जागता है।

जैसे परिपूर्ण समुद्र नदियों के सब ओर से आकर मिलने पर भी अचल रहता है,

---

१. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

भ० गी०, २—६४, ६५

२. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

—भ० गी०, २—६६, ६७, ६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नदियों का जल उसको चलायमान नहीं कर सकता, वैसे स्थिर-बुद्धि पुरुष के भोग उस आत्मा में समा जाते हैं और उसकी शान्ति को भंग नहीं कर सकते।[१]

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को वह दिन प्रतीत होता है, जो दूसरों को रात प्रतीत होती है। वह तब जागता है जब अन्य सोते हैं। इसका अभिप्राय कुछ लोग यह लेते हैं कि संयमी मनुष्य रात के समय परमात्मा की उपासना एवं चिन्तन करता है। साधारण व्यक्ति रात को सोता है। किन्तु नहीं, इस स्थान पर भगवान् कृष्ण का अभिप्राय यह है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की बुद्धि ऐसी हो जाती है कि वह साधारण व्यक्तियों से विलक्षण देखता, समझता और विचार करने लगता है। उसकी बुद्धि किसी भी विषय को ले तो उसे उसमें वे रहस्य दिखाई देने लगते हैं, जो साधारण मनुष्य को दिखाई नहीं देते।

यहाँ दिन से अभिप्राय ज्ञान है। रात का अर्थ अज्ञान से है। सोने का अर्थ है निश्चिन्त रहना, बेखबर पड़े रहना। और जागरण का अभिप्राय है सचेत और सतर्क रहना।

वह व्यक्ति सुख-दुःख के आने पर अथवा स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट पदार्थों के भोग के समय अचल रहता है। अर्थात् वह हर्ष-शोक, सुख-दुःख इत्यादि से परे होता है। उसे विषयों का सेवन चलायमान नहीं कर सकता।

अब श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के पूर्ण विवेचन को (संक्षेप में) इस प्रकार कहा है कि जो पुरुष कामनाओं को त्यागकर, ममता से रहित होकर, मोह से रहित हो अहंकार छोड़कर व्यवहार करता है उसे शान्ति प्राप्त होती है।

यह एक (ब्राह्मी) महान् स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त होकर मनुष्य (नविमुह्यति) अविवेकी नहीं होता। यदि मनुष्य प्रत्येक काम में ऐसा ही व्यवहार रखे तो वह (ब्रह्मनिर्वाणम्) महान् शान्ति को प्राप्त होता है।[२]

## कर्म

हम यह बता चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ का अर्थ ब्रह्म की प्राप्ति नहीं। इससे तो कर्म

---

१. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

—भ० गी०, २—६९, ७०

२. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

—भ० गी०, २—७१, ७२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के विश्लेषण में सहायता मिलती है। कर्म के तीन विभाजन गीता में किये गये हैं। कर्म, अकर्म और विकर्म। इन तीनों प्रकार के कर्मों को पहचानना निर्मल और स्थिर बुद्धि का काम है।

दूसरे लोगों के कहने-सुनने से जिसकी बुद्धि विचलित नहीं हो जाती, परिस्थिति के अनुकूल अथवा विपरीत होने से जिस मनुष्य की बुद्धि डाँवाँडोल नहीं होती अर्थात् जिसकी बुद्धि अपने उद्देश्य और लक्ष्य की प्राप्ति में स्थिरता में लीन रहती है, वह स्थितप्रज्ञ है। इसी को भगवान् कृष्ण ने (२-५३ में) समाधि की अवस्था कहा है।

यह अवस्था प्राप्त करके ही कर्म करने को कर्मयोग कहते हैं। हमने बताया है कि कर्मों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इन तीनों में विकर्म का अर्थ अधर्मयुक्त कर्म ही है। अतः कर्म की व्याख्या करते समय धर्म-अधर्म को बताना अत्यावश्यक है।

धर्म दो प्रकार के हैं। एक है शाश्वत धर्म। इनको सनातन धर्म अथवा व्यापक धर्म भी कहा जाता है। शाश्वत धर्म मनु के अनुसार दस हैं। ये दस धर्म सब द्विजों द्वारा सब आश्रमों में पालन करने योग्य हैं। इसी कारण इनको व्यापक और सनातन धर्म कहते हैं। इन दस धर्मों के लक्षण हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध। धर्म के ये दस अटल लक्षण हैं।[१]

इन दस धर्मों में पाँच व्यक्तिगत हैं—धृतिः, दम, शौच, धीः और विद्या। इनको व्यक्तिगत इस कारण कहते हैं कि इन धर्मों का आचरण करने के लिए न किसी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है, न इनका किसी दूसरे पर विशेष प्रभाव उत्पन्न होता है। मुख्य रूप में कर्ता पर ही इनका प्रभाव पड़ता है।

उदाहरण के रूप में धृति है धैर्य करना। इसका अभिप्राय है विपरीत परिस्थितियों में धैर्य रखना, अधीर न हो जाना। किसी की नौकरी छूट गयी, उसकी आय शून्य के बराबर अथवा कम हो गयी, ऐसी अवस्था में धैर्य से अपनी स्थिति को सुधारने में लग जाने को धृति कहते हैं। यह धर्म, व्यवहार करनेवाले के अपने साथ ही सम्बन्ध रखता है।

धीः भी एक व्यक्तिगत धर्म है। इसका अर्थ है बुद्धि को विकास देना और इसे निर्मल करना। इसका सम्बन्ध मनुष्य के अपने साथ है। इसी प्रकार दम, शौच और विद्या धर्म है। विद्या का अर्थ है ज्ञान प्राप्त करना।

अन्य पाँच धर्मों के लक्षण ऐसे हैं कि उनको सामाजिक धर्म कह सकते हैं। इनका

---

१. चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रामिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—मनु०, ६—९१, ९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पालन तब किया जाता है, ज़ब कर्ता का किसी दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध बनता है। उदाहरण के रूप में क्षमा तब की जा सकती है, जब कोई अपराधी सामने उपस्थित हो। इसी प्रकार सत्य तब बोला जाएगा जब कोई सुननेवाला उपस्थित हो। अतः अस्तेय (चोरी न करना), इन्द्रियनिग्रह, सत्य और अक्रोध सामाजिक धर्म हैं।

ये सब-के-सब शाश्वत धर्म हैं। ये व्यापक इस प्रकार से कहे गए हैं कि चारों वर्णों और चारों आश्रमों में इनके पालन को अनिवार्य माना है। इनका विरोध कभी और कहीं नहीं किया जा सकता।

यहाँ एक बात समझने की है। उक्त श्लोकों में लिखा है कि द्विजों को चारों आश्रमों में इनका पालन करना चाहिए। द्विजों में तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आते हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ये दस धर्म शूद्रों के लिए नहीं हैं?

ऐसा नहीं है। भारतीय समाज में शूद्र उसको कहते हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सेवा-कार्य करता है। शूद्र जन्म से नहीं होते। जो सेवा-कार्य करे वह शूद्र है। ब्राह्मण का बेटा भी जब नौकरी में चला जाता है तो शूद्र ही कहलाएगा। वेतन और पुरस्कार, उपहार, भेंट इत्यादि में अन्तर है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य जब समाज की कोई सेवा स्वेच्छा से करते हैं और समाज उनकी स्वेच्छा से की गई सेवा से प्रसन्न हो, उनको पुरस्कार अथवा भेंटस्वरूप कुछ देता है, तो वह वेतन नहीं कहाता। साथ ही इससे किसी व्यक्ति से कार्य लेने का अधिकार भेंट देनेवाले का नहीं बन जाता।

परन्तु शूद्र की कार्य करने की स्वयमेव इच्छा नहीं रहती। उसे मालिक अथवा अधिकारी के कथन पर कार्य करना होता है। उस कार्य में नौकर का उत्तरदायित्व नहीं होता। उत्तरदायित्व मालिक अथवा अधिकारी का हो जाता है।

सरकार के सचिव को उसका मन्त्री आदेश देता है कि वह यह वक्तव्य प्रसारित कर दे कि भारत किसी भी आक्रमण का विरोध करने के लिए तैयार है। यह वक्तव्य मिथ्या हो सकता है। इस मिथ्या वक्तव्य को प्रसारित करने का उत्तरदायित्व सचिव पर नहीं, प्रत्युत मन्त्री पर है। अतः इस अधर्माचरण से होनेवाले पाप का भागी सचिव नहीं, अपितु पाप का भागी मन्त्री है। सचिव नौकर है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। वह शूद्र है।

अतः इन शाश्वत धर्मों का उल्लेख करते हुए मनु ने शूद्रों का उल्लेख नहीं किया। यह हो सकता है कि कोई शूद्र केवल छः घण्टे का नौकर हो। उन छः घण्टों के उपरान्त उस पर मालिक के आदेशों के पालन का उत्तरदायित्व नहीं। उन छः घण्टों के उपरान्त वह अपने मित्रों, सम्बन्धियों, पत्नी और बच्चों से स्वतन्त्र रूप में व्यवहार करता है। ऐसा व्यक्ति उन छः घण्टों में तो शूद्र और अन्य समय में द्विज कहलायेगा। उस समय उसको भी उक्त दस लक्षणोंवाले धर्म को धारण करना चाहिए।

इन दस धर्मों के अतिरिक्त भी कुछ धर्म हैं। वे धर्म देश, काल, आयु और परिस्थिति के अनुसार बदल सकते हैं। इन धर्मों का निश्चय विद्वान् लोग देश, काल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और परिस्थिति के अनुसार करते हैं। फ़िर भी इन धर्मों के ऊपर एक शर्त है कि सनातन और व्यापक धर्मों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार कर्मों की व्याख्या मनु ने कर दी है। इनके विषय में गीता में नहीं लिखा है। इस प्रकार की धर्म-अधर्म की चर्चा भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के सामने करनी नहीं चाही। वे जानते थे कि धर्म-अधर्म की यह व्याख्या अर्जुन जानता है। इस कारण विकर्म का कथन-मात्र करके इस विषय को छोड़ दिया।

अर्जुन के मन में मरने का भय नहीं था। वह तो मारने से डरने लगा था। युद्ध कर्म के विषय में ही उसके मन में संशय उत्पन्न हो गया था कि यह धर्म है अथवा अधर्म।

धर्म-अधर्म के अर्थों में सन्देह नहीं था। सन्देह था कि युद्ध करना धर्मकार्य है अथवा अधर्मकार्य। साथ ही धर्म की स्थापना के लिए क्या युद्ध उपयुक्त साधन है?

यही स्थिति वर्तमान भारत में श्री जवाहरलाल नेहरू के राज्य काल में चलती रही। एक सीमा तक वह अब भी चलती है। पंडित जवाहरलाल और श्री लालबहादुर शास्त्री के अधीन भारत का व्यवहार यही था कि युद्ध से विनाश के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होगा। दोनों महानुभाव यत्न करते रहे कि किसी भी मूल्य पर युद्ध रुका रहे।

युद्ध के रुकने पर भारत न केवल अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में, प्रत्युत अपने देश में भी दुर्बल और भीरु माना जाने लगा। देश के बाहर और भीतर भी भारत पर आक्रमण करने वाले चीन और पाकिस्तान, दोनों देशों को धर्मयुक्त और भारत को अधर्म के पक्ष में समझनेवाले उत्पन्न हो गए। देश में ऐसे लोग भी उत्पन्न हो गए थे जो यह समझने लगे थे कि उत्तरी भारत दक्षिण भारत पर शासन करता है अथवा उत्तर प्रदेश पंजाब पर शासन करता है। महाराष्ट्र और मैसूर में अविश्वास है और हरियाणा तथा दिल्ली में ताल-मेल नहीं है। जब मनुष्य अथवा जातियाँ युद्ध को, जो धर्म-अधर्म के निर्णय में एक प्रबल साधन है, अधर्म मान लेती हैं, तब धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना सरल और सहज बात हो जाती है।

यही बात अर्जुन के व्यवहार से होने वाली थी। कृष्ण ने उसे समझाया और युद्ध हुआ। समझाने के लिए ही गीता कही गई थी और गीता में युद्ध को धर्मयुक्त मानने में शर्त और सीमा का वर्णन करते हुए कृष्ण ने कर्म, अकर्म और विकर्म की व्याख्या कर दी।

विकर्म वह कर्म है जो करने के योग्य नहीं। अर्थात् अधर्म है। भगवान् कृष्ण का कहना था कि अर्जुन को कर्म का स्वरूप जानना चाहिए और अकर्म तथा विकर्म को भी समझना चाहिए।[१] जिससे वह जान सके कि युद्ध करे अथवा न करे। युद्ध भी एक कर्म

---

१. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

—भ० गी, ४—१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है। अतः कर्म की व्याख्या समझ जाने पर युद्ध के विषय में भी निर्णय किया जा सकेगा।

विकर्म की विवेचना को भगवान् कृष्ण ने एकदम छोड़ दिया। उसके विषय में कुछ अधिक कहने की उन्होंने आवश्यकता अनुभव नहीं की। विवाद का मुख्य विषय कर्म और अकर्म था। युद्ध किया जाए अथवा न किया जाए।

इस कारण भगवान् ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त उपस्थित कर दिया कि जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह बुद्धिमान मनुष्य है, वही योगी (कर्मयोगी) और सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है।[१] कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म के निमित्त कुछ भी कर्म करता है, तब उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह कुछ कर नहीं रहा, अर्थात् वह धर्म की स्थापना कर रहा है। अतः अच्छे-बुरे कर्म धर्म की स्थापना में विलीन हो जाते हैं।

युद्ध का उदाहरण समक्ष था ही। अर्जुन के कहने का अर्थ यह था कि युद्ध और उसमें होनेवाले घोर कर्म और विकर्म ही होंगे। परन्तु कृष्ण का कथन था कि युद्ध धर्म की स्थापना के लिए हो रहा है। अतः अर्जुन युद्ध करता हुआ भी, वास्तव में कुछ नहीं कर रहा। अभिप्राय यह कि उन घोर कर्मों का उसे पाप नहीं लगेगा।

युद्ध स्वयं अपने उद्देश्य के समक्ष गौण हो जाएगा। कर्म वह उद्देश्य रह जाएगा, जिस अर्थ युद्ध लड़ा जा रहा था। यदि उद्देश्य है स्वार्थ, लोभ, मोह, अहंकार, इत्यादि की पूर्ति, तो कर्म विकर्म हो जाएगा और यदि उद्देश्य धर्मयुक्त है तो युद्ध करणीय है और फल उद्देश्य के अनुसार मिलेगा।

भगवान् कृष्ण का अभिप्राय यह है कि युद्ध न करे से अकर्म हो जाता, और यह अकर्म भी उद्देश्य की पूर्ति अथवा अपूर्ति में सहायक होता।

यदि युद्ध किसी अधर्म की स्थापना के लिए किया जा रहा है तो उस युद्ध में सम्मिलित न होना भी धर्म का सहायक हो जाएगा और यह अकर्म ही कर्म हो जाएगा। धर्म की स्थापना के लिए चल रहे युद्ध से तटस्थ रहने का अर्थ अधर्म का सहायक होना बन जाएगा। इस अवस्था में अकर्म भी कर्म बन जाएगा।

कर्म एवं विकर्म का अस्तित्व होता है, परन्तु अकर्म का अस्तित्व नहीं होता। यही अभिप्राय है इस श्लोक (४—१८) का। कर्म को कर्म समझो और अकर्म को कर्म। जब कर्म निष्काम भाव से किया जाए तो वह अकर्म के समान फल न देनेवाला होगा और अकर्म भी तो कर्म है। यदि अधर्म की विजय होते हुए भी मनुष्य धर्म के पक्ष में नहीं रहता, तो अधर्म का ही सहायक हो जाएगा।

---

१. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

—भ० गी०, ४—१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इस बात को भगवान् कृष्ण ने और भी स्पष्ट करने के लिए बताया कि कार्य की योजना बनाते समय कामनाओं का संकल्प त्यागकर विचार करे। तब कर्म, ज्ञान-अग्नि से दग्ध किया हुआ समझा जाएगा। ऐसा करनेवाला बुद्धिमानों में पंडित कहाता है।[1]

'**सर्वे समारम्भा**' का अर्थ है कार्य का विचार करते समय; '**कामसंकल्पवर्जिताः**' का अभिप्राय है, किसी कामना सिद्धि को उद्देश्य न बनाये।

कामनाओं के संकल्प का त्याग का अर्थ है ऐसी इच्छाएँ न रखे जो केवल अपने सुख-सुविधा और हित के लिए हों। यज्ञार्थ कर्मों में भी यद्यपि कामना होती है, परन्तु वह अपने लाभ के लिए न होने से उक्त श्रेणी में नहीं हैं। यज्ञ, दान और तप को कामनाओं में नहीं माना। न ही इन कर्मों को छोड़ने के लिए कहा है। भगवान् कहते हैं कि वे लोग भी जो कर्म को दोषयुक्त और त्यागने योग्य कहते हैं, यज्ञ, दान और तप को करने की सम्मति देते हैं।[2]

यहाँ शब्द है '**अपरे**'। इसका अर्थ है जो दूसरे हैं, अन्य हैं। अर्थात् वे, जो कर्म को दूषित मानते हैं, कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिए। कर्मों का यह रूप क्यों नहीं छोड़ना चाहिए? इस विषय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि यज्ञ के निमित्त किया कर्म कर्ता को कर्म-बन्धन में नहीं बाँधता। दूसरे कर्म बाँधते हैं। यज्ञ के विषय में ही यहाँ संकेत किया है। कहा है, इस अर्थ (यज्ञार्थ) कर्म संग से मुक्त होकर फल की इच्छा छोड़कर करो।[3] अर्थात् यज्ञार्थ भी अपने लिए फल की इच्छा छोड़कर ही करना चाहिए।

यज्ञ के विषय में हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि यज्ञ-कर्म काम्य कर्मों से अतिरिक्त है। यज्ञ-कर्म कर्म-फल के चक्कर में नहीं बाँधते।

श्लोक ४—१९ में लिखा है कि जो लोग कर्म की योजना बनाते समय अपने लाभ की कामना नहीं रखते, उनके कर्म ज्ञान की अग्नि से दग्ध होते हैं। शब्द है **ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं** अर्थात् ज्ञानाग्नि में दग्ध कर्म। इसका भाव यह है कि यज्ञार्थ कर्म ज्ञानाग्नि में तप जाने से पवित्र हो जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि यज्ञ कर्म में भी कामना होती है। उसमें विशेषता यह होती है कि

---

१. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

—भ० गी, ४—१९

२. त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥

—भ० गी०, १८—३

३. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

—भ० गी०, ३—९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वह कामना स्वार्थ के लिए नहीं होती। यज्ञ कर्म सार्वजनिक हित में होते हैं। उस सार्वजनिक हित में कर्त्ता का हित सम्मिलित होता है। जैसे हवन एक प्रकार का यज्ञ है। इसमें सुगन्धित एवं पौष्टिक द्रव्य अग्नि में दिये जाते हैं। उनके जलाने से वायु की शुद्धि होती है और वायु में पुष्टिकारक तत्त्व मिल जाने से शरीर, मन और बुद्धि की पुष्टि होती है। इस प्रकार हवन करने से यह शुद्ध सुगन्धित और पौष्टिक वायु हवन करनेवाले के केवल अपने लाभ के लिए नहीं होती। जहाँ-जहाँ तक वायु पहुँचती है सबको उक्त फल देती है। इस सबमें हवन-कर्त्ता भी सम्मिलित है। अतः हवन करना भी यज्ञ कहाता है। इसके अतिरिक्त भी यज्ञ हैं जो अपने स्थान पर वर्णन किये जायेंगे।

यहाँ हमने कर्म की व्याख्या में यह लिखा है। गीता में स्पष्ट किया गया है कि कामनाओं से रहित कार्य की योजना ज्ञानाग्नि में शुद्ध किये कर्म समझने चाहिए।

कर्म के विषय में और अधिक व्याख्या करने से पूर्व एक-दो शब्द अकर्म के विषय में बता देना चाहते हैं।

योरोप में और विशेष रूप से इंग्लैण्ड में कुछ ऐसे मतावलम्बी लोग हैं, जो जब-जब भी युद्ध होता है, वे युद्ध से अपने को तटस्थ घोषित कर देते हैं। जब कभी उनके देश में सेना की अनिवार्य भरती की जाती है, तब वे अपने को बलपूर्वक भरती न किये जाने की माँग उपस्थित कर देते हैं और यूरोप की कुछ सरकारें उनको अनिवार्य भरती से मुक्त कर देती हैं।

हम इस प्रकार के व्यवहार का गीता की दृष्टि से विश्लेषण करना चाहते हैं। भगवान् ने कहा है कि जो लोग कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखते हैं वे ही बुद्धिमान तथा पंडित हैं। हमने बताया है कि अकर्म भी कर्म ही है और किसी भी कार्य में अकर्मण्यता उस कार्य के पक्ष अथवा विपक्ष में सहायक होती है। इसी प्रकार अकर्म भी कर्म है। यह बात युद्ध की स्थिति में और भी स्पष्ट हो जाती है।

अकर्म (तटस्थता) भी कर्म है। यह युद्ध कर्म है और यह युद्ध में एक पक्ष की सहायता करना है। यही भगवान् कृष्ण का मत है।

अर्जुन को भगवान् कृष्ण बता रहे थे कि अकर्म भी एक व्यवहार है। वह भी कर्म है और जो ऐसा देखता है, वही बुद्धिमान् है।

## कर्मों का विभाजन

हमने यह बताया है कि कर्म और अकर्म में भेद नहीं है। जहाँ तक फल का सम्बन्ध है, ये दोनों फलदाता हैं। कर्म से अभिप्राय सुकर्म समझना चाहिए और विकर्म से अधर्म कर्म।

अब कर्म को विकर्म से पहचानने के लिए अग्रलिखित विवेचना की जाती है। कर्म तीन प्रकार के हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(१) नित्य कर्म उन क्रियाओं को कहते हैं जो जीवन चलाने के लिए अनिवार्य हैं। उदाहरण के रूप में साँस लेना, भोजन करना, मल-मूत्र त्याग करना, सोना, चलना-फिरना इत्यादि।

वैसे तो ये कर्म भी नैमित्तिक हैं, परन्तु निमित्त है जीवन चलाना और कर्म अनिवार्य है।

(२) नैमित्तिक कर्म किसी प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिए किए जाते हैं। जैसे देश, धर्म और जाति की रक्षा के लिए किए गए कर्म नैमित्तिक कर्म होंगे। स्वरक्षा तथा दैवी प्रकोपों से, दुष्ट लोगों से, हिंसक जन्तुओं से अथवा समाज की बिगड़ी अवस्था से मुक्ति इत्यादि नैमित्तिक कर्म हो सकते हैं।

(३) कामनाओं की पूर्ति के लिए किये कर्म को काम्य कर्म कहते हैं। कामनाएँ सांसारिक हो सकती हैं और आध्यात्मिक भी। सांसारिक कामनाएँ स्वार्थ के लिए भी हो सकती हैं और लोक-कल्याणार्थ भी।

आध्यात्मिक कामनाओं का प्रयोजन जगत् के त्रिविध ब्रह्म के साक्षात्कार करने की जिज्ञासा है।

ये तीनों प्रकार के कर्म फल देनेवाले हैं। फिर भी तीनों के फल भिन्न-भिन्न हैं।

नित्य कर्मों के करने से जीवन-यापन होता है। गीता में इसके विषय में लिखा है कि मनुष्य देखता है, सुनता है, स्पर्श करता है, सूँघता है, रसना से रस लेता है, भोजन करता है, जागता है, सोता है, साँस लेता है, बोलता है, मल-मूत्र का त्याग करता है, वस्तुओं को ग्रहण करता है, आँखें खोलता अथवा बन्द करता है। सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कामों में लगी रहती हैं। इनका फल नित्य जीवन चलाना है। योगी को इन सबको करते हुए भी कुछ न करते हुए के सदृश मानना चाहिए।[1] अर्थात् जिस मनुष्य का जीवन योगयुक्त है, उसे जीवन चलाने के कर्म (जीवन-मरण के) बन्धन में बाँधने वाले नहीं होते।

भगवान् कृष्ण यह कहना चाहते हैं कि जीवन के लिए किए जानेवाले ये काम किसी की मोक्ष-प्राप्ति में बाधक नहीं होते। इसमें एक बात स्मरण रखनी पड़ेगी। साँस लेना, देखना और सूँघना, स्पर्श करना अथवा भोजन इत्यादि करना श्रेय मार्ग में बाधक नहीं होते। परन्तु इन कार्यों के लिए साधनों की उपलब्धि किस प्रकार होती है, वह श्रेय मार्ग में बाधक अथवा सहायक हो सकती है। एक व्यक्ति डाके डालकर अपना जीवन चलाता है, दूसरा विद्यादान इत्यादि कर्म कर भोजन का प्रबन्ध करता है। दोनों जीवन

१. नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

—भ० गी०, ५—८, ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चलाते हैं। अतः जीवन चलाना तो मोक्ष मार्ग में बाधक नहीं होता, परन्तु जिन उपायों से भोजनादि की उपलब्धि होती है, उनमें धर्म-अधर्म का विचार करना होगा।

भोजनादि करना और अन्य नित्य कर्म स्वयमेव, श्रेय अथवा प्रेय में बाधक अथवा साधक नहीं होते, परन्तु कोई डाकू होते हुए भी श्रेय मार्ग का भागी होगा और एक अपने परिश्रम से जीविका प्राप्त करनेवाला भी श्रेय का भागी होगा, ऐसा गीता का मत प्रतीत नहीं होता।

कृष्ण कहते हैं कि जो मनुष्य अपने कर्मों को परमात्मा के अर्पण कर देता है और आसक्ति छोड़कर कर्म करता है वह वैसे ही पाप से अछूता रह जाता है जैसे कमल कीचड़ में रहकर भी निर्मल ही रहता है।

इसका अर्थ यह है कि कर्मों का पाप अथवा पुण्य उस उद्देश्य के अनुसार होता है, जिससे वह कर्म किया जाए। परमात्मा का आश्रय लेकर, आसक्ति छोड़कर[१] जो मनुष्य कर्म करता है, वह कमल के समान पाप में लिप्त नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि स्वार्थ की सिद्धि के लिए किया कर्म पाप में लिप्त करेगा और निःस्वार्थ भाव से परमात्मा के निमित्त किया कर्म पाप में लिप्त नहीं करेगा।

शरीर मन और बुद्धि से भी, उक्त कहे अनुसार, अनासक्ति भाव से और परमात्मा के अर्पण कर किया कर्म आत्मा को शुद्ध करता है। ऐसा करनेवाले लोग योगी कहे जाते हैं।

अतः हमारा कहना है कि जीवन-यापन मोक्ष में तथा कर्म-बन्धन तोड़ने में बाधक नहीं होता, परन्तु ज़ीवनयापन '**ब्रह्मण्याधाय**' और '**सङ्गं त्यक्त्वा**' के भाव से होना चाहिए।

कर्म की यह विवेचना अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए ही थी। श्रीकृष्ण के कहने का अभिप्राय यह है कि युद्ध जैसा घोर कर्म भी पाप में लिप्त नहीं करेगा यदि वह युद्ध को परमात्मा का कर्म समझकर और इससे आसक्ति (मोह) का त्यागकर करेगा अर्थात् मन, बुद्धि और शरीर तीनों से ही इस प्रकार कार्य करेगा तो उसका आत्मा शुद्ध होगा। केवल यह नहीं कि वह पाप से लिप्यमान नहीं होगा वरन् यह भी कि इस प्रकार किया कर्म आत्मा की शुद्धि में कारण हो जाएगा।

इसी कारण श्लोक ५—८, ९ में यह कहा है कि योगयुक्त मनुष्य, जीवनयापन (नित्यकर्म) करता हुआ भी कुछ नहीं करता, अर्थात् नित्यकर्म मोक्ष में बाधक नहीं है। हाँ, ईश्वर-परायण होना, आसक्ति का त्याग, कामनाओं का त्याग आत्मा को शुद्ध करने में सहायक होते हैं।

---

१. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

—भ० गी०, ५—१०, ११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नैमित्तिक कर्म को भी उक्त विवेचना ही स्पष्ट कर देगी, अर्थात् निमित्त जब स्वार्थरहित होकर सर्वकल्याणकारी होगा, अथवा शुभ उद्देश्य से होगा, तब ये कर्म भी बाँधनेवाले नहीं होंगे। युद्ध नैमित्तिक कर्म था। यह युद्ध अर्जुन आदि पाण्डवों के आह्वान पर नहीं हो रहा था। श्रीकृष्ण का कहना था कि युद्ध धर्म की स्थापना के लिए किया जा रहा है। अतः युद्ध जैसा निमित्त-फलवाला कर्म भी पाप में नहीं बाँधेगा।

श्रीकृष्ण ने अपने विषय में भी कहा कि जब-जब धर्म का ह्रास होने लगता है, मैं धर्म-स्थापना के लिए जन्म लेता हूँ। साधुओं को भय से मुक्त करने के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए युग-युग में उत्पन्न होता हूँ।

फिर यह भी कह दिया कि ये कर्म मुझे पाप में लिप्त नहीं करते। जो भी मनुष्य इस तत्त्व को जानता है, वह कर्मों में बँधता नहीं। इस बात को इस प्रकार जानकर पूर्वकाल में हुए मुमुक्षुगण कर्म करते रहे हैं। तू भी उसी प्रकार कर्म कर।

पूर्व मुमुक्ष जीव कर्म करते रहे हैं और इस प्रकार, अर्थात् धर्म की स्थापना के लिए तथा अधर्म के नाश के लिए कर्म करते हुए वे मोक्ष पद को प्राप्त हुए हैं।[१]

तीसरे प्रकार के कर्म काम्य कर्म हैं। इनमें थोड़ा ध्यान रखने की आवश्यकता है। यह माना जाता है कि कामना केवल शारीरिक अथवा मानसिक सुखभोग की इच्छा को कहते हैं। कामनाओं को संकुचित अर्थों में न लेकर व्यापक अर्थों में ही लेना चाहिए। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म जिज्ञासा भी एक कामना है और अर्थोपलब्धि के निमित्त किया कर्म भी काम्य कर्म है। अतः काम्य कर्म भी सदा वर्जित नहीं। इनके विषय में भी पूर्वोक्त गुर प्रयोग कर, करणीय और अकरणीय में निर्णय करना चाहिए।

अतः दोनों प्रकार के कर्मों में अपनी लाभ-हानि की इच्छा त्यागकर जब मनुष्य काम करता है तो वह कर्मयोगी है, वह शांति को प्राप्त होता है। परंतु फल की इच्छा से कार्य करता हुआ कर्म-बंधन में बँध जाता है।[२]

युक्त और अयुक्त का अर्थ योगयुक्त और योग से अयुक्त के हैं। योग है

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

— भ० गी०, ४—७, ८, १४, १५

२. युक्तः कर्मफलंत्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

—भ० गी०, ५—१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



समत्व बुद्धि (२—४८)। अतः समत्व बुद्धि से कर्म करनेवाले को युक्त कहते हैं। समत्व बुद्धि के बिना कर्म करनेवाले को अयुक्त कहते हैं।

समत्व बुद्धि के अर्थ हैं सुख-दुःख, विजय-पराजय, हर्ष-शोक इत्यादि द्वंद्वों में एक समान रहनेवाला। उसे कर्मयोगी कहते हैं।

कर्मयोगी जब कर्मफल की इच्छा के बिना कर्म करता है, तब वह शांति को प्राप्त होता है। अयुक्त अर्थात् बिना समत्व बुद्धि, फलों में मोह रखनेवाला व्यक्ति, मन की शांति को प्राप्त नहीं करता।

यह नियम तीनों प्रकार के (नित्य, नैमित्तिक और काम्य) कर्मों में लगा हुआ है।

जहाँ तक नित्य और नैमित्तिक कर्मों का संबंध है, आसक्ति (मोह) के बिना और फल की इच्छा के बिना कर्म की बात तो समझ में आ सकती है, परंतु काम्य कर्मों में कामनारहित होना असंभव प्रतीत होता है। पर यह संभव है। उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी।

एक विद्वान् एक विद्यालय आरंभ करता है। वह स्वयं विद्वान् है। इस कारण उसे अपने लिए विद्यालय की आवश्यकता नहीं। यह दूसरों को ज्ञानवान् करने के लिए है। अतः यह विद्यालय चलाना काम्य कार्य है। इसमें कामना है दूसरों को ज्ञानवान् करने की, अर्थात् ज्ञानयज्ञ द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की।

भगवद्गीता का मत है कि यह काम्य कर्म भी जब आसक्तिरहित होकर किया जाएगा, तब ही यह बाँधनेवाला नहीं होगा। विद्यालय आसक्तिरहित तब माना जाएगा, जब विद्वान् व्यक्ति उसमें मोह नहीं करता। मान लो सरकार अथवा कोई अन्य अधिकारी उसमें उस विद्या को वर्जित कर देता है जो वह विद्वान् देना उचित समझता है, तब विद्वान् विद्यालय में मोह छोड़कर अपने ढंग से विद्या देने में दृढ़ रहे। यदि ऐसा नहीं कर सकता तो विद्यालय बंद कर दे।

ऐसा देखा जा रहा है कि विद्यालय के मोह में संचालक अविद्या दान करते हुए भी विद्यालय चालू रखने में लीन रहते हैं। आर्यसमाज की ओर से ऐसे विद्यालय अभी भी खुल रहे हैं। आर्यसमाजी समाज के कंधों पर चढ़कर नए-नए स्कूल-कॉलेज खोलने लग जाते हैं। वे यह देखते हुए भी कि उन स्कूल-कॉलेज में आर्यसमाज के सिद्धांतों के विपरीत शिक्षा देनी पड़ती है तो भी उन स्कूल-कॉलेजों को चालू रखने में अपना रक्त-पसीना एक करते रहते हैं। यह कार्य परोपकारी नहीं है। संस्थाओं के साथ मोह है। इस कारण भगवान् कृष्ण के कथनानुसार ये निमित्त कार्य बाँधनेवाले हैं।

वास्तविक बात यह है कि इस सृष्टि में रहते हुए कर्म किए बिना रहा नहीं जा सकता। कर्म और फल की शृंखला ऐसी है कि इसमें फँसा हुआ मनुष्य, इस भवसागर में ही चक्कर काटता रहता है। इस चक्कर से बचने के लिए भगवद्गीता यह उपाय बताती है कि कर्म निष्काम भाव से करो। फल की अपने लिए इच्छा मत करो और न क़र्म से मोह करो, न फल से। तब कर्म बंधन से मुक्त हुआ माना जा सकेगा।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है कि सब जीव इस महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करते रहते हैं।[१]

इस ब्रह्मचक्र से निकलने का उपाय भगवद्गीता ने बताया है। वह उपाय है ईश्वर-परायण होकर निष्काम भाव से, अनासक्त भाव से निर्द्वंद्व और निर्योग क्षेम होकर कर्म करना।

## कर्मों का स्रोत

यह बताया गया है कि नित्य, नैमित्तिक और काम्य तीनों प्रकार के कर्म सत्कार्य भी हो सकते हैं और दुष्कार्य भी। अभिप्राय यह है कि वे कर्म और विकर्म दोनों ही हो सकते हैं। अकर्म से पृथक् कुछ नहीं। अकर्म कर्म भी हो सकता है और विकर्म भी हो सकता है।

विकर्म अधर्माचरण को कहते हैं। अर्जुन के मन में यही संशय उठा था। अर्जुन जानना चाहता था कि युद्ध कर्म है अथवा विकर्म। अर्जुन युद्ध को छोड़कर अकर्म करने वाला बनना चाहता था। कृष्ण ने समझा दिया कि अकर्म भी कर्म ही होता है और विशेष रूप में युद्ध जैसे विषय में अकर्म अधर्माचरण का सहायक भी हो सकता है। उस अवस्था में अकर्म पाप हो जाएगा।

धर्म की विस्तृत व्याख्या भी की गई है। वैसे तो कुछ धर्म हैं जो चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए नियत हैं। यह दस लक्षणवाला धर्म है। इनकी व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं।

कुछ धर्म हैं जो उक्त दस के अतिरिक्त हैं। वे धर्म काल, आयु, परिस्थितियों और स्थान के साथ बदलते रहते हैं। इन धर्मों को श्रेणीबद्ध किया गया है। ये वर्णाश्रम धर्म कहाते हैं। भारतीय समाजशास्त्री मानव समाज को चार वर्गों में बाँटते हैं। ये वर्ग भारतीय समाजशास्त्र में वर्ण कहे गए हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के लिए नियत कर्मों को नियत धर्म कहते हैं। गीता में इस विषय में लिखा है कि परमात्मा ने इस सृष्टि में गुण, कर्म और स्वभाव के विचार से चार प्रकार के लोग पैदा किए हैं। इन वर्गों को वर्ण कहते हैं। परमात्मा ऐसी सृष्टि करता हुआ भी अकर्ता ही है।[२]

उक्त श्लोक (४—१३) में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि वर्णों की

---

१. सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। श्वे० उ०, १—६

२. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

—भ० गी०, ४—१३

[ गीता में श्रीकृष्ण परमात्मा के लिए 'मैं', 'मेरा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह श्रीकृष्ण के उस समय योगयुक्त अवस्था में होने के कारण है। इस कारण उन्होंने गीता के पूर्ण प्रवचन में अपने को परमात्मा से एकरूप होकर ही बात की है। ब्रह्मलीन व्यक्तियों के लिए यह किसी प्रकार अनोखी बात नहीं है।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



व्यवस्था परमात्मा ने की है। दूसरे, इनका विभाजन गुण, स्वभाव और कर्म के अनुसार है, जन्म के अनुसार नहीं।

परमात्मा ने वर्ण नहीं बनाए। यह तो मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव से उनमें जाता है। परमात्मा ने तो चार प्रकार के गुण, कर्म, और स्वभाव बनाए हैं और जो मनुष्य जैसा-जैसा गुण, कर्म तथा स्वभाव रखता है, वैसा उसमें मान लिया जाता है। इस व्यवस्थानुसार मनुष्य को व्यवहार रखना चाहिए।

गीता में जहाँ-जहाँ भी वर्णों का उल्लेख है, वहाँ गुण-कर्म और स्वभाव से ही इनका उल्लेख है। इनको जन्म से नहीं माना। स्वभाव पूर्वजन्म के कर्मों से भी प्राप्त होता है। फिर भी स्वभाव-निर्माण में इस जन्म का वातावरण प्रमुख होता है।

गीता में कर्म करनेवाला आत्मा माना है। श्लोक ३—४२ में लिखा है कि इंद्रियों के ऊपर मन है, मन के ऊपर बुद्धि है और बुद्धि से भी ऊपर आत्मा है। फिर श्लोक ३—४३ में कहा है कि आत्मा से बुद्धि को नियंत्रित रखो।

इस प्रकार आत्मा को कर्म का कर्त्ता माना है। सांख्यदर्शन और प्रश्नोपषिद् में भी आत्मा को कर्त्ता माना है, ऐसा हम पहले बता चुके हैं।

अतः आत्मा कर्म करता है। आत्मा के लक्षण न्याय और वैशेषिक दर्शनों में बताए गए हैं। ये लक्षण भी हम पहले बता चुके हैं। सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये आत्मा के लक्षण हैं। आत्मा सुख-प्राप्ति और दुःख-निवारण के लिए प्रयत्न करता है, अथवा इच्छा की पूर्ति के लिए यत्न करता है। ये सब गुण चेतन तत्त्व में ही हो सकते हैं। अचेतन तत्त्व में इच्छा और प्रयत्न नहीं होते।

अतः कर्मों का स्रोत आत्मा है। यही प्रयत्न करता है इच्छा की पूर्ति के लिए, सुखों की प्राप्ति के लिए, दुःखों के निवारण के लिए। ऐसा कोई अचेतन कर्त्ता दिखाई नहीं देता। इसी कारण यह कहा जाता है कि आत्मा कर्म करता है।

परंतु आत्मा अकारण कर्म नहीं करता। सुख की अनुभूति ही संस्कार बनकर मन पर पड़ जाती है। उन संस्कारों के कारण सुख की प्राप्ति के लिए यत्न होने लगता है। इसी प्रकार दुःख की अनुभूति संस्कार बन जाती है। तब उसकी निवृत्ति के लिए यत्न आरंभ हो जाता है।

सुख, दुःख और इच्छा तो प्रेरक हो जाते हैं और प्रयत्न कर्म हो जाता है। यह आत्मा ही करता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि अच्छे अथवा बुरे नियत कर्म कैसे होते हैं? इसका उत्तर गीता में विद्यमान है। चारों वर्णों में समाज का विभाजन गुण और कर्म से किया गया है। ये गुण स्वभावजन्य होते हैं। भगवान् लिखते हैं कि समाज का बँटवारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में कर्म के आधार पर किया गया है और कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों से किए जाते हैं।[१]

---

१. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

—भ० गी, १८—४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अतः गीता के मतानुसार गुणों से कर्म होते हैं, परंतु गुण उत्पन्न होते हैं स्वभाव से। इस कारण निर्णयात्मक प्रश्न यह रह जाता है कि स्वभाव क्या है, कहाँ रहता है और कैसे उत्पन्न होता है? स्वभाव का दूसरा नाम प्रकृति भी है; परंतु यह प्रकृति जगत् का मूल उपादान कारण नहीं, यद्यपि स्वभाव के निवास-स्थान और इसके निर्माण में प्रकृति का भारी हाथ होता है।

गुण को योग्यता के अर्थों में समझना चाहिए और स्वभाव का अर्थ प्रवृत्ति अथवा रुचि होता है। रुचि अथवा प्रवृत्ति गुणों (योग्यता) के निर्माण में कैसे भाग लेती है, यह निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है। एक वैश्य का पुत्र, वैश्य के घर में पला हुआ, सहज ही व्यापार में प्रवीण हो जाता है। इसके विपरीत ब्राह्मण के घर में पला लड़का वैश्य का कार्य सहज में करने के योग्य नहीं होता। यदि वह कहीं किसी प्रकार का व्यापार करने भी लगे तो वह उसमें उतना कुशल नहीं हो सकता, जितना वैश्य के घर में पला लड़का।

इसी प्रकार यह देखने में आता है कि अध्यापक का पुत्र प्रायः अध्यापक और वकील का पुत्र वकील ही बनता है। यह घर के संस्कारों के कारण है।

हमने बताया कि स्वभाव संस्कारों का दूसरा नाम है। अभिप्राय यह कि संस्कार गुण उत्पन्न करने में योगदान करते हैं। संस्कारों का स्थान मन है। मन जन्म-मरण में आत्मा के साथ-साथ जाता है। अतः एक जन्म के संस्कार अगले जन्म में भी चले जाते हैं। साथ ही वर्तमान जन्म में भी संस्कार बटोरे जाते हैं। ये संस्कार ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव ही होते हैं। इंद्रियों से संग्रह किए अनुभव जब मन में बैठ जाते हैं तो ये संस्कार बन जाते हैं। संस्कार काल व्यतीत होने के साथ-साथ मंद भी होते जाते हैं।

इन संस्कारों अर्थात् स्वभाव के अधीन गुण उत्पन्न होते हैं। गुणों के अनुसार आत्मा के आदेश से कर्म किए जाते हैं। संस्कार से गुण और गुणों से कर्म उत्पन्न होने में बुद्धि एक अत्यावश्यक भाग लेती है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। एक ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण परिवार के संस्कार लिये हुए किसी विवशता के कारण राज्य में सेवा-कार्य स्वीकार कर लेता है। दिन-प्रतिदिन वह राज्याधिकारियों की अधर्मयुक्त आज्ञाओं को सुनकर मन में ग्लानि अनुभव करता है, परंतु वह उस ग्लानि को भीतर-ही-भीतर पी जाता है और अधिकारी के आदेशों का पालन करता जाता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि वह अपने स्वभाव अथवा संस्कारों के विपरीत कैसे कार्य करता है? इसका उत्तर यह है कि स्वभाव उसको प्रेरणा देता है कि नौकरी छोड़ दे, परंतु बुद्धि उसे उसकी विवशता का दर्शन कराती रहती है। वह विचार करता है कि नौकरी छोड़ देगा तो अपना, पत्नी का और बच्चों का पालन-पोषण तथा शिक्षा इत्यादि का प्रबंध कैसे करेगा?

बुद्धि उसे अपने स्वभाव के विपरीत कार्य करने में प्रवृत्त करती है। परंतु कुछ कालोपरांत बुद्धि की प्रेरणा से स्वभाव में परिवर्तन होने लगता है। बार-बार अधिकारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के अधर्मयुक्त आदेशों के पालन करने से नवीन संस्कार बनने लगते हैं, जो प्राय: शूद्र वर्ण के होते हैं।

इसी कारण भगवान् कृष्ण कहते हैं कि अपना धर्म (वर्ण) न्यून गुणवाला भी क्यों न हो, दूसरे (वर्ण) के धर्म से श्रेष्ठ होता है। अपने धर्म में मरना भी ठीक है, दूसरे का धर्म सदा भय का कारण होता है। यहाँ श्रेय और भय के अर्थ समझ लेने चाहिए। श्रेय का अर्थ है जिससे आत्मा का कल्याण हो और भय का अर्थ 'आत्मा' के लिए भय का कारण ही मानना चाहिए। विपरीत संस्कार उलट-पुलट कर्म कराने लगते हैं।[१]

पूर्वोक्त उदाहरण पर एक बार फिर विचार करें। ब्राह्मण स्वभाव का व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों से विवश हो अधर्म युक्त आदेशों का पालन करता हुआ अधर्म करने का स्वभाव बना लेता है। तब वह स्वभाववश अधर्माचरण करने लगता है। यह है भय की स्थिति। इसी कारण भगवान् कृष्ण ने कहा है कि अपने वर्ण-धर्म के अनुसार कार्य करना मनुष्य के लिए ठीक है। तब वह अपने वर्णानुसार कर्म करता हुआ अपनी आत्मा को उन्नत कर सकता है। अपने (वर्ण के) कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि (मोक्ष) भी प्राप्त कर सकता है।[२]

हमने यह बताया है कि आत्मा कर्म तो करता है, परंतु मनुष्य के गुण और स्वभाव उन कर्मों को दिशा देते हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि स्वभाव संस्कारों का दूसरा नाम है और वे गुण निर्माण में सहायक हो जाते हैं। गुण जब बन जाते हैं तो ये स्वभाव के निर्माण में सहायक हो जाते हैं। इस प्रकार ये एक-दूसरे के सहायक हैं।

कुछ लोग आत्मा को अकर्त्ता मानते हैं। वास्तव में वे जीवात्मा और परमात्मा को एक समझने में भूल कर रहे होते हैं। परमात्मा अकर्त्ता है। उसका कारण यह है कि जीवात्मा अपनी अज्ञता के कारण प्रकृति का भोग करना चाहता है। इससे कर्म की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा अज्ञ है और परमात्मा ज्ञानवान् है। यह सिद्धांत वेद-शास्त्रों में स्पष्ट कहा है। परमात्मा प्रकृति का भोग नहीं करता। ज्ञानवान होने के कारण उसे इस भोग की आवश्यकता नहीं रहती। जीवात्मा ज्ञानहीन होने से प्रकृति का भोग करता है। इससे उसमें भोग की इच्छा अथवा कामना उत्पन्न होती है।

इसे ऋग्वेद में इस प्रकार लिखा है कि प्रकृति एक वृक्ष है और उस पर दो पक्षी बैठे हैं। एक वृक्ष के फल खाता है और दूसरा नहीं खाता। वह साक्षी के रूप में बैठा है। ये दोनों

---

१. श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह: ॥

—भ० गी०, ३—३५

२. स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।
स्वकर्मनिरत: सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

—भ० गी०, १८—४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पक्षी सुंदर और सजातीय हैं।[१] इनको सजातीय इस कारण कहा है कि दोनों चेतन स्वरूप, अनादि और अक्षर हैं। दोनों अव्यक्त और अव्यय हैं। एक (आत्मा) प्रकृति का भोग करता है और दूसरा (परमात्मा) भोग नहीं करता। वह साक्षीरूप ही देखता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है कि आत्मा और परमात्मा दो (चेतन तत्त्व) हैं। एक ज्ञानवान है, दूसरा अज्ञानी है। दोनों अजन्मा हैं। एक मूल प्रकृति भी अजन्मा है। वह भोक्ता के भोग के अर्थ से युक्त है। परमात्मा अनन्त है, विश्वव्यापी और उसका रचयिता है। वह अकर्त्ता है। इन तीनों अजन्मों को ब्रह्म कहते हैं।[२]

हमारा यहाँ इतना अभिप्राय है कि जीवात्मा प्रकृति का भोग करता है। इस कारण कर्म करता है। भोग ही तो कर्म है, परंतु किसका भोग करना है और कितना भोग करना है, यह गुण और स्वभाव प्रेरणा देते हैं। गुण और स्वभाव पर बुद्धि का नियंत्रण है। गुण और स्वभाव इंद्रियों और मन के विषय हैं और इन पर बुद्धि का नियंत्रण रहता है।

आत्मा अनेक (असंख्य) हैं। उनके साथ बुद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न रहती हैं। भोग भी अनेक हैं। अतः कर्म अनेक हैं, उनके फल भी अनेक प्रकार के हैं।

भगवद्गीता में कर्म के पाँच हेतु बताए हैं। कर्म जीवात्मा करता है। अतः वह हेतु है ही, परंतु उसके कर्म को दिशा देने और कर्म को सम्पन्न करने के लिए पाँच अन्य हेतु भी हैं। वे हेतु इस प्रकार हैं[३]—(१) अधिष्ठान, (२) करण, (३) चेष्टा, (४) दैव और (५) कर्त्ता। अधिष्ठान का अभिप्राय शरीर है। कर्ता से अभिप्राय आत्मा का है। करण से भाव मन, बुद्धि और इंद्रियों का है। चेष्टा का अर्थ है प्रयत्न (प्राण) और दैव (भाग्य) से अभिप्राय पूर्वजन्म के कर्म-फल हैं।

कर्म अथवा विकर्म, जो कुछ भी मनुष्य करता है, उसमें ये ही हेतु होते हैं। पर केवल आत्मा ही कर्त्ता नहीं। जो केवल आत्मा को कर्त्ता मानते हैं वे दुर्मति हैं, उनकी बुद्धि मलिन है।[४] इसका अभिप्राय यह है कि मन के संस्कार इंद्रियों को विषयों की ओर

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ०, १/१६४/२०

२. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्तात्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

—श्वे० उ०, १—९

३. पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥

—भ० गी०, १८—१३, १४

४. तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ —भ० गी०,१८—१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आकर्षित करते हैं और बुद्धि का सत्य अथवा मिथ्या विश्लेषण, कार्य को दिशा देता है। अतः बुद्धि को परिष्कृत करना होता है और साथ ही मन तथा इंद्रियों को ठीक रखना होता है। मन पर ठीक संस्कार बैठाने होते हैं, तभी कर्म ठीक प्रकार से किया जा सकता है।

उदाहरण के रूप में किसी कारखाने का प्रबंधक अथवा स्वामी ठीक और सबल होना ही चाहिए। परंतु यह कहना कि स्वामी अथवा प्रबंधक अकेला कारखाना चला लेगा, मूर्खता है। कारखाने में मशीनें, इमारत, कच्चा माल और कर्मचारी सब ठीक होने चाहिए। यदि मशीनें घटिया हैं, इमारत टूटी-फूटी है, कच्चा माल ठीक ढंग का नहीं मिलता और कारखाने में काम करनेवाले कर्मचारी अशिक्षित और विद्रोही हैं, तो भला कारखाने का स्वामी क्या कर सकेगा? कारखाना नहीं चलेगा। फिर भी इसका उत्तरदायित्व स्वामी पर ही होता है। बिना उसके आदेश के कुछ बन नहीं सकता। साथ ही एक साबुन के कारखाने में, कपड़ा धोने का साबुन अथवा नहाने का, हाथ-मुँह धोने का साबुन बने या फर्श साफ करने का, इसका आदेश स्वामी ही देता है। स्वामी उस बने माल के लिए उत्तरदायी है। यहाँ तक कि मशीनें साफ नहीं रखी गईं, कर्मचारी संतुष्ट नहीं रखे गए, उनको वेतन उचित और ठीक समय पर नहीं दिया गया, इसका भी उत्तरदायित्व स्वामी का ही होता है।

इसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी एक कारखाना है। आत्मा इसका स्वामी है। मन, बुद्धि और इंद्रियाँ मशीनें तथा कर्मचारी हैं। मन और बुद्धि को साफ और तेल इत्यादि देकर कार्य के योग्य रखना चाहिए। इंद्रियाँ और शरीर पुष्ट तथा नियंत्रण में रहनी चाहिए। इन सबको ठीक प्रकार से रखने का उत्तरदायित्व आत्मा का ही है। वही इन सबसे काम लेता है।

अतः पूर्वोक्त कथन (१८-१३,१४) का अभिप्राय यह है कि यद्यपि कर्म के हेतु पाँच हैं परंतु आत्मा (कर्त्ता) मुख्य है और उत्तरदायी है। पर यह अकेला ही हेतु नहीं। कारण यह कि एक कारखाने की भाँति सबका अपना-अपना काम है और परस्पर के सहयोग के बिना कार्य हो ही नहीं सकता। कर्म में पाँचों साधन हैं। यद्यपि उत्तरदायी कर्त्ता (आत्मा) ही है। हेतुओं में भी केवल कर्त्ता से अभिप्राय यह है कि कर्त्ता भी एक हेतु है, परंतु (श्लोक ३—४३ के अनुसार) आत्मा मन, बुद्धि और इंद्रियों से ऊपर है और उसके आदेश पर ही कर्म होता है।

यहाँ हम अधिष्ठान के विषय में लिख देना चाहते हैं। अधिष्ठान का अर्थ है आधार अथवा वह स्थान और केंद्र जिसमें रहते हुए कर्म करना होता है। मनुष्यों में यह आधार शरीर है।

शरीर भी सुदृढ़, कार्य-कुशल, चपल और स्वस्थ होना चाहिए। किसी कारखाने में इसकी तुलना इमारत से की जा सकती है। कारखाने के कर्मचारियों की तुलना शरीर की इंद्रियों के साथ हो सकती है। मन उन्हें नियंत्रित करता है और बुद्धि विचारक (डिज़ाइनर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का काम करती है।

यहाँ हमने भगवद्‌गीता के मतानुसार कर्म के स्रोतों का वर्णन किया है। गीता में यह भी कहा है कि यह 'सांख्य' के मतानुसार है।

सांख्य का मत है कि आत्मा और प्रकृति अजन्मा तथा अनादि हैं। मन, बुद्धि, इंद्रियाँ और शरीर प्रकृति के रूप हैं। आत्मा चेतन है। प्रकृति के ये रूप आत्मा के कर्म के करण हैं।

कर्म में मुख्य उत्तरदायी आत्मा है, परंतु इसके सहायक चार अन्य भी हैं—शरीर, मन, बुद्धि और इंद्रियाँ। कर्म में दैव (भाग्य अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मफल) भी सहायक हैं। प्रायः देखा जाता है कि एक ही प्रकार की योग्यता रखते हुए और समान रूप से परिश्रम करने पर भी, एक मनुष्य कार्य में सफल हो जाता है और दूसरा सफल नहीं होता। वह दैव अर्थात् भाग्य के अधीन होता है।

## कर्म और गुण

ऊपर बताया जा चुका है कि कर्म स्वभाव और गुणों के प्रभाव से बनते हैं (१८—४१)। ये स्वभाव संस्कारजन्य हैं। संस्कार मन पर एकत्रित होते हैं। गुण बुद्धि में रहते हैं। ये मूल प्रकृति से आते हैं।

यह बताया जा चुका है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। मूल प्रकृति की अवस्था में तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। यह साम्यावस्था भंग होती है तो इसका परिणाम होता है महत्। 'महत्' में कहीं सत्त्व गुण प्रधान होता है, कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण। साथ ही कौन गुण कितना अधिक होता है और कौन कितना कम, यह भी भिन्न-भिन्न महत् के अंशों में भिन्न-भिन्न मात्रा में होगा। अतः महत् की अवस्था असंख्य प्रकार की हो जाती है। महत् का एक अंश बुद्धि है। किसी एक की बुद्धि में सतोगुण प्रधान होता है, किसी दूसरे की बुद्धि में रजोगुण और तीसरे की बुद्धि में तमोगुण। साथ ही किसी में प्रधान गुण और गौण गुणों का अनुपात कुछ होता है तथा किसी में अनुपात कुछ और।

इस प्रकार बुद्धियाँ अनेक होती हैं। अतः जब ज्ञानेंद्रियों से किसी वस्तु का ज्ञान मन में पहुँचता है तो वहाँ उस ज्ञान की, पूर्व संचित संस्कारों से तुलना होती है और फिर बुद्धि उसमें अपनी सम्मति आत्मा पर प्रतिबिम्बित करती है। बुद्धि के कार्य पर उसमें उपस्थित प्रधान गुण का प्रभाव पड़ता है, और उस प्रभाव पर आत्मा कार्य करता है।

बुद्धि को सात्त्विक रखने के लिए कुछ उपाय बताए गए हैं। उन उपायों से मनुष्य की बुद्धि सतोगुणी हो सकती है। वैसे तो सात्त्विक गुण, गौण अथवा प्रधान रूप में प्रत्येक बुद्धि में सदा विद्यमान रहता है। प्रयत्न केवल यह करना होता है कि यह गौण न रहकर प्रधान स्थिति में आ जाए। इन उपायों का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ हम यह बताना चाहते हैं कि सतोगुण प्रधान बुद्धि के क्या लक्षण हैं और रजोगुण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तथा तमोगुण प्रधान बुद्धियों के क्या लक्षण हैं।

भगवद्गीता में यह भलीभाँति बताया गया है कि जो बुद्धि निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, भय और अभय, मोक्ष और बंधन को तत्त्व से जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक कही जाती है।

जो बुद्धि धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य इत्यादि को ठीक रूप में नहीं जानती वह बुद्धि राजसी बुद्धि है। जो बुद्धि धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानती है, अज्ञान से ढकी हुई है और जो सब कामों को विपरीत ही समझती है, वह बुद्धि तामसी कहलाती है।[१]

इसका अर्थ यह है कि सात्त्विक बुद्धि धर्म-अधर्म का ठीक ज्ञान रखने से शुद्ध निर्णय कर सकती है और आत्मा को उचित व्यवहार अपनाने के लिए कह सकती है। राजसी बुद्धि को यथावत् ज्ञान नहीं होता। अतः उचित ज्ञान न होने से यह बुद्धि किसी सात्त्विक बुद्धि की सहायता की आवश्यकता रखती है। तामसी बुद्धि तो अधर्म को धर्म समझनेवाली होती है। इसे यदि कोई यह बताए कि वह मिथ्या दृष्टि रखती है तो यह बतानेवाले को ही मिथ्या समझने लगती है। अर्थात् शुभ सम्मति देनेवाले को ही अशुभ मानने लगती है।

अतः आत्मा के कर्मों पर बुद्धि का बहुत अधिक प्रभाव होता है। यह इस प्रकार है—जैसे किसी नौपोत में लगा कम्पास बिगड़ जाए तो पोत का स्वामी पोत को अनिश्चित दिशा में ले चलेगा। यही तामसी बुद्धि की बात है। जब कम्पास ठीक काम न कर रहा हो और दिशा बताने का सामर्थ्य न रखता हो तो बिगड़े कम्पास का दूसरे कम्पास से, जो ठीक कार्य करता है, मिलान कर दिशा ग्रहण की जा सकती है। यह राजसी बुद्धि की-सी बात हो जाएगी, जो किसी सात्त्विक बुद्धि की सहायता ले रही हो।

कभी कम्पास उल्टी दिशा बता सकता है। कम्पास की सुई और उसके नीचे कर्म करनेवाले चुम्बक में समन्वय नहीं रहता। ऐसा कम्पास ठीक कम्पास को अशुद्ध बताएगा। यही कार्य तामसी बुद्धि करती है। स्वयं मिथ्या होती है। साथ ही भले लोगों को भी मिथ्या मार्ग बताती रहती है।

हमने बताया है कि मुख्य रूप में बुद्धियाँ तीन श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं। सात्त्विक, राजसी और तामसी। इन तीनों के बीच में असंख्य प्रकार की बुद्धियाँ मिलती हैं।

---

१. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

—भ० गी०, १८—३०, ३१, ३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जीवात्मा असंख्य हैं। असंख्य प्रकार की बुद्धियाँ हैं और फिर जीवात्माओं के भोग के लिए व्यक्त प्रकृति के असंख्य रूप हैं। भोग असंख्य होने से कर्म भी असंख्य प्रकार के हैं। फिर भी मोटे तौर पर बुद्धियों के अनुसार कर्म भी तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। कर्मों के भी, गुण के विचार से लक्षण किए गए हैं। कहा है कि जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया गया है अथवा वर्ण-धर्म के अनुकूल संग (स्पृहा) से रहित, निष्काम भाव से, राग और द्वेषरहित होकर किया जाए, वह कर्म सात्त्विक लक्षणोंवाला कहलाता है।

जो कर्म बहुत परिश्रम से किया जाए तथा फल की इच्छा से किया जाए और अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाए, वह कर्म राजसी लक्षणवाला होता है।

और जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार किए बिना, केवल अज्ञान से आरंभ किया जाए वह तामसिक लक्षणवाला कर्म माना जाएगा।[१]

हमने यह बताया है कि प्रकृति के तीनों गुण बुद्धि में प्रधान तथा गौण हो जाने से बुद्धियाँ त्रिगुणात्मक हो जाती हैं। बुद्धि को स्थिर करने के लिए कर्म को सत्त्वस्थ और बुद्धि को भी सत्त्वस्थ होना अर्थात् सात्त्विक गुणमयी होना चाहिए।

प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के धर्मों का सांख्य में इस प्रकार वर्णन आया है। गुणों का प्रीति, अप्रीति और विषाद आदि परस्पर वैधर्म्य है।[२]

प्रीति का अभिप्राय है आकर्षण, अप्रीति का अर्थ विकर्षण है और विषाद का अर्थ है तटस्थता।

इस प्रीति-अप्रीति इत्यादि के मुख्य तथा न्यूनाधिक होने से ही अनेक प्रकार के गुण और कर्म बनते हैं। इन्हीं से आत्मा और मन प्रभावित होते हैं। सांख्यदर्शन कहता है कि गुणादि का प्रयोग आत्मा द्वारा होता है।[३]

अभिप्राय यह कि बुद्धि (महत्) में गुण ही विशेष कार्य करते हैं और बुद्धि का प्रभाव आत्मा और कर्म पर होता है। अतः गुण का प्रभाव आत्मा पर होता है। यह बुद्धि

---

१. नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य चपौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥

—भ० गी०, १८—२३, २४, २५

२. प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्।

—सांख्य, १—१२७

३. गुणादीनांच नात्यन्तबाधः।

—सांख्य, ५—२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



द्वारा होता है, बुद्धि ज्ञान उपलब्धि में काम आती है। अतः ज्ञान पर गुणों का प्रभाव होता है, तदनन्तर कर्म पर भी गुणों का प्रभाव होता है। अतः ज्ञान भी सात्त्विक, राजसी और तामसी होता है और कर्म भी सात्त्विक, राजसी और तामसी होता है। इनके विषय में गीता के अठारहवें अध्याय के श्लोक २०, २२, २३, २४, २५ में विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस सबके लिखने का अभिप्राय यह है कि बुद्धि से ज्ञान, ज्ञान से आत्मा तथा आत्मा से कर्म सात्त्विक, राजसी और तामसी होते हैं। सात्त्विक, राजसी और तामसी बुद्धि ही सबकुछ कराती है, और यह प्रकृति के सत्त्व, रजस् तथा तमस् से प्रभावित होती है।

यह भी स्पष्ट है कि सात्त्विक बुद्धि समत्व का भाव उत्पन्न करती है। राजसी बुद्धि राग उत्पन्न करती है और तामसी विरोध (द्वेष) की सूचक है।

## कर्म-बंधन

हम पहले बता चुके हैं कि कर्म का फल मिलता है और फल भोगते समय पुनः कर्म होता है और फिर उसका भी फल मिलता है। इस प्रकार कर्म-कर्मफल, पुनः कर्म तथा कर्मफल की एक शृंखला बन जाती है जो टूटनी सुगम नहीं। जब तक जीवात्मा इस शृंखला में फँसा रहता है, जन्म-मरण के बंधन में बँधा रहता है। यही है कर्म-बंधन।

जीवात्मा जब यह समझ पाता है तो वह इस जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होना चाहता है। जन्म-मरण की प्रक्रिया अति दुःखकारक है और इससे निवृत्ति एक परम साध्य अवस्था है। इसी कारण भारतीय दर्शनशास्त्रों का लक्ष्य है तीन प्रकार के दुःखों से अत्यंत निवृत्ति। यही पुरुष के पुरुषार्थ का अंतिम लक्ष्य है।[१] मानव प्राणी में तीनों प्रकार के दुःख अनुभव किए जाते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

आध्यात्मिक दुःख वे हैं जो सीधे आत्मा पर प्रभाव डालते हैं। ये प्रायः बुद्धि और मन के दुःखों के आत्मा पर प्रतिबिम्बित होने पर होते हैं। ऐसी अवस्था में आत्मा व्याकुल हो उठता है और वह शरीर सम्बन्धी सब कार्यों को छोड़ देने पर तैयार हो जाता है। ये दुःख प्रायः काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारों से उत्पन्न होते हैं।

आधिभौतिक दुःख शरीर के रोग हैं, जो खान-पान, रहन-सहन अथवा दूसरे प्राणियों से प्राप्त होते हैं। आधिदैविक उन दुःखों को कहते हैं जो प्राकृतिक शक्तियों से प्राप्त होते हैं। ज्यों ही आत्मा को ज्ञान प्राप्त होता है वह इन दुःखों को शरीर और प्रकृति

---

१. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

—सां० द०, १—१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के संबंध से मानने लगता है और वह इनसे छूटने की इच्छा करने लगता है, जन्म-मरण के बंधन से विनिर्मुक्त होना चाहता है।

जीवात्मा कर्म का कर्त्ता और भोक्ता है। वही कर्म-बंधन में बँधनेवाला है। उससे छूटने का उपाय भी गीता में वर्णित है। गीता का उपाय है निष्काम भाव से कर्म करना। गीता में इसे 'कर्मयोग' कहा गया है।

भगवान् कहते हैं, आसक्ति से रहित होकर ज्ञानवान चित्तवाला और यज्ञार्थ (लोककल्याण के लिए) किया गया कर्म पुरुष को नहीं बाँधता।

यह भी कहा है कि जो पुरुष सब कामों को परमात्मा के अर्पण करके आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह जल में कमलपत्र की तरह पापों में लिप्त नहीं होता।

कर्मयोगी कर्म के फल की इच्छा छोड़कर दृढ़ संकल्पवाला शांति को प्राप्त करता है और सकामी पुरुष फल में आसक्त हुआ कामनाओं के द्वारा बँधता है।[१]

परंतु आसक्तिरहित होना, निष्काम भाव से कर्म करने का स्वभाव बनाना तथा समत्व भाव उत्पन्न करना सुगम कार्य नहीं है। इसके लिए यज्ञरूप कर्म करने के भाव को समझना चाहिए और यज्ञरूप कार्य करना चाहिए। अभिप्राय यह कि जीवन के प्रत्येक कार्य को परमात्मा के अर्पण कर देना चाहिए। यज्ञ के विषय में हम आगे चलकर लिखेंगे।

कर्मयोग की प्रवृत्ति पैदा करने के लिए योग साधना दूसरा उपाय है। इसके विषय में एक पृथक् अध्याय में लिखेंगे। योग से बुद्धि निर्मल और विकसित हो जाती है और उससे मनुष्य ज्ञानवान होकर धर्म-अधर्म में अंतर जानने लगता है तथा तदनुसार अपने व्यवहार को ठीक कर सकता है।

एक तीसरा उपाय भी है। वह है भक्ति मार्ग का। इस विषय में भी हम व्याख्या सहित गीता का मत लिखेंगे।

मनुष्य को इस संसार में रहते हुए, सब प्रकार के कर्म करते हुए भी कर्म से अलिप्त रहने का अभ्यास करने के लिए ये तीन उपाय हैं—यज्ञ, योग और भक्ति। योग

---

१. गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोतिनैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः॥
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति॥

—भ० गी०, ४—२३, ५—१०, ५—१२, २—७१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का अर्थ योगाभ्यास है।

गीता का यह निर्विवाद मत है कि कर्म करना ही है। इस संसार में रहते हुए कर्म से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः कर्म से अलिप्त रहने के लिए कर्मयोग का पालन करना चाहिए। कर्मयोग के लिए मन, बुद्धि और आत्मा तैयार हो, इसके लिए गीता में उपर्युक्त तीन उपाय बताए गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ परिच्छेद

# कर्म-बंधन से मुक्ति

## यज्ञ

भगवान् ने कर्म-बंधन से मुक्ति के लिए कर्मयोग की व्याख्या की है। कर्मयोग मन की एक अवस्था विशेष में ही संभव हो सकता है। उस अवस्था-विशेष की उपलब्धि के लिए यज्ञ एक साधन है।

साधारण रूप में हवन करने को यज्ञ कहते हैं। परंतु गीता केवल हवन को ही यज्ञ नहीं मानती। हाँ, हवन भी एक प्रकार का यज्ञ है। वस्तुतः यज्ञ एक व्यापक अर्थवाला शब्द है। मनुष्य के प्रायः सब कर्म इसकी परिधि में आ सकते हैं। किसी कर्मविशेष से यज्ञ शब्द का संबंध नहीं है। यज्ञ, कर्म करते समय एक प्रकार की भावना को कहते हैं।

यज्ञ के विषय में भगवान् कृष्ण ने गीता में लिखा है कि प्राणी की सृष्टि करते समय ब्रह्मा ने यज्ञ की कल्पना की और तब से यज्ञ मनुष्य का एक परम पावन कर्त्तव्य रहा है। इसमें मनुष्य देवताओं अर्थात् भौतिक विभूतियों को प्रसन्न करता है और देवता यज्ञ करनेवाले को सुखी रखते हैं।

आगे यह भी कहा है कि जीवन के मुख्य साधनों को यज्ञ में व्यय करे और अपने भरण-पोषण अर्थात् निर्वाह के लिए, यज्ञ से शेष बचा हुआ स्वीकार करे।[1]

---

१. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यौ भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

—भ० गी०, ३—९, १०, ११, १२, १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



श्लोक ३—९ में यज्ञ की ही विवेचना दी है। भगवान् कहते हैं कि यज्ञ के निमित्त किया हुआ कर्म इस लोक में बंधन रूप नहीं है। इसलिए यज्ञ के निमित्त कर्म करता हुआ मनुष्य बंधन से मुक्त होगा। इसका अर्थ यह है कि नित्य, नैमित्तिक और काम्य, सभी कर्म यज्ञ के रूप में किए जाने चाहिएँ। वे कर्म बाँधते नहीं। अत: आसक्तिरहित (मुक्त-संग:) होकर कर्म करे। कर्म अपने सुख-भोग तथा पुत्र-कलत्र के निमित्त करे तो कर्म-बंधन से मुक्त नहीं हो सकेगा।

अत: यज्ञ की परिभाषा, जो इन श्लोकों में की गई है, वह मुक्त संग होने की ही है। प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं जीवन-निर्वाह किस प्रकार करे? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने श्लोक ३—१३ में दिया है। तदनुसार यज्ञ से बचे हुए पदार्थ का भोग करने से श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं। जो बिना यज्ञ किए अपने लिए ही भोग्य सामग्री एकत्रित करता है, वह पाप का भोजन करता है।

कितना यज्ञरूप में और कितना अपने भोग-साधन में व्यय करे? इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करे। यदि एक व्यक्ति का परिवार लम्बा-चौड़ा है, उसका निर्वाह पाँच सौ, एक सहस्र अथवा इससे भी अधिक दो सहस्र रुपए मासिक में होता है, बच्चों की शिक्षा आदि पर सैकड़ों रुपए व्यय होते हैं तो वह उसको बचाकर शेष सबकुछ यज्ञार्थ व्यय कर दे।

आज के युग में एक समस्या यह उत्पन्न हो गई है कि जनसाधारण की आय, व्यय के अनुपात में कम हो गई है। आय और व्यय में अंतर दो प्रकार से कम हुआ है। एक तो भोग्य सामग्री बहुत महँगी हो गई है और दूसरे, समाज में रहने के लिए आडंबरप्रियता और सुखों की लालसा इतनी अधिक हो गई है कि बढ़ी हुई आय भी कम पड़ती है।

यह स्थान और यह पुस्तक इस विषय की विवेचना करने के लिए नहीं है। फिर भी इतना समझा जा सकता है कि व्यक्ति आवश्यक और अनावश्यक खर्चे में रेखा खींचकर सब अनावश्यक खर्चों को बंद कर बचत को यज्ञार्थ व्यय करे तो कल्याण का भागी होगा।

भगवद्‌गीता का कथन है कि वे लोग जो यज्ञार्थ व्यय नहीं करते, वे पाप का भोग करते हैं। समाज के वर्तमान व्यवस्थापक यह कहते हैं कि समाज का प्रतिनिधि (राज्य) जनता के स्थान पर स्वयं यज्ञ कार्य करता है। राज्य आरोग्यशालाएँ (हस्पताल) खोलता है, स्कूल और कॉलेज चलाता है, होटल खोल रहा है, सड़कें बना रहा है और कुएँ लगवा रहा है, अन्वेषण कार्य करा रहा है, इत्यादि।

परंतु यह कार्य तो राज्य करा रहा है और इसका फल राज्य अथवा पूर्ण समाज के भोग के लिए होगा। इसका फल यज्ञ-रूप कर्मों के फल के समान नहीं होगा। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति की आय पाँच सौ रुपए मासिक है। सरकार उससे इतना टैक्स ले लेती है कि उसके पास निर्वाह के अतिरिक्त कुछ बचता ही नहीं। उसके तीन बच्चे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



दो स्कूल जा रहे हैं, एक कॉलेज में जाता है। उनकी पढ़ाई का खर्च दो सौ रुपए के लगभग हो जाता है। उनके वस्त्र और परिवार के लिए मकान इत्यादि का खर्च देकर कुछ बचता नहीं। कभी आय से अधिक भी व्यय हो जाता है। इस मनुष्य के पास यज्ञ रूप में व्यय करने के लिए कुछ नहीं बचता। सार्वजनिक कार्य तो हो रहे हैं, सरकार करा रही है। अपनी बचत का एक बहुत बड़ा भाग परिवार-नियोजन पर लगा रही है। एक अन्य बड़ी धनराशि मंत्रिगणों के विदेशों में घूमने पर व्यय हो रही है। यह भी कई अरब रुपए से कम नहीं। बहुत बड़ा खर्च बूचड़खाने खोलने पर व्यय किया जा रहा है।

सरकार ये सब खर्च लोक-कल्याण के विचार से करती है। कम संतान होगी तो जनसंख्या कम होगी और अन्न की बचत होगी। इससे नागरिकों को खाने को अन्न मिलेगा। इसी प्रकार बूचड़खानों में पशु मारे जाएँगे तो अन्न का अपव्यय कम होगा। साथ ही विदेशी मुद्रा भी देश को मिलेगी और उससे विदेशों से मशीनरी मँगवाई जा सकेगी।

यह सब ठीक है, परंतु इस प्रकार से बचत करने को कोई व्यक्ति दूषित कार्य भी मान सकता है। धर्म और भावना का विचार छोड़ दें, तब भी ये बातें समाज के लिए अत्यंत हानिकर हैं, ऐसे विचार के लोग भी हैं और इस विचार के लोग इस लोक-कल्याण के कार्य को अकल्याण का कार्य भी मानते हैं। जो ऐसा मानता है वह अपने विचार से लोक-कल्याण नहीं कर रहा अनुभव करता है। एक व्यक्ति यह समझता है कि आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति कल्याण का मार्ग है और उससे टैक्स लेकर सरकार योरुपीय चिकित्सा प्रणाली को उन्नत कर रही है। एक अन्य व्यक्ति घी-दूध को उत्तम भोज्य पदार्थ मानता है, परंतु उससे धन छीनकर गौओं को बूचड़खाने में भेजा जा रहा है और उसको तथा जनता को घी-दूध से वंचित किया जा रहा है। सरकार तेल जमा कर वनस्पति घी के बनाने में सहायता कर रही है, इत्यादि।

अभिप्राय यह कि व्यक्ति यज्ञ को अपने विचार और मन की भावना के अनुसार करे तो फल का भागी होगा। यदि उसको फालतू आय से वंचित कर राज्य ऐसे उसके विचार के प्रतिकूल कार्य करने लगे, जिन्हें मनुष्य अपने और सर्वसाधारण के लिए हानिकर अनुभव करता है तो वह पुण्य के स्थान पर पाप का भागी हो जाएगा।

इसका अर्थ यह है कि मनुष्य की आय व्यय से अधिक होगी तभी वह यज्ञार्थ काम कर सकेगा।

श्लोक ३—११ में यह कहा गया है, 'यज्ञ द्वारा (देवान् भावयत) देवों की उन्नति करो और देवता यज्ञ करनेवाले की उन्नति करेंगे। इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए दोनों कल्याण को प्राप्त होंगे।"

देवता के दो अर्थ हैं। एक तो दिव्य प्राकृतिक शक्तियाँ और दूसरे दिव्य गुणयुक्त मनुष्य। दोनों अर्थों में ही उक्त श्लोक सार्थक होता है। मान लीजिए विद्युत् है। यह प्राकृतिक दिव्य शक्ति है। उसका ज्ञान प्राप्त कर इसमें उन्नति करना देवताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को यज्ञ से उन्नत करना होगा और उन्नत हुई विद्युत् जनसाधारण के बीसियों काम करती है। इसी प्रकार यदि योग्य वैद्य है, उसके लिए यज्ञ द्वारा उन्नति के साधन उपलब्ध कराए जाएँ। वह जनसाधारण को अपने उन्नत ज्ञान से लाभ पहुँचाएगा।

यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के साथ-साथ यज्ञ की सृष्टि भी की थी। ब्रह्मा के इस यज्ञ से लोक उन्नत हों (३—१०)। यज्ञ का एक उदाहरण देते हुए कहा है कि यज्ञ कर्म से उत्पन्न हुआ है।[१] सब प्राणी अन्न से बनते हैं। यहाँ प्राणी के शरीर से अभिप्राय है। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। ईश्वरीय यज्ञ से वर्षा होती है। अतः यज्ञ कर्म से ही सबकुछ उत्पन्न हुआ है।

यज्ञ का भावार्थ यह है कि यज्ञ एक कर्म है। कर्म करने की सामर्थ्य परमात्मा से उत्पन्न हुई है। अक्षर परमात्मा से ही जगत् उत्पन्न हुआ है। इस कारण सबसे व्यापक परमात्मा ही यह सब यज्ञ (सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और प्रलय) कर रहा है।

अतः जो मनुष्य परमात्मा द्वारा चलाए (यज्ञरूप) चक्र को नहीं चलाता और जो केवल इंद्रियों के सुख को भोगने में ही लीन रहता है, उसका जीना व्यर्थ है।

इसके विपरीत जो मनुष्य अपनी इंद्रियों का ध्यान छोड़ आत्मा (परमात्मा) के लिए प्रीति रखता है, परमात्मा की प्रसन्नता में तृप्त रहता है, परमात्मा में ही संतुष्ट रहता है, उसका कोई कार्य नहीं होता अर्थात् वह सबकुछ करता हुआ भी कुछ नहीं कर रहा, ऐसा मानना चाहिए।

ऐसा व्यक्ति संसार में कर्म करता है परंतु उसके कर्म का कुछ अर्थ नहीं होता। अन्य मनुष्यों से संबंध में उसका लेशमात्र भी स्वार्थ का भाव नहीं रहता। अर्थात् यज्ञ की भावना से कर्म करनेवाला मनुष्य कर्म-बंधन से मुक्त हो जाता है।[२]

इस प्रकार जीवन को यज्ञरूप चलानेवाले व्यक्ति को परमात्मा की उपलब्धि होती है। यज्ञकर्म परमात्मा ने आरंभ किया है और प्रत्येक यज्ञकर्म में वह स्वयं उपस्थित रहता है। इसलिए अनासक्त भाव से निरंतर कर्म में लीन रहना चाहिए क्योंकि अनासक्त भाव

---

१. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

—भ० गी०, ३—१४

२. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

—भ० गी०, ३—१५, १६, १७, १८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से कर्म करता हुआ पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है।[१]

परंतु यज्ञकर्म में भावना मुख्य है। भावना में उद्देश्य ही मुख्य है। किसी से रुपया छीनकर कोई डाकू उस रुपए से निःशुल्क औषधालय खोल देता है। जिसका रुपया छीना जाकर उस औषधालय में लगा है, वह औषधालय रूपी यज्ञ का भागी नहीं होगा। उसे उसका फल प्राप्त नहीं होगा और न ही उस डाकू को औषधालय खोलने का फल प्राप्त होगा। यह उसका यज्ञरूप कर्म नहीं है। यज्ञ का फल उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो स्वेच्छा से उस कर्म के लिए अपना परिश्रम अथवा सद्बुद्धि से अर्जित धन व्यय करता है, जिसमें वह लोक-कल्याण समझता है। यदि आयुर्वेद अथवा होम्योपैथी ढंग से चिकित्सा में लाभ देखता है और उससे अर्जित धन लेकर कोई ऐलोपैथी ढंग के हस्पताल में व्यय कर देता है तो यह उस आदमी का यज्ञ नहीं माना जाएगा। उससे धन छीननेवाला तो पापी होगा ही, परंतु साथ ही दूसरा भी यज्ञ कर्म का भागी नहीं हो सकता।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मन में कैसी भावना रखे? इसके लिए भगवान् कृष्ण ने कहा है कि यज्ञार्थ कर्म करनेवाला मनुष्य यह माने कि उसके पास धन आदि जो भी साधन हैं, वे परमात्मा के दिए हुए ही हैं। जो कुछ द्रव्य वह यज्ञकर्म में व्यय करने वाला है, वह भी परमात्मा की ही देन है। यज्ञकर्म, जिसमें धन, द्रव्य व्यय होने वाले हैं वह भी परमात्मा का कार्य ही है। यज्ञकर्म करनेवाला अपने को भी परमात्मा का सेवक ही माने और उस कर्म से जो कुछ प्राप्त होने वाला है, वह भी परमात्मा का स्वरूप ही है। यज्ञकर्म करते समय इसी भावना का संचार व्यक्ति के मन में होना चाहिए।[२]

यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिए एक व्यक्ति एक विद्यालय चला रहा है। चलानेवाला उस विद्यालय के लिए भवन, फर्नीचर, अध्यापकों के वेतन आदि के रूप में धन देता है। जब वह समझता है कि सबकुछ, जो वह दे रहा है, परमात्मा का स्वरूप ही है और विद्यालय चलाना परमात्मा का कार्य है और वह स्वयं ब्रह्म का प्रतिनिधि है, तब वह कर्म यज्ञरूप हो जाएगा।

इसका अभिप्राय यह है कि वह इस कर्म में अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं देख रहा। वह इससे यह विचार नहीं कर रहा कि उस विद्यालय से किसको लाभ होता है और किसको लाभ नहीं होता। वह उस विद्यालय, विद्यालय के कार्य करनेवालों, अपने और विद्यालय से लाभ उठानेवालों को परमात्मा का स्वरूप ही देखता है। अतः वह यज्ञकर्म

---

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

—भ० गी०, ३—१९

२. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

—भ० गी०, ४—२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर रहा है।

कोई भी कार्य जब इस भावना से किया जाए तो वह कार्य स्वतः यज्ञरूप होता है।

मान लीजिए एक गाँव में एक दुकानदार है। वह गाँव में रहनेवालों की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए नगर से सामान एकत्रित करके बेचता है। यदि इस काम में उसका उद्देश्य स्वार्थ अर्थात् केवल लाभ कमाना है, तब यह एक साधारण कार्य हो जाता है। यदि उस दुकान का माल उसने गाँव के कुछ विशेष लोगों के लिए ही मँगवाया है और दूसरों को दाम देने पर भी नहीं देता, तो उसका दुकान करना एक व्यापार-कार्य होगा। यह किसी प्रकार से पुण्य-कार्य नहीं होगा। यदि वह दुकान में से केवल अपने निर्वाह के लिए लाभांश लेकर गाँव के लोगों की सेवार्थ माल बेचता है तो उसकी यह दुकान भी पुण्य कार्य और यज्ञ का रूप ही हो जाएगी।

यज्ञ की भावना अर्थात् लोक-सेवा और लोक-कल्याण का भाव उस व्यापार को भी पुण्य-कार्य बना देगा।

यही भाव था जब भगवान् कृष्ण ने यह कहा था कि अपने-अपने वर्ण का कर्म करते हुए भी मनुष्य मोक्ष का साधक हो सकता है। (भ० गी०, १८—४५)

वास्तव में श्रीकृष्ण अर्जुन को यह समझा रहे थे कि वह युद्ध को भी यज्ञ का रूप समझकर ही करे। वह समझे कि इस युद्ध को वह ब्रह्मा का कार्य समझकर कर रहा है। तब यह पाप तो दूर रहा, उसको मोक्ष प्राप्त करानेवाला कर्म हो जाएगा। उसे, यह धर्मयुद्ध परमात्मा की ओर से चलाया हुआ युद्ध समझ, अपने को परमात्मा का एक करण मात्र मानकर लड़ना चाहिए। इससे कर्म उसे बाँधेगा नहीं।

यज्ञ की व्यापकता का वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण ने कई प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया है। यों तो सब यज्ञों में परमात्मा के परायण हो जाने की बात लिखी है, इस पर भी यज्ञों को श्रेणीबद्ध किया है।

ऐसा कहा है कि देवताओं की उपासना भी एक यज्ञ है।

श्रोत्रादि इंद्रियों को संयमित रख उनका प्रयोग लोक-कल्याण के लिए किया जा सकता है। साथ ही शब्दादि इंद्रियों के विषय का भी लोक-कल्याण कार्य में प्रयोग किया जा सकता है।[१]

श्लोक ४—२५ में देवताओं के लिए 'उपासते' शब्द का प्रयोग किया गया है। तीसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में 'भावयत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। दोनों का भाव

---

१. दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

—भ० गी०, ४—२५, २६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



एक ही है। उपासते का अर्थ है समीप बैठकर उसको समझना और भावयत् का अर्थ है उसके गुण, कर्म, स्वभाव को जानकर उन्हें उन्नत करना अर्थात् उनको प्रयोग के योग्य बना लेना। यह उपासना के उपरान्त ही हो सकता है।

श्लोक ४—२६ में इंद्रियों को अग्नि में होम करने के लिए लिखा है। अग्नि का अभिप्राय ब्रह्माग्नि ही है। अभिप्राय यह है कि इंद्रियों और उनके विषयों को परमात्मा के अर्पण कर व्यवहार करे। यह कैसे हो सकेगा? यह सुगम है। मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह श्रोत्रादि इंद्रियों के द्वारा ही करता है। इनसे कार्य भी इंद्रियों के विषयों द्वारा होता है। इन विषयों और इंद्रियों को परमात्मा के अर्पण कर कार्य करने को भी यज्ञ कहते हैं।

उदाहरण के रूप में मनुष्य कानों से कोई ऐसा समाचार सुनता है जो अपने गर्भ में किसी भयानक रहस्य को धारण कर रहा है। बुद्धि से विचार कर वह उस रहस्य को प्रकट करने का निश्चय कर लेता है, परंतु उसे प्रकट करना भय-युक्त है। ऐसी अवस्था में अपने को परमात्मा के अर्पण कर उस रहस्य को प्रकट कर दे। यह है इंद्रियों और उनके विषय को हवन करने का अर्थ।

पूर्ण शरीर को संयमित रख ईश्वर हेतु कार्य करना इंद्रिय-यज्ञ कहलाता है। इसके साथ ही इंद्रियों की चेष्टाओं और प्राणों को संयमित कर इनसे प्राप्त ज्ञान से प्रकाशित होकर आत्मा को योगाग्नि में प्रयुक्त करना भी इंद्रियों का यज्ञ ही है।[१]

ज्ञानेंद्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर कर्मेंद्रियों द्वारा ज्ञान का प्रयोग करता हुआ आत्मा को योगाग्नि अर्थात् परमात्मा में लीन करे। प्राणों के कर्म को भी परमात्मा के अधीन कर परमात्मा के अर्पण कर दे। आत्मा को संयम में रखकर परमात्मा में लीन करने का यत्न करे। यह एक अन्य प्रकार का यज्ञ है।

उक्त तीन श्लोकों में मन, इंद्रियों और उनके विषयों को लोक-कल्याण में लगाने का ही उपदेश दिया गया है। श्रीकृष्ण का भावार्थ यह था कि अर्जुन जो युद्ध के उपरांत राज्य अपने पुत्र-पौत्रों को देने की बात मन में विचार कर के युद्ध करने के लिए आया है, यह स्वार्थरत कार्य है।

अर्जुन को युद्ध भी यज्ञार्थ समझना चाहिए। यह उसके सगे-संबंधियों के लिए नहीं, वरन् लोक-कल्याण के लिए है। इस कारण वह इंद्रियों को संयमित करे। इंद्रियों के विषयों का विचार छोड़ दे और फिर अपने प्राणों अर्थात् शरीर की पूर्ण क्रियाओं को इस युद्धरूपी यज्ञ में लगाये। इंद्रियाँ, उनके विषयों और प्राणों का यह यज्ञ होगा।

---

१. सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

—भ० गी०, ४—२७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि प्राण का अर्थ साँस भीतर और बाहर करना मात्र नहीं है। प्राण पूर्ण शरीर की क्रियाओं को करनेवाली शक्ति को कहते हैं। यह शक्ति परमात्मा की देन है। इसी कारण कई स्थलों पर प्राण पद परमात्मा के स्थान पर भी प्रयुक्त किया जाता है। यहाँ प्राण से अभिप्राय उस शक्ति से है जिससे शरीर के अंग-प्रत्यंग चलते हैं। शक्ति का प्रभाव गति उत्पन्न करना है और शरीर में गति जीवन का लक्षण है। यद्यपि इन गतियों को दिशा देनेवाला जीवात्मा है, फिर भी गति तथा गति उत्पन्न करनेवाली शक्ति जीवात्मा से भिन्न है। यह ऐसे ही है जैसे मोटरकार में शक्ति पेट्रोल है। पेट्रोल की शक्ति का प्रभाव मोटरगाड़ी का चलना है। परंतु चलानेवाला ड्राइवर है, जो निश्चय करता है कि मोटर किधर जाए।

अतः शरीर की गतियों को उत्पन्न करनेवाली शक्ति का भी संयमन कर यज्ञार्थ प्रयोग किया जा सकता है। यह करना ही प्राण-यज्ञ है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि सब इंद्रियों के कर्मों को और उनसे भी ऊपर, प्राणों से हो रहे कर्मों को आत्मा द्वारा योग की अग्नि और संयमन से ज्ञान के प्रकाश में हवन करे।

अर्थ स्पष्ट है कि इंद्रियों और प्राणों द्वारा हो रहे कर्मों को आत्मा द्वारा संयमित कर परमात्मा से योगरूपी अग्नि में हवन करे।

आत्मा के परमात्मा से योग को ही अग्नि कहा है जिसका अर्थ है कि कर्म को परमात्मा के अर्पण करे। अर्थात् कर्म करे, इंद्रियों के द्वारा भी और प्राणों के द्वारा भी; परंतु उनके कर्मों को ईश्वरार्पण कर दे।

इंद्रियों के कर्म प्राणों के कर्म ही हैं। इंद्रियाँ दस हैं। कान, नाक, आँख, जिह्वा, स्पर्श तथा वाणी, हाथ-पाँव, मल तथा मूत्र निकलने के दो अंग। परंतु इसके अतिरिक्त भी शरीर की क्रियाएँ हैं, जैसे भोजन करना, पचाना, हृदय की गति और रक्त-संचालन, रस-संचालन, आँखों का खोलना, बंद करना इत्यादि। इनमें भी गति करनेवाली शक्ति प्राण की ही है।

इस प्रकार कहा है कि दोनों प्रकार की क्रियाओं को ईश्वरार्पण कर चलाये तो यह यज्ञार्थ कर्म होगा।

इन यज्ञों में पहला यज्ञ है देवताओं की उपासना और उनको उन्नत करना। दूसरे प्रकार का यज्ञ बताया है इंद्रियों को संयमित कर यज्ञरूप प्रयोग करना। तीसरा यज्ञ है विषयों का सेवन। इन्हें भी परमात्मा के अर्पण करना और यज्ञार्थ प्रयोग करना। चौथा यज्ञ है प्राणों को भी परमात्मा के अर्पण कर कार्य करना।

पाँचवाँ द्रव्ययज्ञ कहा है। कई लोग द्रव्यों का लोक-सेवा में प्रयोग करते हैं। वे द्रव्ययज्ञ करते हैं। यह यज्ञ भी ईश्वर-परायण होकर करना चाहिए।

छठा यज्ञ है स्वाध्याय। सातवाँ है तप। आठवाँ है ज्ञानयज्ञ। स्वाध्याय, तप (शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम) और प्राप्त ज्ञान को भी परमात्मा के अर्पण कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लोक-कल्याण के लिए प्रयोग करना चाहिए। लोग प्रायः द्रव्यों का प्रयोग करते देखे जाते हैं।[१]

संशित व्रत का अर्थ है कि अहिंसादि व्रत, जो कभी यज्ञरूप होते हैं, कभी नहीं। कभी अहिंसा का व्रत लोककल्याणकारी हो सकता है और कभी नहीं भी हो सकता। इसी प्रकार अन्य कार्य भी हैं जिनको करनेवाला किसी भावना से करता है और वह भावना बहुत शुभ दिखाई देती हुई भी लोक-कल्याण के लिए नहीं हो सकती।

उदाहरण के रूप में, एक व्यक्ति यह व्रत लेता है कि वह प्रतिदिन प्रातःकाल आठ बजे अपने मकान के द्वार पर पहले आनेवाले दो व्यक्तियों को एक-एक रुपया देगा। इस व्रत में न स्वार्थ है, न याचकों में भेदभाव। प्रत्यक्ष रूप में यह यज्ञ है और दान की भावना से यह व्रत लिया गया है। यह यज्ञ संशित प्रभाव उत्पन्न करनेवाला है। कुछ दुष्ट दान लेनेवालों की पंक्ति में सर्वप्रथम आ जाते हैं और एक-एक रुपया दान प्राप्त कर शराब पी लेते हैं, चरस का सेवन करते हैं अथवा वेश्यागमन करते हैं। भले और दुखी याचक तथा वृद्ध और अपाहिज पीछे रह जाने के कारण उस दान से वंचित रह जाते हैं। अतः यह यज्ञकर्म है अथवा नहीं, यह संशित है।

इसी प्रकार अहिंसा-व्रत की बात है। एक आदमी यह व्रत ले लेता है कि वह किसी भी प्राणी को नहीं मारेगा। एक साँप उसके सामने है। वह हाथ में बंदूक अथवा लाठी रखता है परंतु अपने व्रत के कारण उसको मारता नहीं। वह साँप उसको हानि पहुँचाता नहीं, परंतु किसी बच्चे का पाँव उस पर आ जाने से उसे डस लेता है। तो उस अहिंसा व्रतवाले का साँप को न मारना यज्ञ का कार्य नहीं रहा। अतः यह संशित व्रत है। ये यत्न करने (यतयः) पर ही यज्ञ का रूप ले सकते हैं। यत्न का अभिप्राय है देखभाल। इस यत्न का प्रयोग करना चाहिए; सुपात्रों को दान देना चाहिए और भले लोगों को कष्ट न देना अथवा उनकी हत्या न करना (यतयः संशित व्रताः) यज्ञ कहा जा सकता है। यह यत्न करना चाहिए।

नवाँ यज्ञ है प्राणायाम। अपान वायु को प्राणों में हवन करना और प्राणों को अपान वायु में झोंक देना अथवा प्राण और अपान दोनों प्रकार की वायुओं को रोक देना प्राणायाम कहलाता है। इसको भी यज्ञरूप में किया जा सकता है। इस प्राणायाम से शक्ति संचय होती है।

दशम प्रकार का यज्ञ है प्राणों को प्राणों में ही हवन किया जाए और आहार-विहार

---

१. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्याययज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

—भ० गी०, ४—२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को नियमानुसार बनाया जाए।[१]

प्राणायाम की प्रक्रिया यहाँ वर्णित नहीं है। यहाँ सिद्धांत रूप में बता दिया है कि प्राणायाम है और इससे प्राप्त सामर्थ्य से भी यज्ञ-रूप जीवन व्यतीत किया जा सकता है।

नियत आहार-विहार करने और शक्ति प्राप्त करने से भी मनुष्य लोक-कल्याण करने की सामर्थ्य को प्राप्त करता है।

ये कुछ यज्ञ वर्णन किए हैं। ऐसा करनेवाले विद्वान् यज्ञ करते हुए पापों से मुक्त हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण ने कहा है कि यज्ञ करने से जो शेष बच जाता है, उसको अमृत जानकर जीवन-यापन करनेवाला, सनातन ब्रह्म को जाननेवाला हो जाता है। यज्ञ से रहित पुरुष इस लोक में भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता फिर परलोक में सुख कैसे प्राप्त करेगा।[२]

यह कहा है कि यज्ञ से बचा हुआ जो कुछ है उसे अमृततुल्य मानकर सेवन करने वाला व्यक्ति सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है। इसमें युक्ति भी दी है। श्रीकृष्ण ने कह दिया है कि यह बहुत प्रकार के कहे गए यज्ञ परमात्मा के मुख से ही कहे गए हैं, अर्थात् वेदों में वर्णित हैं। वेद परमात्मा की वाणी है। इस कारण परमात्मा के मुख से कहे गए का अभिप्राय वेदोक्त है।

इस प्रकार तत्त्व से जानकर कि ये यज्ञ कर्म ही हैं, यज्ञ करता हुआ मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है।[३]

यहाँ दो बातें विशेष रूप से कही गई हैं। एक यह कि कर्मों को सर्वहिताय करना। परमात्मा स्वयं सृष्टि का निर्माण, पालन और फिर प्रलय भी लोकहितार्थ ही करता है। अतः ईश्वर के इस विधि-विधान को मानकर उसके अनुसार कार्य करनेवाले के लिए मोक्ष सुलभ है। दूसरी बात जो यहाँ कही गई है, वह यह है कि 'इन यज्ञों को कर्म ही समझना चाहिए। कर्म का त्याग यज्ञ नहीं।'

गीता में भगवान् कृष्ण ने बार-बार कहा है कि कर्म को छोड़ो नहीं और उसे न

---

१. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

—भ० गी०, ४—२९, ३०

२. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥

—भ० गी०, ४—३१

३. एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे॥
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

—भ० गी०, ४—३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



छोड़ता हुआ भी अर्जुन मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

श्री स्वामी शंकराचार्य ने गीता का जो यह प्रयोजन कहा है कि जगत् से उपराम हो निवृत्ति को प्राप्त करना, वह हमें गीता में कहीं मिलता नहीं। गीता कर्मयोग का प्रवचन है। भगवान् ने यह अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए किया था। श्रीकृष्ण का कहना था कि कर्म का उद्देश्य धर्म-युक्त होना चाहिए। कर्म निष्काम भाव से होना चाहिए। आसक्तिरहित होकर, निराश्रय रहकर और निर्योगमोक्ष होकर करना चाहिए। तब यह कर्म, कितना भी घोर क्यों न हो, मनुष्य को कर्मबंधन में नहीं बाँधता। ऐसा कर्म तभी भलीभाँति हो सकता है, जब मनुष्य में यह भावना हो कि उसे अपने सब कर्म लोक-कल्याणार्थ करने हैं। इन कर्मों को यज्ञ कहते हैं। जैसे हवन करने से फल सार्वजनिक होता है, वैसे ही अन्य यज्ञ-कर्म हैं। कर्त्ता का इसमें विशेष स्वार्थ नहीं होता। उसको यज्ञ का उतना ही लाभ प्राप्त होता है, जितना किसी को भी हो सकता है।

मनुष्य अपने सब कार्य इस प्रकार करे, जैसे वह हवन करता है। अपना नियत कर्म (व्यवसाय) भी यदि वह इसी दृष्टि से करे तब उसे वह कर्म भी बाँधनेवाला नहीं होगा। उसको अपने कर्मों में से अपने लिए केवल इतना लेना चाहिए जितना आवश्यक हो। पूर्ण काम तो लोक-कल्याण की दृष्टि से होना चाहिए। उनमें से बचा हुआ ही अपने लिए प्रयोग में लाना चाहिए।

कृष्ण का यह भी कहना है कि द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। संसार के सब कार्यों में ज्ञान ही प्राप्त अथवा प्रयोग होता है।[१]

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी ज्ञानीजन के पास जाकर श्रद्धा तथा सेवा भाव से उसको प्रसन्न करे तो ज्ञानीजन उपदेश करेंगे।

ज्ञान को प्राप्त कर मनुष्य किसी प्रकार के मोह को प्राप्त नहीं होगा और उस ज्ञान से सब प्राणियों को अपने में ही देखेगा और तब परमात्मा को भी अपने में ही देखेगा।[२]

जब ज्ञानयज्ञ का उल्लेख आया तो वहाँ अभिप्राय था ज्ञान-प्रसार का। जैसे मनुष्य द्रव्यों का प्रयोग सर्वहिताय करता है, वैसे ही ज्ञान का प्रयोग भी अभिप्रेत है। द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। अर्थात् यहाँ द्रव्य उपार्जन की बात नहीं हो रही। यहाँ द्रव्य को लोक-कल्याण के लिए प्रयोग करने की बात हो रही है। उसी की तुलना में ज्ञान के लिए

---

१. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

—भ० गी०, ४—३३

२. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

—भ० गी०, ४—३४, ३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भी लोक-कल्याण के अर्थ प्रयोग की बात ही है।

ज्ञान-प्राप्ति की बात तो चलते-चलते आ गई है। इसका केवल यह अभिप्राय है कि वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी तत्त्वदर्शी के चरणों में बैठकर सेवाभाव से और श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानयज्ञ करना उचित होगा।

यों तो मनुष्य का प्रत्येक कार्य यज्ञार्थ किया जा सकता है, परंतु ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ माना है।

यज्ञ का अर्थ यह बताया गया है कि मनुष्य प्रत्येक कार्य करता हुआ उसमें लोक-कल्याण की भावना लेकर चले, अपना हित उतना ही समझे जितना अन्य का हो रहा है। साथ ही अपने जीवनयापन के लिए केवल उतना ही प्रयोग में लाए जो यज्ञ करने से शेष बच जाए।

इंद्रियों का संयमन, विषयों का त्याग और प्राणों पर नियंत्रण भी यज्ञार्थ करे, अर्थात् इनके करने से प्राप्त समय और शक्ति का प्रयोग सर्वहिताय किया जाए।

जो मनुष्य ऐसा करता है उसे कर्म बाँधते नहीं।

## योग

कर्म-बंधन से मुक्ति का दूसरा साधन योग बताया है। यज्ञ के विषय में बताते हुए भी भगवान् ने कहा है कि ज्ञानयज्ञ द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ है, अर्थात् इससे कर्म-बंधन से शीघ्र और सुगमता से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

ज्ञानयज्ञ के विषय में कहते समय भगवान् ने कहा है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए किसी ज्ञानवान की सेवा में रहते हुए श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

ज्ञान-प्राप्ति में सबसे मुख्य करण है बुद्धि। परंतु बुद्धि तो विभिन्न प्रकार की होती है। सात्त्विकी बुद्धि ही ठीक-ठीक कार्य करनेवाली होती है। यह हम लिख चुके हैं कि सात्त्विकी बुद्धि (१८—३३) ही निवृत्ति-प्रवृत्ति मार्ग में, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में, भय और अभय में, बंधन और मोक्ष में भेदभाव करने की सामर्थ्य रखती है।

जैसा कि हम बता चुके हैं कि इसका अभिप्राय है बुद्धि कम्पास की भाँति कार्य करनेवाला एक यंत्र है। इस कारण आचरण को ठीक रखने के लिए बुद्धि को ठीक रखने की आवश्यकता है। जैसे जहाज को चलानेवालों के पास ठीक दिशा बताने वाला कम्पास होना आवश्यक है, इसी प्रकार जीवात्मा को मोक्ष मार्ग पर चलते हुए दिशाभ्रष्ट हो जाने से बचाने के लिए निर्मल और सामर्थ्यवान बुद्धि की आवश्यकता रहती है।

यह सामर्थ्य सात्त्विकी बुद्धि में ही होता है। राजसी और तामसी बुद्धियाँ ठीक मार्गदर्शन करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। अतः बुद्धि सात्त्विकी हो यह परमावश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सात्त्विकी बुद्धि को ही स्थिर बुद्धि और समाधिस्थ बुद्धि कहते हैं। इससे ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जब यह यथार्थ ज्ञान आत्मा को उपलब्ध होता है, तब वह मोक्ष-मार्ग ग्रहण कर सकता है।

बुद्धि को स्थिर करने का उपाय योग है। स्थिर बुद्धि को योग में ऋतम्भरा का नाम दिया गया है। और ऋतम्भरा प्राप्त होने पर[1] इंद्रियों से और अनुमान से प्राप्त ज्ञान का विशेष अर्थ समझ में आने लगता है।

यही बात भगवान् कृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के विषय में कही है। भगवान् कृष्ण (२—६९) कहते हैं कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को, साधारण मनुष्यों की जो रात है, वह दिन प्रतीत होने लगता है और उनका दिन रात प्रतीत होती है, अर्थात् इंद्रियों से जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, स्थितप्रज्ञ (ऋतम्भरा प्राप्त योगी) को उससे भिन्न दिखाई देने लगता है।

अभिप्राय यह है कि बुद्धि के तीव्र और निर्मल हो जाने से यह सात्त्विकी हो जाती है और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में, भय और अभय में, निवृत्ति और प्रवृत्ति में और बंधन तथा मोक्ष में भेद कर सकती है।

इसे ही ज्ञान-प्राप्ति कहते हैं। योग की महत्ता भगवान् कृष्ण ने गीता में वर्णन की है। इसकी आवश्यकता भी इसी कारण पड़ी कि अर्जुन धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में भेद करने में असमर्थ हो गया था। वह युद्ध को महान् अधर्म का कार्य समझने लगा था। कृष्ण उसको समझा रहे थे कि वह भूल कर रहा है। उनका कहना था कि यदि वह बुद्धि से विचार कर देखेगा तो उसे पता चलेगा कि इस युद्ध में वह धर्म के पक्ष को लेकर प्रवृत्त हो रहा है और यह महान् पुण्य का कार्य है और यदि वह इसे यज्ञरूप में करेगा तो कर्म-बंधन से मुक्त ही हो जाएगा।

बुद्धि से विचार करने की बात जब आई तो राजसी और तामसी बुद्धि का भी विचार आया। ये बुद्धियाँ तो ठीक मार्ग-दर्शन नहीं कर सकतीं। अतः सात्त्विकी बुद्धि को उत्पन्न करने का प्रश्न उपस्थित हो गया। उसमें भगवान् कृष्ण ने कह दिया कि हे अर्जुन! योग में स्थित होकर, अज्ञान से उत्पन्न अपने संशयों को छिन्न-भिन्न कर ज्ञानरूपी तलवार को लेकर उठ खड़ा हो और युद्ध कर।[2]

गीता-प्रवचन में सब विचार अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए कहे गए हैं। सबका उपसंहार इसी बात में होता है कि अर्जुन को युद्ध से उपराम नहीं होना चाहिए।

उत्पन्न संशय को ज्ञानरूपी तलवार से छिन्न-भिन्न करने के लिए योग में स्थित हो, ऐसा श्रीकृष्ण कहते हैं।

---

१. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

—योग द०, १—४९

२. तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

—भ० गी०, ४—४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इसी कारण योग की व्याख्या, यद्यपि संक्षेप में, आवश्यक समझी गई। योग का उद्देश्य हमने बता दिया है। गीता में यह कहा है कि बुद्धि को निर्मल और तीव्र करने के लिए योग एक साधन है।

यूँ तो योग की एक सामान्य व्याख्या कर दी है। श्लोक २—४८ में बताया है कि समत्व बुद्धि को योग कहते हैं। परंतु यह समत्व बुद्धि कैसे प्राप्त होती है, इसके विषय में योग-क्रियाओं की आवश्यकता है।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि यद्यपि मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है, फिर भी बुद्धि की आवश्यकता इस संसार के कार्यों में भी पड़ती है। मोक्ष का मार्ग भी इस संसार में से होकर ही है। अतः इस मार्ग को सुगम और सुखप्रद बनाना मोक्ष-प्राप्ति का उपाय हो जाएगा। इसी कारण गीता में योग की एक और परिभाषा कर दी गई है। श्लोक २—५० में लिखा है, 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्मों में कुशलता को योग कहते हैं। कर्म में कुशलता क्या है ? यह हम कर्म प्रकरण में लिख आए हैं।

योग में स्थित व्यक्ति के विषय में गीता में लिखा है कि वह साधारण मनुष्यों से विलक्षण देखने लगता है। वह समत्व बुद्धि रखता है और वह अपने कर्मों में कुशल हो जाता है।

इसके अतिरिक्त भी लिखा है। भगवान् कहते हैं कि योगी को सबसे पहले मन और इंद्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करना चाहिए। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि योग के लिए यत्न करनेवाले मनुष्यों का मुनि होना आवश्यक है। मुनि का अभिप्राय मननशील से है। योगी वह नहीं हो सकता जो बुद्धि का प्रयोग नहीं करता। मुनि वह है जो कर्मों की कामनाओं को शांत कर लेता है।

योगारूढ़ व्यक्ति को न इंद्रियों के विषय में आसक्ति होनी चाहिए, न कर्म में आसक्ति।

सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, सुख-दुःख में जिसका चित्त शांत रहता है और जिसकी आत्मा इंद्रियों पर विजयी है, वह परमात्मा में लीन व्यक्ति योगारूढ़ कहा जा सकता

---

१. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥
जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

—भ० गी०, ६—२, ३, ४, ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है।[१]

दो बातों का उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। योगी में समत्व बुद्धि हो जाती है, अर्थात् उसका चित्त सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि, हर्ष-विषाद आदि द्वंद्वों में एक समान रहता है। हम यह भी बता चुके हैं कि योग कर्म में कुशलता को कहते हैं। यह समत्व बुद्धि और कामों में कुशलता सांसारिक कार्यों में हो सकती है और अध्यात्म संबंधी कार्यों में भी। इसका वर्णन योगदर्शन में भी है। हम इसका वर्णन साधना के विषय में बताते हुए लिखेंगे।

इस स्थान पर योग के अन्य लक्षणों के विषय में गीता का मत लिखना चाहते हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि योगी लोहा, मिट्टी, सोना इत्यादि को एक समान समझता है। वह ज्ञान-विज्ञान से तृप्त रहता है। वह कूटस्थ होता है, जितेंद्रिय होता है और उसका आत्मा परमात्मा से युक्त होता है।[१] इसका अर्थ यह है कि योगी अर्थात् सिद्धि प्राप्त मनुष्य ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता होता है। वह संसार से अलिप्त, आसक्तिरहित और आश्रयरहित होकर विचरता है। आश्रयरहित का अर्थ है कि वह किसी की प्रशंसा का आकांक्षी नहीं होता, न वह किसी की निन्दा से विचलित होता है। कोई उससे मित्रता करे अथवा शत्रुता, कोई उससे बंधु का-सा व्यवहार करे अथवा उससे तटस्थ रहे, कोई साधुता का व्यवहार करे अथवा पापियों का-सा, वह उन सबमें समबुद्धि रखता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह सबसे मित्रता अथवा सहानुभूति का व्यवहार रखे। समबुद्धि का यह अभिप्राय नहीं है। समबुद्धि से अभिप्राय है कि वह धर्म के प्रति सहमति और अधर्म के प्रति विरोध का भाव सदा, सर्वत्र, सबके साथ एक समान रखे।

उदाहरण के रूप में; यदि कोई संत-महात्मा, किसी अपाहिज की सहायता कर, उसके जीवनयापन का प्रबंध करता है और यदि कोई क्रूर स्वभाव और कर्म करनेवाले किसी अपाहिज की वैसे ही सहायता करता है, जैसे कोई संत-महात्मा करता है तो योगी दोनों के विषय में इस कार्य के लिए समबुद्धि रखता है। वह दोनों के इस कार्य को प्रशंसा की दृष्टि से देखता है। इसी प्रकार सब कार्यों में समझना चाहिए।

इस समबुद्धि का यह अर्थ कदापि नहीं कि कोई किसी की बहू-बेटियों से दुराचार और बलात्कार करनेवाले की वैसे ही रक्षा करे, जैसे किसी साधु की कष्ट में फँस जाने पर

---

१. ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

—भ० गी०, ६—८, ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रक्षा करनी चाहिए। यह तो असमत्व बुद्धि हो जाएगी।

बहुत से हिंदू भगवद्गीता तथा अन्य हिंदू-शास्त्रों का मिथ्या अर्थ लगाकर, ऐसा करते हुए, स्वयं को योगेश्वर कहते हैं। यह संभव है कि उनकी बुद्धि में कोई कार्य धर्म का प्रतीक हो, जो जनसाधारण को अधर्म-कार्य लग रहा हो; परंतु यह नहीं हो सकता कि जब वह किसी को अपने विचार से अधर्म करते देखे तो फिर उसको धर्म करनेवाले के समकक्ष मान ले और दोनों से बराबर व्यवहार करे। इसका अर्थ केवल यह निकलता है कि किसी के किसी काल में मित्र होने पर अथवा शत्रु होने पर, बंधु होने पर अथवा असंबंधित होने पर किसी एक कार्य में की गई दुष्टता पर दया अथवा दंड समान हो। पूर्व का व्यवहार अथवा संबंध वर्तमान कार्य पर प्रभाव नहीं डाल सकता। योगी की दृष्टि तथा व्यवहार में समानता रहती है।

गीता में योग की विधि बहुत ही संक्षेप में कही है। यह कहा है योगाभ्यास करने की इच्छावाला पुरुष अपने मन और इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण कर कामनारहित हो, एकांत स्थान पर बैठ, अपने आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का यत्न करे।[1]

इसके लिए वह एकांत, स्वच्छ, न बहुत ऊँचे न बहुत नीचे स्थान पर कुशासन अथवा मृगछाला का आसन बिछाकर बैठ जाए।

इस आसन पर बैठा हुआ मन को एकाग्र कर, चित्त और इंद्रियों को वश में कर, शुद्ध अंतःकरण से वह योगाभ्यास करे।[2]

भगवद्गीता में योग की विधि और उसके रूप के विषय में बहुत ही संक्षेप में कहा है। इसका विस्तृत वर्णन पतंजलि ऋषि के योगदर्शन में मिलता है।

योग का फल कहते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार वायुरहित स्थान पर दीपशिखा चलायमान नहीं होती, उसी प्रकार योगी का चित्त जब परमात्मा में लग जाता है तब स्थिर हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि विषय उसके चित्त को चलायमान नहीं करते।

चित्त इंद्रियों से दूर हो तो बुद्धि अनंत आनंद (परमात्मा) को अनुभव करने लगती है। तब वह असल तत्त्व पर स्थिर हो जाती है और उससे चलायमान नहीं होती।

---

१. योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

—भ० गी०, ६—१०

२. शूचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

—भ० गी०, ६—११, १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इस आनंद की बात को देख योगी उससे अधिक लाभ की बात कहीं नहीं देखता। इसमें स्थित हुआ वह भारी-से-भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता।

इस आनंद की बात को देख योगी दुःख के संयोग से रहित हो जाता है।[1]

और भी बताया है कि जिसका मन पाप से रहित और शांत हो गया है अर्थात् जिसकी वृत्तियाँ शांत हो चुकी हैं और जिसका रजोगुण शांत हो गया है, ऐसा ब्रह्म में लीन योगी अति आनंद को प्राप्त होता है।

ऐसा पापरहित आत्मा निरंतर परमात्मा में मन लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्म के स्पर्श में आता हुआ अत्यंत आनंद को प्राप्त होता है।

योग से युक्त आत्मा सब भूतों (प्राणियों) में समान भाव रखता है और सभी प्राणियों को परमात्मा में देखता है।

जो सब भूतों को परमात्मा में देखता है और सब भूतों में परमात्मा को देखता है, उसके लिए परमात्मा कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। परमात्मा उन सबकी रक्षा-पालन करता रहता है और सब प्राणी उसकी दृष्टि से दूर नहीं होते। इस कारण परमात्मा के स्पर्श में आनेवाला व्यक्ति सबको समान बुद्धि से देखने लगता है। वह सबके सुख-दुःख का भी अनुभव करता है। ऐसा पुरुष परम योगी माना जाता है।[2]

इस प्रकार योगी के गुण वर्णन कर दिए हैं। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि

---

१. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा समृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यतेनाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याददुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्योः योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

—भ० गी०, ६—१९, २१, २२, २३

२. प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुत॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

—भ० गी०, ६—२७, २८, २९, ३०, ३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



योगी सबमें समबुद्धि रखता है। सबके सुख-दुःख को समान भाव में अनुभव करता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि योगी दुष्ट व्यक्ति को साधु और साधु को दुष्ट समझने लगे। सब प्राणियों को समान देखने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई मित्र, संबंधी अथवा सहकारी किसी प्रकार से समीप आ गया है तो उसमें और दूसरों में भेद न माने। कोई समीपवाला दुष्ट अथवा अधर्मी हो तो उसको उसी प्रकार दुष्ट अथवा अधर्मी माने जैसे किसी दूर स्थित व्यक्ति को मानता है। दूर रहनेवाला भी यदि साधु हो तो उसको भी उतना ही मानयोग्य और श्रेष्ठ समझे जितना समीपवाले साधु को मानता है।

हमने हिंसा-अहिंसा की विवेचना पहले भी की है। वहाँ भी हमने बताया था कि कर्त्ता यदि किसी की हत्या कर देने में लोक-कल्याण देखता है तो वह हिंसा नहीं अहिंसा ही करता है। उस हत्या से यदि भले लोगों का त्राण होता है, तो वह पुण्य-कार्य हो जाता है। इसी प्रकार समत्व भाव का यह अभिप्राय नहीं कि कलकत्ता में डायरेक्ट एक्शन जैसा हत्या-काण्ड करनेवाले सुहरावर्दी को गले लगाकर उसको पीड़ित घोषित किया जाए। ये समत्व बुद्धि के लक्षण नहीं वरन् असमत्व बुद्धि के ही हैं।

जहाँ समत्व बुद्धि का अर्थ बुरे और भले में समानता के द्योतक होंगे यहाँ वह असमानता के सूचक हो जाएँगे। यह एक प्रकार से साधुता को बुरा समझना होगा।

समता का अर्थ है कि दुष्टता, पाप, अधर्म को जहाँ कहीं भी हो, दुष्टता ही समझे और भलाई तथा धर्माचरण, जहाँ कहीं भी हो उसका मान करे।

यही श्रीकृष्ण का अभिप्राय है। जब उसने अर्जुन को भीष्म, द्रोण और अन्य संबंधियों को युद्ध में खड़े हुओं को मार डालने के लिए कहा था तो भले और बुरे में भेद करते हुए ही कहा था। समत्व बुद्धि के यदि वे अर्थ लिये जाते जो आजकल के कुछ संत-साधु-आचार्य इत्यादि लेते हैं तो युद्ध करने पर पांडवों को दोष दिया जाता। वे दुर्योधन,. दुःशासन इत्यादि, धर्म का सार न समझनेवालों को, पीड़ित मानते तथा सरल चित्त पाण्डवों को दोषी। यह बात आज भी देखी जाती है।

यदि भारत में हुई एक घटना का उल्लेख कर दिया जाए तो बात भलीभाँति समझ में आ जाएगी। ७ नवंबर, १९६६ को नई दिल्ली में भारत के साधु-संत-महात्माओं और गो-भक्तों ने संसद् भवन के सम्मुख एक विशाल और प्रभावशाली प्रदर्शन किया था। उस प्रदर्शन का उद्देश्य था, भारत सरकार से कानून द्वारा गो-हत्या बंद करने की माँग करना। सरकार ऐसा करना नहीं चाहती थी। उसने इतनी भीड़ से घबराकर प्रदर्शन को भंग करने के लिए लाठी और गोली चला दी। इससे कुछ लोग मारे गए। सरकार ने कहा कि प्रदर्शनकारी हिंसात्मक हो गए थे और हत्याएँ अथवा अग्निकांड कर रहे थे। प्रदर्शनकारियों का कहना था कि या तो पुलिस अधिकारी घबरा गए थे अथवा बुरी नीयत से निरपराध लोगों की हत्या करने लगे थे। संसद् में इस घटना की न्यायिक जाँच की माँग की गई परंतु सरकारी मंत्रिमण्डल ने जाँच न कराने का निश्चय किया। यह ठीक था अथवा गलत? यह प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नहीं। प्रश्न यह है कि जब सरकार ने जाँच करना स्वीकार नहीं किया तो सरकार किसी को भी दोष कैसे दे सकती है ? परंतु सरकार ने, जैसे दुःशासन और दुर्योधन ने द्रोणाचार्य और कर्ण की हत्या में पाण्डवों को दोष दिया था, उसी प्रकार सरकार ने भी प्रदर्शनकारियों को ही दोष दिया। कुछ समाचारपत्र और नेता सरकार को झूठा और अपराधी घोषित कर रहे थे, तो भी सरकार प्रदर्शनकारियों को दोषी कहती जाती थी। यहाँ तक कि कितने प्रदर्शनकारी मारे गए थे, इस विषय में भी सरकारी विज्ञप्ति को चुनौती दी गई थी और सरकार ने जाँच कराने की अनुमति नहीं दी।

हास्यास्पद बात यह है कि युधिष्ठिर की तरह के सरल चित्त लोग गौ-भक्तों में भी मिलते हैं जो यह कहते ही जाते हैं कि प्रदर्शनकारी दोषी थे। इनमें बहुत-से ऐसे हैं जो अपने को गांधीजी के पद-चिह्नों पर चलनेवाले घोषित करते हैं। वास्तविकता यह है कि गांधीजी और ये लोग भी समता का अर्थ नहीं समझते। इसके मिथ्या अर्थ लगाकर काले को गोरा और गोरे को काला मान रहे हैं।

भगवान् कृष्ण का यह मत नहीं था। समत्व बुद्धि के अर्थ आत्मीयता नहीं। आत्मीयता तो सह विचार और आचारवालों से की जाती है। समत्व बुद्धि न्यायबुद्धि का पर्याय है।

महात्मा गांधी जैसी बुद्धि समत्व बुद्धि नहीं होती। वह गांधीजी की और तत्कालीन कांग्रेस की महान् भूल थी। उन्होंने देशद्रोहियों को मित्र समझा। ऐसा करते हुए स्वाभाविक रूप में देश-भक्त शत्रु समझे जाने लगे। परिणाम हुआ देश-विभाजन, लाखों सजातियों और सह-धर्मियों का मारा जाना और बेघर होना, सहस्रों स्त्रियों का अपहरण और उनसे बलात्कार। हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई के नारे में भले और बुरे में भेद भुला दिया गया।

श्रीकृष्ण का कहना है कि योगाभ्यास से अन्तःकरण स्थिर हो जाता है। अर्जुन ने एक संशय उपस्थित कर दिया। अर्जुन का कहना था कि मनुष्य का मन अति चंचल है। यह बलवान भी बहुत है। वायु को नियन्त्रण में करने की भाँति इस पर भी नियन्त्रण पाना अति दुस्तर है। अतः योग-क्रियाओं से एक बार नियन्त्रण में आ जाने पर भी यह पुनः विचलित हो सकता है और मनुष्य योगभ्रष्ट हो सकता है।

इसका उत्तर श्रीकृष्ण ने यह दिया कि निस्सन्देह मन अति चंचल है और बलवान भी है। परन्तु बार-बार अभ्यास करने से यह वश में किया जा सकता है। बिना मन को

---

१. चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

—भ० गी०, ६—३४, ३५, ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वश में किए योग सम्भव नहीं। इसको वश में करने से ही योग की प्राप्ति सम्भव है। मन को वश में करना अत्यावश्यक है।[१]

अर्जुन का यह प्रश्न स्वाभाविक था। अर्जुन ने कृष्ण के उत्तर पर एक अन्य प्रश्न कर दिया कि लोग इस मन की चंचलता के कारण योगभ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी क्या गति होती है? अर्जुन के संशय की तुलना कवि के उस कथन से की जा सकती है, 'न खुदा ही मिला न वसाल-ए सनम'। ऐसा व्यक्ति सांसारिक सुखों का त्याग कर देता है और योगभ्रष्ट हो जाने से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।

इस संशय के विषय में भगवान् कृष्ण ने कहा कि योग की प्रक्रिया करते-करते जो लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं, उनकी तपस्या का न इस लोक में नाश होता है और न परलोक में। कारण यह कि किंचिन्मात्र भी यज्ञरूप (कल्याणमय) कर्म करनेवालों की दुर्गति नहीं होती। ऐसे आचरणवाले पुण्यवानों के लोक में जन्म लेते हैं। अथवा ये लोग श्रीमान् माता-पिताओं के घर में जन्म लेकर अपनी श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त होते हैं।

यह भी हो सकता है कि वे विद्वान् योगियों के घर में जन्म लें। ऐसे जन्म भी संसार में अति दुर्लभ हैं। इन जन्मों में पूर्वजन्म में किए साधन के फलस्वरूप प्राप्त श्रेष्ठ बुद्धि के संयोग से पुनः सिद्धि प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है और पूर्वजन्म में किए अभ्यास से सहज ही (शब्द ब्रह्म अति वर्तते) स्वाध्याय से ज्ञान को पा जाते हैं।[१]

अतः अनेक जन्मों में प्रयत्न करता हुआ निरन्तर अभ्यास करनेवाला योगी सब पापों से मुक्त होकर योग से परम गति को प्राप्त होता है।

योगी सकाम कर्म करनेवालों से, ज्ञानियों से, तपस्वियों से भी अधिक बढ़ा हुआ

---

१. पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दनः॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

—भ० गी०, ६—४०, ४१, ४२, ४३, ४४

२. प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

—भ० गी०, ६—४५, ४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है, अर्थात् उनसे आगे निकल जाता है। इसी कारण कृष्ण ने अर्जुन को कहा था कि वह योगी बने।[२]

योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि भी यह मानते हैं कि स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान तो योग में प्रविष्ट होने के साधन हैं। निस्सन्देह इन द्वारा प्राप्त ज्ञान से योगी अधिक जाननेवाला होगा और वह कर्म भी इनसे अधिक श्रेष्ठ ही कर सकेगा।

सम्पूर्ण योगियों में वही सर्वश्रेष्ठ मानना चाहिए, जो परमात्मा के अनुगत रहता हुआ उसका चिन्तन करनेवाला है।[१]

इस अध्याय में हमने योगाभ्यास और योगी के लक्षण तथा उसको प्राप्त होने वाले श्रेय का उल्लेख किया है।

एक बात यहाँ विचारणीय है कि गीता का उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कह दिया—(तस्माद्योगी भावार्जुन) हे अर्जुन, योगी हो जा। उस समय अर्जुन युद्धभूमि में खड़ा था और श्रीकृष्ण उसे युद्ध करने के लिए कह रहे थे। कुछ लोगों को यह परस्पर विरोधी बात प्रतीत हुई है। इसके पहले श्रीकृष्ण कह चुके थे—तस्माद्युध्यस्व भारत। (२-१८) और भी—'मामनुस्मर युध्य च'। (८—७)

वास्तव में ये वाक्य परस्पर विरोधी नहीं हैं। योगाभ्यासी कर्म नहीं छोड़ता। केवल कर्म को अनासक्त भाव से, स्वार्थ की भावना छोड़कर करता है। कर्मयोगी होने के लिए चित्त की वृत्तियों को शान्त करने की आवश्यकता होती है। इससे बुद्धि निर्मल होती है और योगी कर्म, अकर्म और विकर्म में भेदभाव करने में समर्थ हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं योगी थे और अपने पूर्ण यौवन काल तक वे युद्ध करते रहे थे। अतः किसी योद्धा का योगाभ्यासी होना विस्मय करने की बात नहीं है। साथ ही कृष्ण का अभिप्राय यह था कि योगी की निर्मल बुद्धि से भी यदि वह देखेगा तो उसे यही ठीक प्रतीत होगा की युद्ध करना चाहिए।

यथार्थ बात यह है कि कर्मयोगी बनने के लिए एक तो यज्ञ की भावना से कर्म करने का ढंग बताया गया है। दूसरे, योग क्रियाओं से बुद्धि निर्मल कर कर्मयोगी बनने का उपक्रम बताया गया है। इसके अतिरिक्त भक्ति द्वारा भी कर्मयोगी बनने में सहायता का वर्णन आगे के प्रकरणों में किया जाएगा।

---

१. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

—भ० गी०, ६—४७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम परिच्छेद

# ज्ञान-विज्ञान

'युद्ध कर्म पाप नहीं' की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण ने यह बताया था कि कर्म के बिना मनुष्य एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता। इस पर प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या प्राणी सब कालों के लिए जन्म-मरण के बन्धन में बँधा रहेगा? क्या इसके लिए कोई मार्ग नहीं है?

यह बात समझ में आ गई कि जीवात्मा अविनाशी है। यह भी बताया जा चुका है कि वह कर्मों के कारण बन्धन में बँधा है। तो क्या इसके लिए इस कर्म के बन्धन से छूटने का कोई उपाय है? तब भगवान् कृष्ण ने बताया कि इन उपायों में मुख्य उपाय है निष्काम भाव से, अनासक्त और ईश्वर-परायण होकर कर्म करना। इससे कर्म-बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है।

अर्जुन ने एक स्वाभाविक प्रश्न पूछा था कि मनुष्य जानता हुआ भी कि अमुक कार्य पाप है, फिर भी उसको क्यों करता है? कृष्ण ने इसका उत्तर दिया कि वह राजसी गुण के अधीन ऐसे कर्म करता है, जिसमें अपने-पराये में भेद-भाव रहता है। इसमें ही आसक्ति और कर्मफल की आशा उत्पन्न होती है। इस राजसी प्रकृति और रागद्वेष पर यदि सात्त्विक प्रवृत्ति का नियन्त्रण हो जाए तो धर्म की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा पाप-कर्म होने लगता है।

तब प्रश्न उपस्थित हुआ कि सात्त्विक प्रवृत्ति के अधीन कैसे हुआ जाए अर्थात् अनासक्त भाव में कर्म करने की प्रवृत्ति कैसे बनाई जाए?

इसके लिए श्रीकृष्ण ने एक उपाय बताया था यज्ञरूप कर्म करने का। दूसरा उपाय बताया है योगाभ्यास का। अब तीसरा उपाय बताया है भक्तियोग का।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि जो मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छूटने के लिए सर्वज्ञ, अनादि, सर्वनियंता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थ को धारण करनेवाले, अचिन्त्य, सूर्य सदृश प्रकाशमान, अविद्या से रहित और शुद्ध परमात्मा का स्मरण करते हैं वे योग से युक्त पुरुष मरण काल में भृकुटि के मध्य में प्राणों को स्थापित कर, निश्चल मन से दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

इसमें भगवान् कृष्ण कहते हैं कि योग के बल से भृकुटि में प्राणों को स्थापित कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जब कोई परमात्मा को स्मरण करनेवाला मरता है तो परमात्मा को प्राप्त होता है।[१]

भक्तियोग के आरम्भ में कृष्ण ने कहा कि परमात्मा को स्मरण करने के लिए ब्रह्म के समग्र स्वरूप को जानना चाहिए।

अतः कृष्ण ने भक्तियोग के पूर्व ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करना उचित समझा। साथ ही यह बताना उचित समझा कि भृकुटि के मध्य में ध्यान केन्द्रित करने से क्या होता है। भक्ति से परमात्मा का चिन्तन किया जाता है। चिन्तन बिना परमात्मा का स्वभाव जाना नहीं जा सकता। उस स्वभाव को बताने के लिए ज्ञान-विज्ञान का उपदेश उचित समझा गया।[२]

समग्र का अर्थ है सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त। ऐसे परमात्मा को समझ लेने से ही परमात्मा में चित्त लगाया जा सकता है। इसको जानने के लिए ही ज्ञान-विज्ञान को सम्पूर्णता से जान लेना चाहिए। इसको जान लेने के उपरान्त शेष कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता।

यह जानने के लिए (योग युञ्जन् मय्यासक्तमनाः) परमात्मा से योग द्वारा स्पर्श में आए हुए परमात्मा में लीन मनवाला होना आवश्यक है और एतदर्थ ज्ञान-विज्ञान को जानना आवश्यक है। तब ही उसका चिन्तन हो सकता है।

गीता में मम्, मयि, मत, माम् इत्यादि शब्दों का अर्थ परमात्मा ही है। आगे चलकर अवतारवाद के अध्याय में इसकी व्याख्या करेंगे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भक्ति भी कर्म-बन्धन से छूटने का एक उपाय है और भक्ति के विषय में बताने से पूर्व श्रीकृष्ण ने यह बात कही है कि परमात्मा का समग्र रूप जानने की आवश्यकता है। उसीके लिए ज्ञान-विज्ञान का उपदेश दिया है।

ज्ञान-विज्ञान सांख्य का विषय है और गीता में भी इस सांख्य के अनुसार हीं वर्णन किया है।

गीता में इस विषय को अति संक्षेप में वर्णन किया है। गीता का मुख्य विषय अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना था। ज्ञान-विज्ञान का विषय तो प्रसंगवश आ गया। इस

---

१. कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

—भ० गी०, ८—९, १०

२. मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

—भ० गी०, ७—१, २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कारण इसका सक्षेप में वर्णन होना स्वाभाविक था। इसके कुछ आवश्यक अंगों को हम सांख्य के अनुसार वर्णन करेंगे।

हम बता चुके हैं कि योग से भी परमात्मा का साक्षात्कार होता है। कपिल मुनि ने, भगवान् कृष्ण ने और अन्य ऋषि-महर्षियों ने योगबल से ही ब्रह्म का दर्शन किया था। उसी के अनुसार यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

भक्ति मार्ग से भी परमात्मा से योग होता है। फिर भी योगाभ्यास के प्रथम पाँच अंगों का पालन करना ही पड़ता है। भक्ति-मार्ग में, जहाँ-जहाँ योग के आश्रय का उल्लेख आया है, वहाँ-वहाँ मन, इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने की बात है और वहाँ-वहाँ यम-नियम, ब्रह्मचर्य, आसन और प्रत्याहार के पालन से अभिप्राय है।

शेष तीन अंगों अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि का विकल्प ही भक्ति है।

इसका अभिप्राय यह है कि भक्त को जहाँ यम-नियम इत्यादि का पालन करना आवश्यक है, वहाँ ज्ञान-विज्ञान का जानना भी अनिवार्य है। तब ही भक्ति सिद्ध हो सकेगी।

ज्ञान-विज्ञान का अर्थ सम्पूर्ण जगत् के ज्ञान से है। इसके जान लेने के पीछे कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता, ऐसा भगवान् ने कहा है।

ज्ञान से अभिप्राय सामान्य ज्ञान है। जो कुछ इस संसार में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है, उसे ज्ञान कहते हैं। इसमें यह ज्ञान भी सम्मिलित है, जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा यंत्रों की सहायता से जाना जाता है। उदाहरण के रूप में आँख से बहुत दूर की वस्तु भलीभाँति नहीं देखी जा सकती। वह दूरबीन से भलीभाँति देखी जा सकती है। अतः दूरबीन अथवा किसी भी यंत्र की सहायता से जो कुछ भी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जाना जाए, वह साधारण ज्ञान के क्षेत्र में ही आता है।

विज्ञान का अर्थ विशेष ज्ञान है। पूर्ण जगत् के मूल पदार्थों का ज्ञान और उन मूल पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का विशेष ज्ञान ही विज्ञान है। ये मूल पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन्द्रियगोचर उन पदार्थों को कहते हैं जिनको इन्द्रियाँ स्वतः अथवा किसी यंत्र द्वारा अनुभव कर सकें। कभी पदार्थ इतना सूक्ष्म होता है अथवा इतनी दूर होता है कि इन्द्रियाँ किसी यन्त्र की सहायता के बिना उसे अनुभव नहीं कर सकतीं।

उदाहरण के रूप में; ठहरी हुई वायु है। यह आँखों को दिखाई देती ही नहीं। स्पर्श से भी अनुभव नहीं होती। वास्तव में यह स्पर्श हो रही होती है परन्तु इसका स्पर्श इतना हल्का होता है कि अनुभव नहीं होता। इस समय वायु की उपस्थिति अन्य उपायों से जानी जाती है। हम वायु में पंखे से गति उत्पन्न कर देते हैं। तब यह स्पर्श से अनुभव होने लगती है।

एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। कुछ कीटाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि आँखें उनको देख नहीं सकतीं। वे क्षुद्र वीक्षण यंत्र की सहायता से देखे जा सकते हैं। बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



धीमे शब्द को माइक्रोफोन से बलवान बनाकर सुना जा सकता है।

इन यंत्रों की सहायता होते हुए भी, सुनने अथवा देखनेवाले कान और आँखें ही हैं। इसी कारण यंत्रों द्वारा देखा, सुना हुआ भी इन्द्रियगोचर ही माना जाता है।

कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो प्रबल से प्रबल यंत्र की सहायता पर भी इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं होते। इन पदार्थों को अव्यक्त कहते हैं। ये ही जगत् के मूल पदार्थ हैं। ये तीन हैं—परमात्मा, आत्मा और आदि प्रकृति। ये तीनों पदार्थ अव्यय हैं, अक्षर हैं, अमर हैं। परमात्मा और जीवात्मा, आत्म-तत्त्व के नाम से विख्यात हैं। दोनों चेतन स्वरूप हैं। मूल रूप में प्रकृति जड़ है। यह भी अक्षर और अव्यय ही है।

अतः जब भगवान् कृष्ण ने कहा कि वे ज्ञान-विज्ञान सहित वर्णन करेंगे तो उनका अभिप्राय यही था कि तीनों मूल पदार्थों का और इन्द्रियगोचर जगत् का वर्णन करेंगे। इन्द्रियगोचर जगत् मूल प्रकृति से उत्पन्न व्यक्त प्रकृति का रूपान्तर ही है। पूर्ण जड़ जगत् प्रकृति का व्यक्त रूप ही है, इस कारण ज्ञान में यह जड़ जगत् प्रकृति का व्यक्त रूप आ जाता है। और विज्ञान में मूल पदार्थ ही आते हैं अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा और आदि प्रकृति।

परमात्मा और आत्मा परिणामी नहीं। केवल प्रकृति ही परिणामी है और इसका अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप बनता है और फिर व्यक्त रूप से असंख्य प्रकार के जड़ जगत् के पदार्थ बनते हैं।

अर्जुन ने पूर्ण जगत् के विषय में ही पूछने के लिए यह प्रश्न किया था कि ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कार्य क्या है? अधिभूत किसको कहते हैं? अधिदेव के क्या अर्थ हैं? अधियज्ञ इस शरीर में किस प्रकार हो रहा है? इसके साथ ही अर्जुन का प्रश्न यह था कि अन्त काल में सब कैसे जानने में आते हैं?[१]

पूर्ण ज्ञान-विज्ञान इसी प्रश्न के उत्तर में है। यह प्रश्न पहले नहीं किया गया, परन्तु जब भगवान् कृष्ण ज्ञान-विज्ञान का संक्षेप में वर्णन कर चुके, तब अर्जुन ने इन पारिभाषिक शब्दों में वही बात पूछ ली, जो पहले कही जा चुकी थी। अतः इसके उत्तर में बात वही बताई है, जो इससे पहले बता चुके थे। इस बार पारिभाषिक शब्दों में उत्तर था, जिनमें प्रश्न पूछा गया था। कृष्ण का उत्तर था कि अक्षर को ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म के उत्कृष्ट स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं। भूतों के भाव (वर्तमान अवस्था में उत्पन्न करने और सृष्टि के बनाने तथा विलय करने) को कर्म कहते हैं।

अधिभूत वे हैं जो बनते और बिगड़ते हैं। देहधारियों की देह में परमात्मा

---

१. किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥

—भ० गी०, ८—१, २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अधिदेव है और वही पूर्ण यज्ञ का करनेवाला है।

मरने के समय जो परमात्मा के इस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं।

मनुष्य अन्त समय में जिस विचार को मन में रखता हुआ शरीर छोड़ता है वह उसी स्वरूप को ग्रहण करता है।[१]

जो कुछ अक्षर है वह ब्रह्म है और इनके गुणों के ज्ञान को अध्यात्म कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् जगत् में अक्षर पदार्थ एक है अथवा एक से अधिक हैं, यह एक भारी विवाद का विषय बना हुआ है। इसमें तीन मत हैं—१—पूर्ण चराचर जगत् को एक ही पदार्थ से उत्पन्न माननेवाले; २—चराचर जगत् के दो मूल पदार्थ माननेवाले। एक आत्म-तत्त्व और दूसरे जड़ प्रकृति; ३—तीन मूल पदार्थ माननेवाले। परमात्मा, आत्मा और प्रकृति।

इन तीनों में प्रथम विचार के लोग दो विभागों में बँटे हुए हैं। एक वे जो मूल पदार्थ को जड़ मानते हैं और चेतनता को उसका एक रूप मात्र मानते हैं। इसी विचार में दूसरे लोग यह मानते हैं कि पदार्थ परमात्मा है और जड़ता उसमें से ही उत्पन्न होती है। एक को नास्तिक जड़वादी कहते हैं और दूसरे एकात्मवादी कहे जाते हैं। दोनों को अद्वैतवादी कहा जा सकता है।

यहाँ हम गीता का मत ही लिख देना चाहते हैं। गीता के विचार से प्रकृति आठ भेदोंवाली है। यह अपरा है अर्थात् दूर नहीं। इन्द्रियगोचर है। इससे अन्य जीवगण (जीवात्माएँ) हैं। ये (पराम्) इन्द्रियगोचर नहीं। इन दो से ही सृष्टि-रचना हुई है।[२]

प्रकृति के आठ रूप इस प्रकार वर्णन किये हैं—पृथिवी, अग्नि, वायु, जल, आकाश, महत् और अहंकार तथा मन। मूल प्रकृति इनसे भिन्न है। वह तो अव्यक्त है, अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं होती। ये आठ रूप प्रकृति के इन्द्रियगोचर रूप हैं। इसी कारण

---

१. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

—भ० गी०, ८—३, ४, ५, ६

२. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो मयेदं धार्यते जगत्॥

—भ० गी०, ७—४, ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इनको अपरा कहा है।

प्रकृति के इन आठ रूपों के अतिरिक्त प्राणी हैं। ये चेतन हैं। प्राणियों में जीवात्माएँ हैं जो इन्द्रियगोचर नहीं। उनको परा कहा है। सम्पूर्ण प्राणी जगत् इन दो से ही बना है। प्रकृति के इन आठ रूपों से और इस प्रकृति के आठ रूपों के साथ जीवात्माओं के संयोग से प्राणियों की सृष्टि होती है।

परन्तु इन दोनों से भिन्न परमात्मा है जो इन सबको धारण करनेवाला, उत्पन्न करनेवाला और इनका प्रलय करनेवाला है।

परमात्मा से और अधिक सूक्ष्म कुछ भी नहीं। सम्पूर्ण जगत् मणियों की भाँति परमात्मा रूपी सूत्र में बँधा हुआ है।[1]

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्राणी जगत् में जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं और परमात्मा उन दोनों प्रकार के पदार्थों से पृथक् उन सबसे सूक्ष्म इस जगत् को रचने, धारण करने और प्रलय करनेवाला है।

यह ठीक है कि जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये आठ प्रकार के पदार्थ एक हैं। दूसरे हैं, जो चेतन कहाते हैं। प्रकृति के आठ रूप जो ऊपर लिखे हैं, क्षर हैं। आत्मा अक्षर है। इतना तो कहा है कि इसके आठ रूपों की प्रलय होती है।

अर्थात् वे अपने मूल कारण में लय हो जाते हैं।

यहाँ ध्यान रखने योग्य जो विशेष बात कही गई है, वह है इन दोनों के अतिरिक्त इनसे भी सूक्ष्म परमात्मा है जो इस जगत् को उत्पन्न, धारण और इसका प्रलय करने वाला है और जो इनसे पृथक् है।

यह पृथक्ता तो इस बात से भी प्रकट होती है कि परमात्मा माला की मणियों में सूत्रवत् है। सूत्र और मणियाँ पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। ये एक नहीं।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि यह चराचर जगत् दो प्रकार का है। जड़, चेतन। जीवात्मा चेतन है और जड़ प्रकृति आठ रूपों में है। परमात्मा इन दोनों से पृथक् है।

अगले (७—७, ८, ९, १०, ११, १२) श्लोक भी इसी मत को प्रकट करते हैं कि जगत् पृथक् है और जगत् को धारण करनेवाली शक्ति पृथक् है। इनमें यह कहा गया है कि आपः वर्ग के द्रव्यों में परमात्मा व्याप्त है। सूर्य और चन्द्र में प्रकाश (प्रभा) परमात्मा का है। वेदों में प्रणव (ओं) परमात्मा है। आकाश में शब्द परमात्मा, नरों में

---

१. एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पुरुषत्व परमात्मा है, पृथिवी में पवित्र गंध, अग्नि में तेज, प्राणियों में चेतनता (जीवन), तपस्वियों में तप, सब प्राणियों का सनातन कारण (निर्माता), बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज, बलवानों में राग से रहित बल और धर्मानुकूल कामनाओं को देनेवाले सात्त्विक, राजसी और तामसी गुणों से होनेवाले भाव (कार्य) में सब बातें परमात्मा के कारण हैं।

इस पूर्ण वक्तव्य के अन्त में कह दिया कि (नत्वहं तेषु ते मयि) उसमें परमात्मा तो है परन्तु वे परमात्मा में नहीं हैं। अर्थात् उनके गुण तो परमात्मा के कारण हैं परन्तु न वे पदार्थ परमात्मा हैं, न ही उनके गुण परमात्मा के हैं।[१]

जहाँ तक परमात्मा और जड़ पदार्थों का सम्बन्ध है, श्रीकृष्ण ने कह दिया है कि उनके सब श्रेष्ठ गुण परमात्मा के कारण हैं। यहाँ तक कि सत्त्व, रजस्, तमस् को परमात्मा से ही जानो। यद्यपि वे गुण परमात्मा में नहीं हैं। ये गुण प्रकृति के हैं। जैसे रूप, रस, गन्ध, तेज इत्यादि गुण जड़ पदार्थों के होने पर भी परमात्मा के कारण होते हैं। इसी प्रकार सत्त्व, रजस् इत्यादि हैं।

परमात्मा इनमें कारण कैसे है? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर देने में ही गड़बड़ कर दी जाती है। इसमें भूल इसलिए होती है कि कारण दो प्रकार के होते हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। जैसे एक घड़े के दो कारण हैं। एक मिट्टी, दूसरा कुम्हार। कुम्हार घड़े को बनाता है परंतु मिट्टी से। इसी प्रकार सूर्य से तेज, आपः में रस, बलवानों में बल पदार्थों के सत्व, रजस् आदि गुण हैं तो प्रकृति में, परंतु उनमें निमित्त कारण परमात्मा होता है। कारण यह कि आदि प्रकृति में सत्त्व, रजस्, तमस्, साम्यावस्था में रहते हैं। यह हम पहले बता आए हैं। तीनों गुण प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में परस्पर चिपटे रहते हैं और एक-दूसरे के आश्रय रहते हैं। इनको पृथक्-पृथक् करनेवाला परमात्मा है और इनके पृथक्-पृथक् करने से ही व्यक्त जगत् की रचना होती है। सत्त्व, रजस्, तमस् में साम्यावस्था टूटने से जगत् की रचना होती है और इन गुणों के कारण भिन्न-भिन्न पदार्थ भिन्न-भिन्न गुणोंवाले उत्पन्न हो जाते हैं।

---

१. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

—भ० गी०, ७—८, ९, १०, ११, १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



गीता में बताया है कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, प्रकृति के आठ रूप हैं। व्यक्त प्रकृति के ये रूप ही पूर्ण जगत् के पदार्थों की रचना करते हैं। इनको दूसरे शब्दों में पंचमहाभूत, मन, इंद्रियाँ, बुद्धि और अहंकार भी कहते हैं।

गीता में लिखा है कि इस जीवलोक में दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर। क्षर सब शरीर हैं और अक्षर उनकी गुहा में ठहरा हुआ पुरुष है।[१]

कूटस्थ का अर्थ है हृदयस्थ। अक्षर जीवात्मा है। दो पुरुष हैं। एक पाँचभौतिक शरीर और दूसरा कूटस्थ पुरुष (यह जीवात्मा है)। शरीर नाशवान् है, परन्तु कूटस्थ पुरुष नाशवान् नहीं है। नाश शरीर का होता है, जीवात्मा का नाश नहीं होता। (भ० गी० २—२०)

इस श्लोक में प्राणियों में दो पुरुषों के होने की बात कही है। शरीर जो पाँचभौतिक है, वह क्षर है। उसमें जीवात्मा अक्षर है।

परंतु इन दोनों से पृथक् उत्तम पुरुष है। इसको ईश्वर और परमात्मा कहते हैं। यह तीनों लोकों को धारण करता है। वह अव्यय कहा गया है।[२]

इस प्रकार परमात्मा, आत्मा और प्राणियों का शरीर ( जो पाँचभौतिक है), तीनों एक-दूसरे से भिन्न एवं स्वतंत्र पदार्थ हैं जिनसे यह लोक बना है।

श्रीकृष्ण ने उक्त कथन को और स्पष्ट करने के लिए यह कह दिया कि परमात्मा नाशवान् (जगत्) से तो पृथक् है ही, साथ ही दूसरे अक्षर (जीवात्मा) से भी उत्तम (श्रेष्ठ) है। वेदों में और लोकभाषा में वह पुरुषोत्तम के नाम से स्मरण किया जाता है।[३]

यहाँ एक और बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि श्लोक १५—१६ में कहा गया है कि पूर्ण जगत् में प्रवेश कर उसको धारण करनेवाला पुरुषोत्तम, परमात्मा, ईश्वर है और श्लोक क्रमांक १५—१८ में कह दिया कि वह जो क्षर जगत् से पृथक् और अक्षर (जीवात्मा) से भी उत्तम है, वह पुरुषोत्तम ही है। गीता में सर्वत्र कृष्ण योगयुक्त अवस्था में अपने को परमात्मा का स्थानापन्न मानकर ही बात करते हैं। अतः हम इसको ऐसा मानते हैं कि कृष्ण ने जहाँ-जहाँ भी परमात्मा के गुणोंवाला अपने को कहा है, वहाँ उसने

---

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

—भ० गी०, १५—१६

२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

—भ० गी०, १५—१७

३. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

—भ० गी०, १५—१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह सबकुछ योगयुक्त अवस्था में ही कहा है। कृष्ण सत्य ही परमात्मा थे और उन सब गुणों को रखते थे, जो परमात्मा में पाए जाते हैं, यह प्रश्न हम आगे अवतार विषयक परिच्छेद में लिखेंगे।

यहाँ हमारा केवल मात्र इतना प्रयोजन है कि कृष्ण ने जहाँ अपने को परमात्मा के गुणोंवाला कहा है, वहाँ उनका अभिप्राय परमात्मा से ही है।

इसी बात को और अधिक बलपूर्वक कहने के लिए कृष्ण ने यह कह दिया कि यह (जो कुछ पिछले श्लोक १५—१६,१७,१८ में वर्णन किया गया है) शास्त्र की एक बहुत ही रहस्य की बात है, इस तत्त्व को जानकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। शास्त्र का अर्थ ज्ञान है। (गुह्यतम) अति रहस्ययुक्त (गंभीर) ज्ञान की बात है जो मैंने तुम्हें बताई है।[१]

इसका अर्थ स्पष्ट है कि गीता इस जगत् को तीन मूल पदार्थों से बना हुआ मानती है—जड़ पदार्थ, जीवात्मा और परमात्मा।

यह बात सांख्यदर्शन के अनुसार ही है। सांख्यदर्शन में प्राणी के शरीर के बनने के विषय में लिखा है कि अहंकारों से दस इंद्रियाँ और एक मन तथा पाँच तन्मात्राएँ बनती हैं। तन्त्राओं से पाँच महाभूत बनते हैं।[२]

अहंकार महत् से और महत् मूल प्रकृति से बनता है।

हम बता आए हैं कि वैकारिक अहंकार के तेजस् अहंकार के साथ संयोग से मन और इंद्रियाँ बनती हैं और भूतादि अहंकार के संयोग से पाँच भौतिक शरीर तथा अन्य पदार्थ बनते हैं।[३]

ये सब जड़ पदार्थ हैं। इनमें चेतना नहीं है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि इंद्रियों में शक्ति वैकारी अहंकार और तेजस् अहंकार से बनती है। वह पदार्थ, जिससे हाथ-पाँव और देखने-सूँघने तथा श्रवण करने के अवयव बने हैं, वे पाँचभौतिक हैं और मांस इत्यादि से बने हैं।

---

१. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

—भ० गी०, १५—२०

२. एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्।
सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्।
कर्मेंद्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्।

—सांख्य द०, २—१७, १८, १९

३. स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य।
बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य।
तेनान्तःकरणस्य।
ततः प्रकृतेः।

—सांख्य द०, १—६२, ६३, ६४, ६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



## क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ व्यवस्था

शरीर (प्राणी का) क्षेत्र कहाता है और जो इसको जानता है वह क्षेत्रज्ञ कहाता है। जो ऐसा जानता है, उसको ज्ञानी माना जाता है।[१]

इसमें तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। शरीर क्षेत्र है। शरीर को जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है और ऐसा जाननेवाले को ज्ञानी अर्थात् जाननेवाला कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी लोग प्राणी में शरीर और क्षेत्रज्ञ को भिन्न-भिन्न मानते हैं। शरीर और उसमें शरीर का जाननेवाला भिन्न कहा है। ज्ञानी पुरुष इनसे भी भिन्न है।

परमात्मा को ही क्षेत्रज्ञ मानो। यह सब क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ के रूप में रहता है। यह जानना कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भिन्न-भिन्न हैं, ज्ञान कहाता है।[२]

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सब प्राणियों में क्षेत्रज्ञ परमात्मा है, ऐसा लिखा माना जाता है। वास्तव में लिखा है परमात्मा भी है। यदि यह कहते कि क्षेत्रज्ञ परमात्मा ही है, तब तो यह मानना पड़ता कि क्षेत्र में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। परंतु यहाँ शब्द 'अपि' का प्रयोग हुआ है। इस कारण अर्थ यह निकलता है कि परमात्मा के अतिरिक्त भी कोई क्षेत्र को जाननेवाला है। यह जीवात्मा है।

अतः १३—१ में कहा है कि जो क्षेत्र को जानता है वह क्षेत्रज्ञ है और १३—२ में यह कह दिया है (क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रषु भारत)—और सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे भी जान। इसका अर्थ यह है कि जीवात्मा तो शरीर में उस शरीर को जाननेवाला है साथ ही परमात्मा भी क्षेत्रज्ञ है और वह सब शरीरों को जानता है।

इसके आगे भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को व्याख्यासहित बताना चाहते हैं। क्षेत्रज्ञ क्या है? कैसा है? किन-किन विकारोंवाला है और उसकी सृष्टि किस कारण से हुई? यह सब वर्णन, साथ ही क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेप में अर्जुन को बताते हैं।[३]

यह वर्णन (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का) गीता में वही है जो ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है, जो वेदों के छंदों में पृथक्-पृथक् करके कहा गया है। यही वर्णन

---

१. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

—भ० गी०, १३—१

२. क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

—भ० गी०, १३—२

३. तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

—भ० गी०, १३—३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ब्रह्मसूत्रों के पदों में युक्ति-युक्त ढंग से किया गया है।

वह इस प्रकार है—क्षेत्र है पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त दस इंद्रियाँ, एक मन, इंद्रियों के विषय (जो इंद्रियगोचर हैं)।

इनके साथ चेतना के संघात से इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और धृति पैदा होते हैं। ये संक्षेप में विकारों सहित क्षेत्र हैं।[1]

यहाँ क्षेत्र के अर्थ बताते हुए जहाँ पंचमहाभूत अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (जीवात्मा), दस इंद्रियाँ, एक मन और पाँच इंद्रियों के विषय को क्षेत्र बताया है, वहाँ चेतना के संघात से सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और धृति (कार्य करने की क्षमता) का भी उल्लेख किया है। सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और प्रयत्न सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा के लिंग बताए गए हैं। यहाँ इनका समावेश क्षेत्र में माना है। साथ ही क्षेत्र के अर्थ (१३—१ में) शरीर के हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि सुख-दुःख आदि लक्षण क्या शरीर के हैं? प्रत्यक्ष रूप में ऐसा ही लिखा प्रतीत होता है।

परंतु ऐसा है नहीं। उसका कारण यह है कि गीता में अन्य स्थलों पर जीवात्मा को पाँचभौतिक शरीर से पृथक् माना गया है। उदाहरण के रूप में १५—१६, १७ में यह लिखा है कि इस लोक (प्राणी) में दो पुरुष हैं। एक क्षर है और दूसरा अक्षर है। सब भूत क्षर हैं और उनमें एक अक्षर कूटस्थ है। यह अक्षर पुरुष एक दूसरे पुरुषोत्तम से भिन्न है। यह दूसरा पुरुषोत्तम परमात्मा अथवा ईश्वर कहा जाता है।

इससे यह प्रकट होता है कि गीता में भगवान् ने यह स्वीकार किया है कि कूटस्थ अक्षर और पुरुषोत्तम भिन्न-भिन्न हैं। कूटस्थ अक्षर शरीर से भी भिन्न है।

इस (गी० १३—५) में भी क्षेत्र के सब अंगों का वर्णन करते हुए पाँचमहाभूत, इंद्रियाँ, मन, अहंकार और बुद्धि के अतिरिक्त अव्यक्त का उल्लेख किया है। १५—१६ में भी भूतों के अतिरिक्त अक्षर पुरुष का उल्लेख आया है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर में विकारयुक्त पंचमहाभूत और इंद्रियादि के अतिरिक्त एक अव्यक्त है। यह जीवात्मा ही है।

दूसरे लोग इस अव्यक्त को भी मूल प्रकृति मानते हैं। परंतु श्लोक १३—६ में यह स्पष्ट कर दिया है कि वह मूल प्रकृति नहीं है। कारण यह कि इस मूल प्रकृति में सुख-दुःख, इच्छा-द्वेषादि चिह्न नहीं और फिर अव्यक्त के संघात से चेतना पैदा होती है। मूल प्रकृति जिसमें सत्त्व, रजस्, तमस् साम्यावस्था में रहते हैं, न चेतन है, न ही उसमें सुख-दुःख इत्यादि चिह्न रहते हैं। अतः १३—६ में अव्यक्त का अर्थ मूल प्रकृति नहीं बनता, प्रत्युत (१५—१६ वाला) पुरुष ही है।

---

१. महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेंद्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

—भ० गी०, १३—५, ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



१३—५ में अव्यक्त से अभिप्राय जीवात्मा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण १३—४ में है। श्रीकृष्ण बताते हैं कि ऋचाएँ तथा ऋषि भी ऐसा कहते हैं। ऋग्वेद (संहिता) (१-१६४-२०) में स्पष्ट लिखा है कि जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा तीनों पृथक्-पृथक् हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१—७ और १—९) में भी यही लिखा है। इन सब प्रमाणों की उपस्थिति में १३—५, १३—६ का अर्थ भी उसके अनुरूप ही हो सकता है।

गीता ७—६ में लिखा है कि संपूर्ण भूत इन दो प्रकृतियों (प्रजाओं) (परा और अपरा) से बने हैं। यहाँ परा को प्रकृति का व्यक्त रूप और अपरा को जीव (जीवात्मा) कहा है।

अतः यह सिद्ध है कि श्लोक १३—६ में इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, लिंगवाला अव्यक्त और इनके संघात से चेतना तथा धृति —ये परमात्मा के लक्षण लिखे गये हैं। इनको ही क्षेत्र कहा है। जीवात्मा अपने लक्षणों को प्रकट भी शरीर द्वारा ही कर सकता है। शरीर से अभिप्राय स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से है। जब ये दोनों शरीर छूट जाते हैं, तब इन लक्षणों का रूप भी बदल जाता है। ये रहते तो हैं, परंतु तब इनका संघात चेतना में नहीं आता। वह अवस्था मुक्त जीवों की होती है। उनके विषय में मुक्तावस्था का वर्णन करते हुए लिखेंगे।

यहाँ केवल इतना बताने से प्रयोजन है कि शरीर में जड़ और चेतन दो पुरुष रहते हैं। शरीर को क्षेत्र कहते हैं। और जीवात्मा तथा परमात्मा क्षेत्रज्ञ हैं जो क्षेत्र को जानते हैं। जीवात्मा जब ज्ञान-युक्त हो जाता है तब वह शरीर, अपने और परमात्मा के विषय में जानने लगता है और क्षेत्रज्ञ कहाता है। तब दो क्षेत्रज्ञ हो जाते हैं। (१३—२)

परंतु परमात्मा के विचार से शरीर और जीवात्मा दोनों को क्षेत्र माना है।

यह लिखा है कि ज्ञान क्षेत्रज्ञ में ही विद्यमान है और जीवात्मा में आ जाता है, जब वह किसी ज्ञानी की संगति में बैठता है अथवा जब वह योगाभ्यास से बुद्धि को निर्मल कर लेता है, अथवा जब वह परमात्मा की भक्ति से चित्त को स्थिर कर लेता है।

अब आगे उस ज्ञान के लक्षण बताए गये हैं। ज्ञान के लक्षण हैं (अमानित्वम्) अभिमान का अभाव, (अदम्भित्यम्) दम्भाचरण का अभाव, (अहिंसा) प्राणियों को दुखी न करना, (क्षांतिः) क्षमा भाव, (आर्जवम्) सरलता, (आचार्योपासनम्) गुरुजनों के पास बैठना, (शौचम्) शुद्धता, (स्थैर्यम्) स्थिरता (बुद्धि इत्यादि में)(आत्मविनिग्रहः)अपने (मन-इंद्रियों) पर नियंत्रण, (इंद्रियार्थेषु वैराग्यम्) इंद्रियों के विषय में अनासक्ति, (अनहंकारः), अहंकार का अभाव, (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख, दोष अनुदर्शनम्) जन्म, मृत्यु, जरा, दुःख, व्याधि के दोषों को जानना। (असक्तिः) आसक्ति का अभाव, (अनभिष्वंगः) ममता का अभाव, (समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु) प्रिय-अप्रिय से मिलते समय चित्त को सम रखना; (मयि चानन्य योगेन भक्तिः अव्यभिचारिणी) परमेश्वर के प्रति किसी भी कारण से न हटने वाली भक्ति, (विविक्त देश सेवित्वम्) एकांत शुद्ध देश में रहने की रुचि, (जन संसदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अरतिः) जनसमुदाय से लगाव न रखना; (अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वम्) अध्यात्म ज्ञान में नित्य चिंतन, (तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्) तत्त्वज्ञान के प्रयोजन को जानना।

ये सब बातें ज्ञान के लक्षण हैं, अर्थात् इस प्रकार का आचरण करनेवाले को ज्ञानी कहते हैं। इसके विपरीत अज्ञान है।[१]

उक्त ज्ञान जानने योग्य है। जिसे जानकर मनुष्य अमृत को प्राप्त होता है। इस अमृत को परमात्मा भी कहते हैं। वह आदिरहित परम ब्रह्म है। वह सत् असत् नहीं है। न उसका अंत है।[२]

यहाँ यह बात समझने की है कि परमात्मा को न सत् न ही असत् माना है। परंतु परमात्मा को सच्चिदानंद (सत्, चित् और आनंद) माना जाता है। तो यह परस्पर विरोधी बात किस कारण है? परमात्मा तो सत् है।

अतः यहाँ यह समझना चाहिए कि जहाँ सत् और असत् का पद एक साथ आएगा, वहाँ अभिप्राय प्रकृति से है। केवल प्रकृति ही सत् और असत् दोनों एक साथ है। इस कारण परमात्मा सत् असत् नहीं है, ऐसा कहा गया है। अभिप्राय यह है कि परमात्मा प्रकृति की भाँति सत् और असत् भेदवाला नहीं है। यह नित्य और एकरस है।

परमात्मा सब ओर से हाथ-पाँववाला, सब ओर से नेत्र, मुख और सिरवाला है, सब ओर से कानवाला है। यह इस कारण कहा जाता है कि वह इस जगत् में सबको व्याप्त करके स्थित है।

परमात्मा संपूर्ण इंद्रियों के विषयों को भी जाननेवाला है, इस पर भी सब इंद्रियों से रहित है। यह आसक्तिरहित है। गुणों (त्रिगुणों) से परे है। (और सबको धारण किए हुए है) और सब गुणों को रखता है।

यह चराचर सब प्राणियों के बाहर-भीतर अर्थात् उन्हें परिपूर्ण कर रहा है। यह चर भी है और अचर भी है। अति सूक्ष्म होने पर भी अविज्ञेय है। वह समीप भी है और दूर भी है।[३]

---

१. —भ० गी०, १३—७, ८, ९, १०, ११

२. ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

—भ० गी०, १३—१२

३. सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

—भ० गी०, १३—१३, १४, १५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परमात्मा के इस स्वरूप का वर्णन वेदानुसार ही किया गया है। वेद में परमात्मा के विषय में लिखा है कि वह सहस्रों सिरों, सहस्रों आँखों, सहस्रों पाँवोंवाला है। जगत् में वह सब ओर व्यापक है और वह दस इंद्रियों, पाँच तन्मात्राओं और पाँच भूतों से (अर्थात् प्रकृति से) पृथक् स्थित है।[1]

यजुर्वेद का संपूर्ण इकतीसवाँ अध्याय पुरुष सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पुरुषोत्तम परमात्मा के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है।

फिर यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में लिखा है कि ईश्वर चर-अचर जगत् में व्यापक है।

वह चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है, वह सबके भीतर है और बाहर भी है।[2]

परमात्मा के इस स्वरूप का वर्णन भारतीय शास्त्रों की विशेषता है। और भी लिखा है—वह एक ही है, विभागरहित है और पंचभूतों में बँटा हुआ-सा दिखाई देता है। वह परमात्मा जानने योग्य है। प्राणियों को धारण करता है, संहार करता है और सबको उत्पन्न करनेवाला है।[3]

यहाँ यह बात समझने की है कि परमात्मा विभागरहित है। साथ ही पंचभूतों में यह बँटा हुआ-सा भी मालूम होता है। यहाँ भी परस्पर विरोधी बात नहीं है। एक बात यह कि बँटा हुआ-सा प्रतीत होता है, परन्तु ऐसा है नहीं। किस प्रकार बँटा हुआ-सा दिखाई देता है? अपनी व्यापकता के विचार से परमात्मा प्राणियों में स्थित है। यह स्थिति भिन्न-भिन्न प्राणियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से और भिन्न-भिन्न समय में मिलती है। एक प्राणी इस समय जीवित है, दूसरा इसी समय मृत्यु को प्राप्त हो रहा है। एक प्राणी इस समय सुख भोग रहा है और दूसरा सुख से वंचित हो रहा है। इससे परमात्मा प्राणियों में विभक्त हुआ-सा प्रतीत होता है। वास्तव में इसमें (धारण) उत्पन्न करने की अथवा नष्ट करने की सामर्थ्य तो सदा एकरस बनी रहती है, परंतु प्राणी के कर्म फलों के अनुसार किसी स्थान पर एक प्रकार से कार्य कर रही है और दूसरे स्थान पर दूसरे प्रकार

---

१. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिँ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

—यजु०, ३१—१

२. ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

—यजु०, ४०—१, ५

३. अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

—भ० गी, १३—१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से। परमात्मा की शक्ति का रूप सब स्थानों पर एक समान है, परंतु प्राणियों के कर्म फल से वह भिन्न-भिन्न प्रकार कार्य करती है और ऐसा प्रतीत होता है कि बँट रही है।

परमात्मा के स्वभाव के विषय में और भी लिखा है। वह परमात्मा ज्योतिर्मान पदार्थों में ज्योति है और अंधकार अर्थात् अविद्या से दूर है, ऐसा कहा जाता है। वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, जानने के योग्य है और जाना जा सकता है। वह सबके हृदय में स्थित है।[१]

इस श्लोक में परमात्मा को ज्ञान से प्रकाशमान और अंधकार तथा अविद्या से दूर कहा है। साथ ही लिखा है कि सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। यहाँ हृदय के विषय में यह समझ लेना चाहिए कि भारतीय विज्ञान में हृदय केवल रक्त-संचालन करनेवाले यंत्र को नहीं कहते, प्रत्युत मनुष्य के कपाल में स्थित मस्तिष्क को भी कहते हैं। मस्तिष्क में ऊपर की ओर ब्रह्मरंध्र के नीचे एक गुहा होती है और उसमें जीवात्मा स्थित होता है। वहाँ परमात्मा उसके स्पर्श में आ सकता है। इसी कारण परमात्मा को वहाँ पर स्थित कहा जाता है। वैसे तो परमात्मा सर्वव्यापक है।

इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और ज्ञान का स्वरूप वर्णन कर दिया गया है। इन तीनों को जानकर प्राणी परमात्मा के भाव का (अर्थात् परमात्मा के अनुकूल) हो जाता है (भ० गी०, १३—१८)।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवरण बताकर श्रीकृष्ण अब क्षेत्र का विश्लेषण करते हैं। प्राणियों के शरीर में दो पुरुष रहते हैं। ऐसा १५—१६ में वर्णन किया गया है। वहाँ कहा है कि सब भूतों में एक क्षर भाग होता है और एक अक्षर। क्षर भाग पाँचभौतिक है और पंचभूत प्रकृति का व्यक्त रूप ही है। इस प्रकार प्राणियों में दो तत्त्व मिले हैं। एक प्रकृति, दूसरा जीवात्मा। उसी के विषय में यहाँ (१३—१९ में) कहा है। भगवान् कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। विकार प्रकृति के गुणों से ही पैदा होते हैं।[२]

यहाँ विकार का अभिप्राय है महत् अहंकार, तन्मात्रा, पंचमहाभूत, दस इंद्रियाँ और मन। ये प्रकृति के विकार हैं और तीनों गुणों के न्यूनाधिक हो जाने से उत्पन्न हो जाते हैं। यह हम ऊपर बता चुके हैं कि अव्यक्त प्रकृति में ये गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) साम्यावस्था में होते हैं। ईश्वर की व्यवस्था से यह समता टूट जाती है। कहीं सत् प्रधान हो जाता है, कहीं रजस् और तमस्। इस प्रधानत्व और गौणत्व में अंतर आने से प्रकृति में विकार उत्पन्न होने लगते हैं। यह सब इससे पूर्व 'गीता और सांख्य' की कण्डिका में

---

१. ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

—भ० गी०, १३—१७

२. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

—भ० गी०, १३—१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वर्णन किया जा चुका है।

यहाँ इस श्लोक में यह कहा गया है कि प्रकृति में विकार गुणों से उत्पन्न होते हैं। यह श्लोक सांख्यदर्शन की ही पुनरावृत्ति है। सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष को नित्य माना है, अन्य सब (विकार) अनित्य माने गए हैं।[१]

यहाँ और गीता के १३—१९ में एक ही बात लिखी है। दोनों स्थानों पर पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा और परमात्मा दोनों से है। दोनों आत्मतत्त्व हैं। दोनों अव्यक्त हैं और दोनों नित्य हैं। फिर भी दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं और दोनों के प्रकृति से संबंध भिन्न-भिन्न हैं।

गीता १३—१ से १८ तक में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन है। वहाँ जीवात्मा को क्षेत्र के साथ माना गया है। यह इस कारण कि जीवात्मा दो ही स्वरूपों में मिलता है। एक तो प्राणी के शरीर में दूसरा परमात्मा में लीन होने पर अर्थात् जब वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जब तक शरीर में रहता है, वह अल्प ज्ञानवाला ही होता है। इस कारण उसको क्षेत्रज्ञ नहीं कहा जा सकता, अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से जीवात्मा को प्रकृति के साथ रखा है। इसी कारण इसको और प्रकृति को गीता (गी० ७—५) में भी पुरुष ही कहा है। परमात्मा को पुरुषोत्तम कहा है और जीवात्मा तथा प्रकृति को पुरुष कहा है।

अभिप्राय यह कि ज्ञान के विचार से जीवात्मा, शरीर जैसा ही अज्ञानी है, परंतु चेतना के विचार से वह परमात्मा के समान पुरुष है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (१—९) में लिखा है कि प्रकृति के अतिरिक्त दो आत्मतत्त्व हैं, एक ज्ञानवान् और दूसरा अज्ञानी है।

इसी बात को और स्पष्ट करने के लिए अगले श्लोक में कह दिया है कि कार्य, कारण और करणों के उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु (कारण) है। यहाँ कारण से उपादन कारण का ही अभिप्राय है। सुख-दुःख को भोगने में पुरुष (जीवात्मा) हेतु (कारण) है। यहाँ पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा है।[२]

हम यह बता चुके हैं कि पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा और परमात्मा दोनों से है, परंतु इस श्लोक (१३—२०) में जीवात्मा से ही अभिप्राय है परमात्मा से नहीं, अर्थात् इस श्लोक में प्रकृति पुरुष में भेद किया गया है।

यहाँ पुरुष से अभिप्राय परमात्मा से नहीं है। कारण यह कि परमात्मा भोग नहीं करता। भोग करना जीवात्मा का धर्म है। इसमें वेद और उपनिषद् प्रमाण हैं।

---

१. प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम्॥

—सांख्य द० ५—६८

२. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

—भ० गी०, १३—२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वेद (ऋक् १-१६४-२०) में लिखा है कि परमात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठा हुआ है। वह भोग नहीं करता। केवल साक्षी मात्र है और जीवात्मा प्रकृति रूपी वृक्षों के फलों का भोग करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है कि आत्मा परवश है, भोग करता हुआ (जन्म-मरण में) बँधा रहता है। जब वह परमात्मा को जान जाता है तब सब बंधनों से छूट जाता है।[१]

सांख्यदर्शन में लिखा है कि जीवात्मा का प्रकृति से संयोग (भोग) होने से यह जन्म-मरण के बंधन में बँधता है और प्रकृति का संयोग (भोग) अविवेक से होता है। यह वही भाव है जो वेदमंत्र और श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित है।[२]

नित्य (अक्षर और अनादि) शुद्ध (अपरिणामी) बुद्धि (चेतन) मुक्ति की इच्छावाला आत्मा बिना प्रकृति के संयोग (भोक्तृ भाव) के नहीं बँधता।

साथ ही कहा है कि आत्मा का प्रकृति से संयोग बिना अविवेक के नहीं होता।[३]

पहले बताया गया है कि कार्य और करण (इंद्रियों) के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति है और सुख-दुःख और भोग में हेतु पुरुष (जीवात्मा) है।

इसी बात की अधिक व्याख्या अगले श्लोक में कर दी है। पुरुष (आत्मा) जब प्रकृति में स्थित होता है, तब ही प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करता है। इन गुणों के भोग का ही परिणाम अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेना है। इसका प्रकृति से संयोग और इसके गुणों का भोग अविवेक से ही होता है। इसी कारण जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ के साथ रखा है और क्षेत्र के साथ भी।[४]

अब इस अध्याय में यहाँ मूल तत्त्वों में विभाजन, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विचार से नहीं है। अब विभाजन प्रकृति और पुरुष, जड़ तत्त्व और चेतन, दोनों में है। दोनों को अनादि कहकर प्रकृति और पुरुष का अंतर वर्णन कर दिया गया है।

जब आत्मतत्त्व की व्याख्या करने लगे तो दोनों आत्मतत्त्वों में भेद बता दिया। पहले उस आत्मतत्त्व की बात लिख दी जो आत्मतत्त्व शरीर में रहता है। उस आत्मा के

---

१. अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्—
ज्ञात्वा देवमुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वे० उ०, १—८

२. न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।

—सांख्य द०, १—१९

३. तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ।

—सांख्य द०, १—२०

४. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

—भ० गी०, १३—२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विषय में लिख दिया कि सुख-दुःख और भोग करने में हेतु है। यह भोग करता है। प्रकृतिजन्य गुणों का भोग करने से जन्म-मरण के बंधन में फँस जाता है।

अब आगे परमात्मा का अर्थात् दूसरे क्षेत्रज्ञ (गी० .१३—२) का वर्णन है। वहाँ इस प्रकार लिखा है, वह (परमात्मा) उपद्रष्टा (सब कुछ देखनेवाला), अनुमन्ता (सबको ज्ञान देनेवाला), पालन करनेवाला, भोक्ता (प्रलय करनेवाला तथा सबके जीवन को समाप्त करनेवाला) सबका ईश्वर है। वह इस देह में दूसरा पुरुष है।[1]

इस प्रकार प्रकृति को अपने गुणों सहित और प्रकृति से पृथक् पुरुष को जो तत्त्व से देखता है वही तत्त्ववेत्ता है और वह जन्म-मरण से छूट जाता है। यह भी लिखा है कि कितने तो ध्यान के द्वारा आत्मा से आत्मा को देख लेते हैं। कुछ हैं जो आत्मा में ध्यान लगाने पर (भक्ति से) उसे देख लेते हैं और कई लोग सांख्य की दृष्टि से देख लेते हैं।[2] जो बात हम ऊपर कह आए हैं, वही यहाँ प्रकट की गई है। हमने कहा है कि शरीर का आत्मतत्त्व जगत् के आत्मतत्त्व से दूसरा है। तभी तो एक-दूसरे को देखता है। आत्मा से आत्मा को देखने के कई उपाय हैं, ध्यानयोग, सांख्य, कर्मयोग इत्यादि।

इस प्रकार इस कण्डिका में हमने सांख्य का मत कि आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीन मूल तत्त्व हैं, का वर्णन, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार से, गीता में कहे अनुसार किया है।

## परमात्मा और आत्मा में भेद

पूर्व कण्डिका में हम लिख चुके हैं कि क्षेत्र के लक्षण वर्णन करते हुए आत्मा के लक्षण भी उसमें वर्णन कर दिए गए हैं। क्षेत्र शरीर है परंतु गीता १३—६ में लिख दिया है कि इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, इनका संघात, चेतन एवं धृति, ये सब मिलकर क्षेत्र हैं। यहाँ इसके साथ (१३—५ में) यह भी लिखा है कि क्षेत्र में पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त (आत्मतत्त्व) तथा इंद्रियाँ, मन और इंद्रियों के पाँच विषय हैं।

यहाँ दो बातें कही गई हैं। एक यह कि यह शरीर क्षेत्र है। क्षेत्र के लक्षण बताते हुए कहा है कि यह प्रकृति का व्यक्त रूप है। दूसरी बात यह कही है कि एक अव्यक्त

---

१. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

—भ० गी०, १३—२२

२. य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

—भ० गी०, १३—२३, २४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पदार्थ भी है और साथ ही लिखा है कि इसमें सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष इत्यादि हैं।

उक्त कण्डिका में हम लिख आए हैं कि जहाँ तक ज्ञान का संबंध है, जीवात्मा को क्षेत्र के साथ ही रखा जा सकता है अर्थात् जीवात्मा अज्ञ है। इस बात के प्रमाण हमने वेद और श्वेताश्वतर उपनिषद् से दिए हैं। जीवात्मा को अज्ञ माना गया है।

गीता में भी पग-पग पर लिखा है कि जीवात्मा भोग-ऐश्वर्य और इंद्रियों के विषयों में फँसा हुआ जन्म-मरण के बंधन में आता है। तब वह इन सबको छोड़कर समभाव में विचरता है, तब वह परमात्मा में स्थित हो जाता है।

उदाहरण के रूप में लिखा है कि काम-क्रोध से रहित, जिसने चित्त (मन और बुद्धि) को जीत लिया है और आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह ज्ञानी सब ओर से शांति प्राप्त करता है।

जो बाहर के विषयों को बाहर ही त्याग देता है और आँखों की भ्रूवों के मध्य चित्त को लगाता है और नासिका द्वारा प्राण और अपान वायु को सम कर लेता है;

जिसने मन, बुद्धि और इंद्रियों को जीत लिया है और जो मोक्षपरायण जीव, भय, क्रोध, इच्छा से रहित हो जाता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।[१]

इन और अन्य कई श्लोकों के अध्ययन से पता चलता है कि जब आत्मा मन, बुद्धि और इंद्रियों को अपने वश में कर लेता है तब वह परम शांति को प्राप्त होता है। यह शांति ही मोक्ष है। इसका अर्थ यह है कि जीव संभवतः इन पर नियंत्रण नहीं रख सकता। इन पर नियंत्रण करने के लिए योगाभ्यास, भक्ति, योग, यज्ञ, तप इत्यादि उपाय बताए हैं।

फिर यह भी लिखा है कि यज्ञ और तप करनेवाला जीव जब परमात्मा, सब लोकों के महेश्वर, सब प्राणियों के मित्र को तत्त्व से जान लेता है, तब वह महान् शांति को प्राप्त होता है।[२]

इससे भी यह पता चलता है कि आत्मा सामान्य रूप में अशांत होता है। जब यह यज्ञ, तप इत्यादि करने से चित्त पर विजय पा लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है।

---

१. कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

—भ० गी०, ५—२६, २७, २८

२. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति॥

—भ० गी०, ५—२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अर्थात् यह इन उपायों से मोक्षपद प्राप्त करता है, परंतु पहले वह कर्म-बंधन में बँधा होता है।

और भी लिखा है।

योगी अपने आत्मा को परमात्मा से युक्त करके संयमित मन हो परमात्मा में स्थित होता है और परम शांति को प्राप्त होता है।[१]

यह सिद्ध हो गया कि प्राणियों में स्थित जीवात्मा अज्ञानी अविवेकी होने से जन्म-मरण के बंधन में फँसा रहता है और जब वह इंद्रियों को जीत लेता है, यज्ञ और तप से मोक्ष प्राप्त कर लेता है अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है, तब वह परम शांति को प्राप्त होता है।

अतः जीवात्मा और परमात्मा दोनों चेतन हैं, परंतु एक सर्वव्यापक है और दूसरा केवल शरीर में हृदय की गुहा में ही रहता है। परमात्मा सर्वव्यापक होने से उस गुहा में भी होता है, परंतु जीवात्मा केवल उसमें ही होता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् पूर्ण जगत् को धारण करनेवाला, अनादि, सब पर अनुशासन करनेवाला है। सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबका भरण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्य स्वरूप, प्रकाशमान, अविद्या से परे है।[२]

परमात्मा के विषय में यह भी कहा है कि यह अव्यक्त, अक्षर है। उसके अंतर्गत सब भूत प्राणी रहते हैं। उससे यह जगत् परिपूर्ण है। वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।[३]

परंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है। इसीलिए इसको ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है। वह जन्म-मरण रूपी बंधन में बँधा हुआ है। इसी कारण इसके लिए मोक्ष का मार्ग बताया गया है। यह प्रकृति का भोक्ता है। इसी से सुख-दुःख में फँसा रहता है।

परमात्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण अपनी अथवा अन्य की माया में नहीं फँसता।

यह सिद्ध है और गीता में भी वर्णन किया गया है कि प्रकृति आत्मतत्त्व से भिन्न है और आत्मतत्त्व दो प्रकार के हैं। एक ज्ञानवान् है और दूसरा अज्ञानी है।

---

१. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

—भ० गी०, ६—१५

२. कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयासमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

—भ० गी०, ८—९

३. पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

—भ० गी०, ८—२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इनके स्वरूप में भेद यह है कि प्रकृति जड़ है। यह सत् भी है और असत् भी है। एक स्थिति में अविनाशिनी है। उस स्थिति में यह सत् है परंतु प्रकृति एक रूप में नाशवान् है। उसमें वह असत् है।

आत्मतत्त्व जीवात्मा और परमात्मा है। ऐसा ही गीता में माना गया है। कहीं-कहीं गीता में लिखा है कि जीव जब ज्ञानवान् हो जाता है तो परमात्मा में जाकर स्थित हो जाता है। ब्रह्मणि स्थिताः (भ० गी० ५—१९, २०)। परमात्मा के भाव में आ जाता है (भगवद्गीता ४—१०)। अर्थात् मेरे जैसे विचारवाला हो जाता है। मेरा मार्ग अपना लेता है। (परमात्मा को प्राप्त होता है)। (सनातनम् ब्रह्म यान्ति। ४—३१)। परमात्मा के साथ एक ही भाव में महान् निर्वाण, शांति को पाता है; (ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते) (५—२६)। परमात्मा के परायण होकर (मत्परः आसीत्) परमात्मा में स्थित होकर शांति प्राप्त करता है। (मत्संस्थामधिगच्छति ६—१५)। परम गति को प्राप्त होता है (यान्ति परंगतिम्); परमात्मा का भक्त परमात्मा को ही प्राप्त होता है (मद्भक्ता यान्ति मामपि ७—२३)। मेरे भाव में आ जाता है, मेरे जैसे विचार का हो जाता है अथवा परमात्मा जैसे स्वरूप का हो जाता है। (स मद्भावं याति ८—५)। दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है। (परंपुरुषं दिव्यं उपैति ८—१०)। दिव्य रूप परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

## परमात्मा और उसकी माया

माया शब्द अति प्राचीन काल से प्रचलित है, परंतु माया के जो अर्थ अद्वैतवादियों ने निकाले हैं, वे न तो युक्ति से ठीक प्रतीत होते हैं, न ही वे शास्त्र के अनुसार हैं।

शंकराचार्य गीता का भाष्य करते हुए माया की व्याख्या नहीं करते। फिर भी वे जो कुछ मानते हैं, वह इस प्रकार है। माया परमात्मा की शक्ति है जिससे भ्रम उत्पन्न हो जाता है और उस भ्रम में परमात्मा फँसकर असल को नकल और नकल को असल मानने लगता है।

इसमें सब अद्वैतवादी एक विख्यात उदाहरण देते हैं। किसी मनुष्य ने रात को घर आते समय एक रज्जु पड़ी देखी और उसे साँप मान वह बचकर निकल गया और रात-भर त्रसित रहा। प्रातः वह पुनः उसी मार्ग पर गया और उसी स्थान पर जहाँ साँप देखा था, वहाँ उसी प्रकार से पड़ी रज्जु देखकर उसका भ्रम-निवारण हो गया।

अद्वैतवादियों का कहना है कि परमात्मा को किसी स्थिति में माया (यह जगत्) अति सुंदर, सुखद और सुलभ प्रतीत होने लगती है। जगत् (माया) वास्तव में कुछ भी नहीं। यह भ्रम मात्र है। इस जगत् को ऐसा देख आत्मा (परमात्मा) इसमें काल्पनिक रस लेने लगता है। वास्तव में न जगत् है, न उसका रस है। इस कल्पना में फँसा हुआ आत्मा (परमात्मा) भटकता रहता है। इस भटकने को ही जन्म-मरण के बंधन में फँसना कहते हैं। जब मनुष्य को जगत् के मिथ्या होने का ज्ञान हो जाता है तो वह ज्ञानयुक्त हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



शांति को प्राप्त होता है और फिर भटकता नहीं।

जगत् रज्जु की भाँति माया है। इस युक्ति और उदाहरण में कई छिद्र हैं। प्रथम यह कि रज्जु का अस्तित्व है। उसकी साँप में प्रतीति मिथ्या तो है, पर रज्जु मिथ्या नहीं है। इसी प्रकार जगत् मिथ्या नहीं। जगत् का यह सुंदर, सुखद, सुलभ रूप ही मिथ्या है। वह मिथ्या रूप जो रज्जु का स्थानापन्न था, क्या है? उसका कुछ अस्तित्व है, तो क्या है? इन प्रश्नों को यह कहने वाले 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' समझा नहीं सकते। रज्जु मिथ्या नहीं थी, रज्जु को साँप समझना मिथ्या था। इसी प्रकार जगत् मिथ्या नहीं। जगत् को सुंदर-सुखद मानना मिथ्या है। अतः जगत् क्या है? यह प्रश्न बना ही रहा। इसे सर्प-रज्जु का उदाहरण समझा नहीं सकता।

एक अन्य पद कहा जाता है। वह है 'एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म' एकमात्र ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है। ऐसा इस पद का अर्थ किया जाता हैं। इसका अर्थ तो यह भी हो सकता है कि 'एकम् एव अद्वितीयम् ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म एक ही है जो अद्वितीय है, अपने समान किसी को नहीं रखता। इसका भावार्थ यह भी बन जाता है कि ब्रह्म से विलक्षण अन्य भी कोई हो सकता है।

अब यदि प्रथम अर्थ माना जाए कि अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त कोई नहीं, तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह जगत् कहाँ से आ गया? अद्वैतवादी इस जगत् को सर्प-रज्जु के उदाहरण से स्पष्ट नहीं कर सके। अतः उनकी दूसरी व्याख्या भी देखनी चाहिए। वे कहते हैं—

ब्रह्म में माया नाम की एक शक्ति है, जिससे यह संसार प्रतिभूत हुआ प्रतीत होता है। यह माया सत्य स्वरूप नहीं और न ही यह सर्वथा असत् स्वरूप है, क्योंकि इसके कारण इस जगत् की भ्रांति होती है। वस्तुतः यह माया संसार की मिथ्या भ्रांति का एकमात्र कारण है। भौतिक संसार तथा जीवात्माओं की प्रतीति का एकमात्र कारण माया है। इसका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। यह अनिर्वचनीय है। ब्रह्म माया की उपाधि से इस जड़ चेतन जगत् को प्रकट करता है।

माया ही अद्वैतवादियों के विचार से जगत् का उपादान कारण है। यहाँ कहा जाता है कि माया से युक्त ब्रह्म ईश्वर कहाता है। इस ईश्वर की अध्यक्षता में शनैः-शनैः क्रमशः इस माया का विकास होता है, जिससे भिन्न-भिन्न नाम तथा रूपवाला यह जगत् बनता है। इस माया से ही पंचमहाभूतों तथा चेतन प्राणियों के शरीरों की यथासमय उत्पत्ति होती है। इन सब भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले पदार्थों में यह अभेद्य परब्रह्म विराजमान है। माया की उपाधि के कारण यह ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में विभक्त प्रतीत होता है। इन सब जीवों में जो सत्य है, वह एकमात्र ब्रह्म है। सब अंतःकरण की वृत्तियों और इंद्रियों के कारण जीवों में परस्पर भेद दिखाई देता है। यह एकमात्र माया के कारण है। यह भेद यथार्थतः सत्य नहीं।

इनमें भी ये लोग एक उदाहरण देते हैं। भूमि पर दस पात्रों में जल रखा जाए तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उन दस पात्रों में सूर्य का प्रतिबिंब भिन्न-भिन्न दिखाई देगा। यदि एक पात्र का जल हिले तो उसमें प्रतिबिंब भी हिलता दिखाई देगा; जबकि दूसरों में अचल रहता है। इस प्रकार प्रतिबिंब की भिन्न-भिन्न पात्रों में भिन्नता दिखाई देती है। वास्तव में वह असल तो अचल ही है। इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियों के कारण परमात्मा का प्रतिबिंब भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। वास्तव में वह एक ही है।

अतः जगत् का ज्ञान और जीवों का ज्ञान दोनों भ्रम ही हैं। इस उदाहरण और कथन में भी दोष है। इसमें भी वही छिद्र है कि यह माया क्या है? उत्पन्न होने से पहले यह थी अथवा नहीं? यदि थी तो कब से है? उत्पन्न हुई तो क्यों हुई? ईश्वर जो परमात्मा का स्वरूप ही है, क्यों इस माया को जन्म देने में लीन हो गया? जगत् में उसके अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है, अतः किसके लिए यह माया उत्पन्न की गई और क्यों की गई? माया के उत्पन्न करने में परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का सहयोग है या नहीं? तो क्या मिथ्या भ्रममूलक अविद्या परमात्मा में पहले थी? तब यह परमात्मा में बिना किसी अन्य द्रव्य की सहायता से अपने में से ही पैदा क्यों हो गई? एक बात कहने से पचास संशय उत्पन्न हो जाते हैं। यह इस कारण कि जो कुछ कहा जा रहा है, वह सत्य नहीं।

सत्य क्या है? यह आगे चलकर बताएँगे। यहाँ पहले हम अद्वैतवादियों का मत लिख रहे हैं।

इस माया की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि प्रत्येक कल्प के उपरांत ईश्वर सृष्टि का संहार करता है। तब यह दृश्य प्रपंच उस अदृश्य माया में लीन हो जाता है। सब जीव भी उपाधियों से पृथक् हो गाढ़ निद्रा में निमग्न हो जाते हैं। परंतु क्योंकि उनके पूर्वजन्म के कर्म क्षीण नहीं हुए, इस कारण ब्रह्म दिन होने पर नई सृष्टि की उत्पत्ति के साथ उनको पुनः भिन्न-भिन्न योनियाँ मिल जाती हैं।

उक्त पूर्ण विवरण पढ़ने पर एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि यदि माया के स्थान पर 'सांख्य' की प्रकृति लिख दी जाए तो दोनों में अधिक अंतर नहीं रह जाता। अंतर केवल दो बातों में रह जाता है कि माया ब्रह्म दिन की समाप्ति पर ब्रह्म में लीन होती है अथवा किसी अन्य में। दूसरा अंतर यह है कि इस माया में लिप्त होने से पहले परमात्मा और ईश्वर में कोई अंतर था अथवा नहीं।

पूर्व इसके कि हम सांख्य और अद्वैतवादियों के कथनों में भेद पर विवेचना लिखें, हम सांख्य-सिद्धांत संक्षेप में लिख दें तो समझने में सुगमता रहेगी।

सांख्य-सिद्धांत इस प्रकार है; परमात्मा और जीवात्मा दो आत्मतत्त्व अनादि और पृथक्-पृथक् हैं। परमात्मा एक है, अविभक्त है, एकरस और एकरूप है। जीवात्मा अनेक हैं और अज्ञ हैं। यह हम पिछले भाग में लिख चुके हैं।

सांख्य यह भी मानता है कि एक तीसरा अजन्मा अर्थात् अनादि प्रकृति है। यह दो रूपों में मिलती है। मूल प्रकृति अव्यक्त रूप में है। इस रूप में यह इंद्रियगोचर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नहीं। यह सोई हुई-सी, अंधकारमय और सर्वथा शांत होती है। यह कणों में मिलती है और इसके प्रत्येक कण में सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण साम्य अवस्था में पाए जाते हैं।

ईश्वर की यदृच्छा व करनी से इन तीन गुणों की साम्यावस्था टूटती है। तब किन्हीं परमाणु-समूहों में सत्त्व गुण प्रधान हो जाता है, किन्हीं में रजस् और किन्हीं में तमस् गुण प्रधान हो जाता है। इन गुणों में असंतुलन होने से परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण अथवा विषाद उत्पन्न होने लगता है। इन गुणों के कारण परमाणुओं में संयोग-वियोग उत्पन्न होता है।

जिस समय असंतुलन की अवस्था होती है, तब प्रकृति का रूप महत् कहा जाता है और यह एक विशाल समुद्र की भाँति आयतन वाला परंतु बिना रूप का होता है।

इस समय परमाणुओं के समूह बनने लगते हैं। जिस समूह में सत्त्व गुण प्रधान होता है वह वैकारी अहंकार हो जाता है। रजस् गुण प्रधान समूह तेजस् अहंकार कहाता है। इन अहंकारों से मन तथा इंद्रियाँ बनती हैं और इन्हीं से पंच महाभूत बनते हैं। इन अहंकारों से सूक्ष्म महाभूतों की पृथक्-पृथक् अवयवी स्थिति होती है। ये 'ऐटम' कहाते हैं। वैशेषिक वाले इसे परिमण्डल कहते हैं।

हम बता चुके हैं कि ऐटम परमाणु का पर्यायवाचक नहीं। ऐटम में तीन अहंकारों का संयोग होता है। ऐटम को परिमण्डल कहा जाता है। ऐटम (अवयव) से तन्मात्रा बन जाती हैं। इनका प्रादुर्भाव अहंकारों के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से होता है। ये पाँच प्रकार की होती हैं। एक प्रकार की तन्मात्रा से ही (अण्वयान्तर्गत) इण्टर-ऐटामिक संगठन बना होता है। इसी तन्मात्रा से ऐटम परस्पर मिलते हैं जिनसे बड़े संयुक्त-अवयव बनते हैं। दूसरी प्रकार की तन्मात्रा से अवयवों के, एक-दूसरे से अंतर का निर्णय होता है। इस तन्मात्रा के प्रभाव से ही पदार्थों के पार्थिव, जलीय, वायवी रूप दिखाई देते हैं। ऊष्मा का इन रूपों अर्थात् अवयवों के अंतर पर प्रभाव पड़ता है। तीसरी प्रकार की तन्मात्राओं से आग्नेय अणुओं की सृष्टि होती है। चौथी प्रकार की तन्मात्राओं से चुंबकीय शक्ति और पाँचवीं प्रकार की तन्मात्राओं से भू-आकर्षण उत्पन्न होता है।

ये तन्मात्राएँ तरंगें ही हैं। इनके कारण ही अहंकारों से अवयव और उससे १०३ प्रकार के रासायनिक तत्त्व, पार्थिव, जलीय और वायवी, तीन विभागों में बाँटे जा सकते हैं। आकाश और अग्नि-तत्त्व भिन्न हैं।

यह सांख्य द्वारा लिखी गई जगत् बनने की प्रक्रिया है। इसमें और अद्वैतवादियों के मत में अंतर प्रारंभिक बिंदु के विषय में ही है। सांख्यवादी जगत् की रचना प्रकृति नामक एक अव्यक्त पदार्थ से मानते हैं। यह अव्यक्त पदार्थ परमाणुस्वरूप है। अद्वैतवादी माया से मानते हैं। यह माया अवर्णनीय है। इसका स्वरूप जैसा ऊपर लिखा है, अनेक संशयों का उत्तर देने में असमर्थ है।

इस सबका अर्थ यह निकला कि इस जगत् के मूल पदार्थ को अद्वैतवादी माया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कहते हैं, जिनका वे वर्णन नहीं कर सकते।

सांख्य मतवादी जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् मानते हैं। वे जीव को अज्ञ और असंख्य मानते हैं। अद्वैतवादी आत्मा को माया में फँसा हुआ (लिप्त हुआ) परमात्मा मानते हैं। सांख्य-सिद्धांतवाले परमात्मा को ज्ञानस्वरूप और अविभक्त एकरस रहने वाला तत्त्व समझते हैं। परमात्मा प्रकृति अथवा माया में लिप्त नहीं होता। वह निर्लेप रहता हुआ संसार का संचालन करता है।

इन दोनों मतों का हमने अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन कर दिया है। हमारा यह कहना है कि भगवद्गीता सांख्य के मत का प्रतिपादन करती है। अद्वैतवादियों ने धींगामस्ती करके इसमें से अपना मत निकालने का यत्न किया है। वे सफल नहीं हुए।

हमने पहले भी लिखा है कि गीता वेद, उपनिषदादि शास्त्रों के आधार पर कहा गया एक प्रवचन है। वेद और उपनिषद् में भी तीन अनादि मूल पदार्थों के अस्तित्व को माना गया है।

पहले वेद के विषय में समझ लेना चाहिए। वेद में एक मंत्र है कि पहले ब्रह्म रात्रि होती है। उससे अग्नि बनती है। तब प्रातः (ब्रह्म दिन का आरंभ) होने पर सूर्य (हिरण्यगर्भ) बनता है। यह उदय होता हुआ दिखाई देता है। (माया) प्रज्ञा से यज्ञ करते हुए (परमात्मा) जानते हैं। परमात्मा से (हिरण्यगर्भ) सब सृष्टि की रचना करते हैं।[1]

इस मंत्र के अर्थ करने में निरुक्त माया के अर्थ करता है—**माया प्रज्ञा माया यज्ञियानां यज्ञसम्पादिनाम्**—माया को प्रज्ञा कहा है। किनकी प्रज्ञा? यज्ञ करनेवालों की। देव की। यज्ञ सम्पादन करने के लिए। यह माना है कि सृष्टि की रचना परमात्मा द्वारा हुई है। यही यज्ञ है। (निरुक्त ७—२७)

इस वेदमंत्र में माया का अर्थ परमात्मा की प्रज्ञा (बुद्धि अथवा कार्यकुशलता) माना है।

यही हमने माया के विषय में ऊपर लिखा है। माया परमात्मा की शक्ति है, जिससे सृष्टि का यज्ञ रचा जाता है। ब्रह्म दिन के आरंभ में रात्रि में से अग्नि उत्पन्न होती है जो बाद में सूर्य (हिरण्यगर्भ) का रूप धारण कर लेती है और इससे चराचर जगत् बनता है। माया का अर्थ परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति है। यहाँ और अन्यत्र कहीं भी यह नहीं लिखा कि माया शून्य में से अथवा परमात्मा में से कुछ बनाती है।

भगवद्गीता में भी इसी प्रकार कहा है। भगवान् कहते हैं कि इस तीन गुणों के प्रभाव से यह सब जगत् बनता है। इन गुणों से मोहित होकर सब संसार परम अव्यय परमात्मा को नहीं जान पाता। परमात्मा की अलौकिक माया (दिव्य कर्तृत्व शक्ति) दिव्य

---

१. मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत् तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥

—ऋ०, १०—८८, ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



गुणवाली है और दुस्तर है। जो मनुष्य परमात्मा का भजन करते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं। इस माया से जिनका ज्ञान हरा गया है, वे आसुरी स्वभाववाले हो जाते हैं। वे नीच पुरुष, दुष्ट कर्म करनेवाले परमात्मा को नहीं भज सकते।[1]

यहाँ स्पष्ट अभिप्राय यह है कि प्रकृति त्रिगुणमयी है। उसके गुणों से परमात्मा अपनी माया (प्रज्ञा अथवा कौशल) द्वारा यह जगत् रचता है। जगत् रचने में जो माया (कौशल) है वह गुणमयी है। कठिनाई से पार की जाने योग्य है। केवल वे लोग ही इस निमित्त जगत् के भीतरी रहस्य को जान सकते हैं, जो परमात्मा का चिंतन करते हैं।

मूढ़ (बुद्धिविहीन लोग) परमात्मा का भजन नहीं करते। उनका ज्ञान इस माया (परमात्मा की कारीगरी से बने संसार) से हरा जाता है। वे स्वभाववश असुर हो जाते हैं।

जो लोग इस जगत् में परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते और संसार को ही सबकुछ मानते हैं, वे गीता के मतानुसार, व्यक्त जगत् में ही मोहित रहते हैं। व्यक्त जगत् का परमात्मा की शक्ति से ही निर्माण होता है। अतः यह मानना होगा कि परमात्मा की कारीगरी, जिसके कारण यह जगत् बना है और जिसे माया के शब्द से स्मरण किया जाता है, उसमें जो फँस गए है, वे परमात्मा तक नहीं पहुँच पाते और फिर अपने स्वभाव से असुर बन जाते हैं।

ऐसा 'ईशावास्योपनिषद्' में भी माना गया है। सत्य का मुख ढका हुआ है, सुंदर सुनहले पात्र से। सत्य को तत्त्व से पाने के लिए उस आवरण को हटा दो।[2] इसी उपनिषद् में यह भी लिखा है कि जो लोग आत्मा को अस्वीकार करते हैं वे लोग उन योनियों में जन्म लेते हैं जिन्हें असुर योनियाँ कहते हैं और जो अंधकार तथा अज्ञान से ढकी हुई हैं।[3]

---

१. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

—भ० गी०, ७—१३, १४, १५

२. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

—ईशा० उप०, १५

३. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

—ईशा० उप०, ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यहाँ ठीक वही विचार प्रकट किया गया है जो गीता (७—१५) में व्यक्त है। इस स्थान पर जो बात विचारणीय है वह यह कि माया को परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति कहते हैं, जिसे जगत् रचने के लिए परमात्मा ने प्रयुक्त किया और जिससे यह सुंदर लुभावना, रसमय जगत् बन गया है। जो लोग इस सुंदर जगत् में ही फँस जाते हैं, वे माया के करतबों को देखते हुए परमात्मा को, जो माया का स्वामी है, भूल जाते हैं।

वेद में भी, जगत् की रचना करनेवाले यज्ञ में, परमात्मा (यज्ञ करने वाला) जो प्रज्ञा (कारीगरी) प्रयोग करता है, वही माया मानी है।

माया सत्य ही ईश्वर से पैदा होती है और ईश्वर अनादि तथा अनन्त है। इस कारण उसकी शक्ति भी अनादि और अनन्त है। परंतु इससे सृष्टि के उपादान कारण का अभिप्राय नहीं है। वह तो त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है और वे त्रिगुण साम्यावस्था में होने से प्रभावहीन होते हैं। माया (परमात्मा की शक्ति ) इस साम्यावस्था को भंग करती है और फिर व्यक्त जगत् की रचना होती है।

माया जगत् के उपादान कारण का स्थानापन्न नहीं। न माया मिथ्या है, न ही वह उपादान कारण मिथ्या है, जिस पर माया का कार्य होता है। उपादान कारण से माया की सहायता द्वारा जगत् बनता है और जगत् का व्यक्त रूप आदि और अंतवाला है। इसे ठीक रूप में समझना ही ज्ञान है। यही गीता (१३—११) में लिखा है। इसमें लिखा है कि अध्यात्म ज्ञान को नित्य समझना और इस सब जगत् के तत्त्व का दर्शन ही ज्ञान कहाता है। इसके विपरीत अज्ञान है।

परमात्मा अपनी ही माया में स्वयं फँस जाता है, यह न समझने योग्य बात है। उसे सुख-दुःख वास्तविक होता है अथवा काल्पनिक, यह विचारणीय नहीं। विचारणीय यह है कि परमात्मा भ्रम में फँस जाता है। साथ ही परमात्मा का ऐसा फँस जाना अकारण है, निरुद्देश्य है। अतः इन बातों से परमात्मा हँसी की वस्तु बन जाता है।

जैसे परमात्मा को जड़ प्रकति का उत्पन्न करनेवाला (उपादान कारण मानना) अयुक्तिसंगत और अप्रमाणित है, वैसे ही परमात्मा का अज्ञ जीव की भाँति जन्म-मरण के बंधन में फँस जाना भी जहाँ अयुक्तिसंगत है, वहाँ अप्रमाणित भी है।

जीव को परमात्मा से पृथक् माना गया है। वेद में लिखा है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो पक्षी, जीवात्मा और परमात्मा बैठे हैं। एक (जीवात्मा) वृक्ष के फल खाता है और दूसरा (परमात्मा) केवल साक्षी मात्र है। (ऋक् १-१६४-२०)

श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है कि संसार ब्रह्मचक्र है। यहाँ ब्रह्म से अभिप्राय महान् से है। इस ब्रह्मचक्र में सब जीव रहते हैं। इस ब्रह्मचक्र में जीवात्मा, हंस के समान भँवर में फँसा हुआ-सा रहता है। अपने से पृथक् परमात्मा को जानकर, मनन कर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उससे योग कर अमरत्व (जन्म-मरण से मुक्ति) प्राप्त करता है।[1]

अभिप्राय यह कि परमात्मा जीवों से पृथक् है। संसार एक महान् चक्र है। जीवात्मा उसके भँवर में फँसा रहता है। जब उसका योग परमात्मा से होता है, तब वह चक्र से छुटकारा पा जाता है।

इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि एक अजन्मा, लोह, कृष्ण और शुक्ल (रजस्, तमस् और सत्त्व) गुणवाली प्रकृति है। इससे अनेक प्रजाएँ जो इसी के रूपवाली हैं, उत्पन्न होती हैं। एक अन्य अनादि पदार्थ है। वह (ऊपर लिखे अजन्मा का) सेवन करता है और उनमें लीन हो जाता है। एक अन्य अजन्मा है जो इस (प्रकृति) को त्याग देता है। वह इसमें बद्ध नहीं होता। (श्वे० ४—५)

भगवद्गीता में लिखा है कि पृथिवी, जल, अनिल, वायु और आकाश (पंचमहाभूत), मन (इंद्रियों सहित), बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की परमात्मा की प्रकृति है। परंतु इससे दूसरी प्रकृति है जीवभूतों की। इन दोनों प्रकृतियों से संसार धारण किया हुआ है। दूसरी प्रकृति है (जीवभूत) प्राणियों की (७—५)। यहाँ प्रकृति का अर्थ सृष्टि से है।

ये दोनों प्राणी और जड़ पाँच भौतिकादि जगत् परमात्मा ही बनाता है। वह कैसे बनाता है, इस विषय में (१५—१६ में) लिखा है कि शरीर क्षर है और उसमें कूटस्थ अक्षर है, अर्थात् यहाँ प्राणी की बनावट का वर्णन कर दिया। पंचमहाभूतादि तो क्षर हैं। वे बनाए गए हैं। बने हुए नष्ट भी होते हैं। अतः पाँचभौतिक शरीर नष्ट होने वाला है। परंतु उसमें कूटस्थ (आत्मा) अक्षर है। अतः प्राणियों के शरीर और व्यक्त जगत् के विषय में लिखा है, ये दोनों जड़ हैं और पाँचभौतिक क्षर बने हैं और जो कूटस्थ है वह अक्षर है।

परंतु ये दोनों परमात्मा नहीं। कारण यह कि (१५—१७, १८ में लिखा है) इन दोनों से अतिरिक्त परमात्मा, जिसे लोक में और वेदों में पुरुषोत्तम कहा है, यह परमात्मा पुरुषोत्तम तीनों लोकों में व्यापक और उन्हें धारण करनेवाला है।

इस प्रकार एक ओर परमात्मा और प्रकृति में भेद बताया गया है और दूसरी ओर परमात्मा और जीवात्मा में भेद बता दिया है। माया तो परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति का नाममात्र है।

---

१. सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

—श्वे० उप०, १—६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ परिच्छेद

# भक्ति योग

भक्ति का अर्थ है परमात्मा के चिंतन द्वारा उससे योगयुक्त होने की विधि। पूजा-पाठ इत्यादि सब इसी श्रेणी के अनुष्ठान हैं।

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि योग की प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए परमात्मा में चित्त लगाने के लिए परमात्मा का समग्र रूप संशयरहित मन में स्पष्ट होने से ही भक्ति सफल हो सकती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जिसमें चित्त लगाना है, उसके समग्र रूप को जान लेना चाहिए। चित्त की एकाग्रता से परमात्मा का सत्य रूप निश्चय ही जाना जा सकता है।

इसी प्रयोजन से गीता में, संक्षेप में परमात्मा का स्वरूप और उसका अन्य मूल पदार्थों से संबंध वर्णन कर दिया है। इसी को गीता में ज्ञान-विज्ञान कहा है।

ज्ञान-विज्ञान बताने के उपरांत भगवान् सर्वप्रथम भक्तों की श्रेणियाँ बताते हैं। भगवान् कहते हैं कि चार प्रकार के भक्त होते हैं—(१) अर्थार्थी, (२) आर्त्त, (३) जिज्ञासु, (४) ज्ञानी। इन चारों प्रकार के भक्तों को श्रेष्ठ माना है। परंतु इन चारों में ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ है। परमात्मा को वह अति प्रिय है।[१]

अर्थार्थी का अभिप्राय है अर्थ की अभिलाषा करनेवाले भक्त। वे लोग जो धन, वैभव, पद इत्यादि के लिए परमात्मा का भजन करते हैं।

आर्त्त वे भक्त हैं, जो दुःख और कष्ट में होने पर परमात्मा का चिंतन करते हैं और उस दुःख और कष्ट के निवारण की याचना करते हैं।

जिज्ञासु का अर्थ है, वे लोग जो परमात्मा की भक्ति करते हैं अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए। ज्ञान का अर्थ गीता के तेरहवें अध्याय में बताया गया है।

---

१. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

—भ० गी०, ७—१६, १७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ज्ञानी वह भक्त है, जो सबकुछ जानता है और जिसकी सब अभिलाषाएँ निःशेष हो चुकी हैं। परंतु इस पर भी वह परमात्मा का चिंतन करता है और उसका भजन करता है।

भगवान् का कहना है कि परमात्मा को ज्ञानी भक्त अतिप्रिय हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे लोग जो भक्ति किसी प्रकार की याचना के बिना अथवा किसी इच्छा के बिना करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ हैं। इनकी भक्ति पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत ही ऐसी हो सकती है। इस कारण ये ज्ञानी भक्त कहाते हैं।

ऐसे ज्ञानी भक्त समझते हैं कि परमात्मा (अविभक्तम्) सर्वव्यापक और एकरस हैं। वह परमात्मा भूतों में बँटा हुआ-सा दिखाई देता है। वह जानने योग्य सब भूतों को उत्पन्न, धारण, उनका पोषण और संहार करनेवाला है।

वह परमात्मा ज्योतियों की भी ज्योति है। अंधकार से दूर है। वह ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य और जाना जा सकता है। वह सबके हृदय में स्थित है।[१]

जो लोग परमात्मा के इस स्वरूप को भली प्रकार जानकर परमात्मा की भक्ति करते हैं, वे परमात्मा को अतिप्रिय हैं।

यद्यपि भगवान् कृष्ण कहते हैं कि सब प्रकार के भक्त श्रेष्ठ हैं और वे अपने उद्देश्य में सफल होते हैं; परंतु उन सबमें ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे परमात्मा से युक्त होकर अति उत्तम स्थान पर पहुँचकर परमात्मा में स्थित होते हैं।

ऐसा ज्ञान बहुत जन्मों के प्रयत्नों से अंतिम जन्म में प्राप्त होता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर मनुष्य ऐसा समझने लगता है कि सबकुछ परमात्मा में व्याप्त है। ऐसा समझते हुए यह ज्ञानी भक्त परमात्मा का भजन करता है। इस प्रकार के भक्त अति दुर्लभ हैं।[२]

दो बातें विचारणीय हैं। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ज्ञानियों को तो परमात्मा ही मानते हैं। इसका अर्थ अद्वैतवादी यह लगाते हैं कि सब आत्माएँ परमात्मा का स्वरूप ही हैं और ज्ञानी ऐसा समझ जाता है।

इसी प्रकार (वासुदेवः सर्व) सबकुछ-वासुदेव अर्थात् व्यापक ईश्वर ही है। कुछ लोग इसका अर्थ यह लगाते हैं कि सबकुछ वासुदेव के लड़के कृष्ण ही हैं।

ये अर्थ उपयुक्त नहीं हैं। इन्हीं श्लोकों में कुछ और कहा है, जिससे ये अर्थ ठीक

---

१. अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ —भ० गी०, १३—१६, १७

२. उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ —भ० गी० ७—१८, १९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रतीत नहीं होते।

श्लोक ७—१८ में कहा है कि 'माम् एवं हि आस्थितः' परमात्मा में ही वे स्थित होते हैं। अभिप्राय यह है कि परमात्मा से भिन्न तो हैं परंतु ज्ञानवान् होने से उसमें स्थित हो जाते हैं।

एक ही श्लोक में दो विरोधी बातें नहीं हो सकतीं। इस कारण प्रथम वाक्य के अर्थ यह हैं कि ज्ञानी परमात्मा तक पहुँच जाता है। यह इस प्रकार समझना चाहिए जैसे किसी गुरु का शिष्य गुरु समान ज्ञान प्राप्त कर प्रवचन करने लगे तो कह दिया जाता है कि वह तो अब गुरु समान योग्य हो गया है।

इसी प्रकार दूसरे उद्धरण (वासुदेवः सर्व) का अभिप्राय है कि सबमें परमात्मा वास करता है, अर्थात् परमात्मा को सर्वव्यापक समझनेवाला ज्ञानी परमात्मा का भजन करता है। यह स्थिति कई जन्म के निरंतर प्रयत्न के उपरांत प्राप्त होती है।

ऐसा महात्मा दुर्लभ है। इससे यही प्रकट होता है कि ये महात्मा परमात्मा से भिन्न हैं। अन्यथा वे महात्मा भी परमात्मा की भाँति अलभ्य ही होते। उस अवस्था में वे महात्मा तो परमात्मा ही होते और उनका अपना पृथक् अस्तित्व रहता ही नहीं।

यह बताकर कि भक्त चार प्रकार के हैं, सब अच्छे हैं, परंतु ज्ञानी भक्त परमात्मा को अतिप्रिय हैं, अब भगवान् कृष्ण यह बताना चाहते हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त भी भक्ति की जाती है। उसका फल भी भगवान् कृष्ण ने बताया है।

अपने स्वभाव से प्रेरित होकर जो भोगों की कामना से ज्ञानभ्रष्ट हुए देवताओं का भजन करते हैं, उन देवताओं के नियमों को धारण कर लेते हैं।

जो-जो भक्त जिस-जिस (तनुं) देवता की श्रद्धा से अर्चना करते हैं, उस-उस भक्त की श्रद्धा को परमात्मा उस देवता में स्थिर करने में सहायक होता है।

जो पुरुष जिस देवता की आराधना यत्न से करते हैं, परमात्मा उस भक्त को उस देवता से निश्चय की गई कामनाओं को प्राप्त कराता है।[१]

हम ऊपर एक से अधिक स्थानों पर यह लिख आए हैं कि देवता का अर्थ प्राकृतिक शक्तियों से है। सूर्य, वरुण, इंद्र इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों का पूजन भी लोग करते हैं।

कुछ हिंदू लोग किसी नदी, तालाब इत्यादि में सूर्याभिमुख खड़े हो अंजली भर-भर जल को सूर्य की ओर डालना ही सूर्य की अर्चना समझते हैं। इसी प्रकार अन्य देवताओं की पूजा मानी जाती है। अग्नि में घी-सामग्री डालकर जला देने मात्र को अग्नि

---

१. कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ —भ० गी०, ७—२०, २१, २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आदि की पूजा समझा जाता है।

यहाँ इस प्रकार की पूजा से अभिप्राय नहीं है। जो बात समझने की है वह यह कि ये देवी-देवता परमात्मा नहीं हैं। वैसे तो परमात्मा को भी उपनिषद् वेदादि ग्रंथों में देव के नाम से स्मरण किया गया है, परंतु यहाँ स्पष्ट लिखा है 'प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः'। इससे अभिप्राय दिव्य-शक्ति सम्पन्न जगत् के अन्य पदार्थों से ही है।

वे दूसरे देवता सूर्य, चन्द्रादि दिव्य शक्ति सम्पन्न पदार्थ ही हैं। दूसरी बात यह समझनी आवश्यक है कि इन जड़ पदार्थों को भी देवता इस कारण कहा है, क्योंकि वे दिव्य शक्तियों के स्वामी हैं। सूर्य, चन्द्रादि में, जड़ होते हुए भी अद्भुत शक्तियाँ हैं।

साथ ही यह भी कहा है कि उन देवताओं में जो श्रेष्ठता (दिव्यता) है, वह परमात्मा द्वारा ही नियत की हुई है। शब्द है 'ततः कामान्यैव विहितान्हि तान्'। उनमें इष्ट गुणों को परमात्मा ने ही नियत किया हुआ है।

अभिप्राय स्पष्ट है कि सूर्य, इंद्र, वरुणादि में दिव्य शक्तियाँ परमात्मा की प्रेरणा से उत्पन्न होती हैं। ये प्रकृति के व्यक्त रूप हैं। व्यक्त रूप प्रकृति के सत्त्व, रजस् तमस् गुणों के साम्यावस्था के भंग होने पर बनते हैं। इस साम्यावस्था को भंग करनेवाला परमात्मा है। अतः प्रकृति के व्यक्त रूपों में दिव्यता परमात्मा से ही उत्पन्न की हुई है।

यही कारण है कि जो इन देवताओं की अर्चना करते हैं, परमात्मा उनको इष्ट फल देता है।

इन प्राकृतिक शक्तियों से, उनके विषय में ज्ञान प्राप्त कर, उस ज्ञान से लाभ प्राप्त करने की बात ही हो सकती है। इसका यह भी अभिप्राय है कि जिस देवता में जो शक्ति है ही नहीं, उसको न तो समझा जा सकता है न ही उससे किसी प्रकार का लाभ उठाया जा सकता है।

ऐसा समझना चाहिए कि वर्तमान युग के वैज्ञानिक ही देवताओं की पूजा करते हैं। वे इनकी शक्ति को समझकर उनसे लाभ उठा रहे हैं। सूर्य के सामने हाथ जोड़कर उससे पुत्र, कलत्र इत्यादि की प्राप्ति की इच्छा करना सूर्य की उपासना नहीं कही जा सकती। सूर्य की उपासना है उसकी रश्मियों द्वारा आ रही शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना और उस शक्ति से मानवों के लिए उपयोगी कार्य करने का ढंग जानना। इस प्रकार के प्रयत्नों को देवता की पूजा अथवा अर्चना कहा जा सकता है और इस प्रकार अर्चना करनेवालों को परमात्मा सफलता प्रदान करते हैं।

परंतु भगवान् यह भी कहते हैं कि देवताओं की पूजा करनेवालों को देवताओं की प्राप्ति होती है, परंतु वह फल अंतवाला है। केवल छोटी बुद्धिवाले इस प्रकार का पूजन करते

---

१. अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

—भ० गी०, ७—२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हैं। इसके विपरीत जो लोग परमात्मा की भक्ति करते हैं, वे परमात्मा को पाते हैं।

कारण यह कि परमात्मा देवताओं की शक्ति का भी स्रोत है।[1]

देवताओं की उपासना का फल अंतवाला है। इसका अभिप्राय यह है कि इनका फल मोक्ष के साथ संबंध नहीं रखता। देवताओं की भक्ति से प्राप्त फल शरीर तक ही प्रभाव उत्पन्न करता है। शरीर नाशवान् है, अतः देवताओं से प्राप्त होनेवाला फल भी नाशवान् है।

इस फल से प्राप्त होनेवाला धन, वैभव और भोग भी शरीर के साथ ही रहता है। इससे पूजनकर्ता के अतिरिक्त प्राणियों के शरीरों को लाभ तो होता है, परंतु यह सीधा उनके आत्मा तक पहुँचनेवाला नहीं होता।

यह कहा जाता है कि सांसारिक सुख-सुविधा आत्मोन्नति में सहायक होती है, यह एक सीमा तक ही सत्य है। फिर भी इन सुख-सुविधाओं से लाभ उठाकर आत्मोन्नति तो की जा सकती है। परंतु उसके करने के लिए अन्य उपाय जो इस पुस्तक के पहले अध्यायों में वर्णन किए गए हैं, प्रयुक्त करने ही पड़ेंगे। अभिप्राय यह कि यज्ञ, योग, निष्काम कर्म इत्यादि करने ही होंगे। इस स्थान पर भी देवताओं की मात्र पूजा से आत्मोन्नति होनी न बताकर भगवान् ने कहा है कि परमात्मा की ही भक्ति परमात्मा में स्थित करने में समर्थ है।

यह बताया जा चुका है कि आत्मा अल्पज्ञ होने के कारण प्रकृति के भोग में लिप्त हो जाता है। इसको इससे निर्लेप बनाने के लिए निर्मल बुद्धि की आवश्यकता है और वह निष्काम भाव से कर्म करने से प्राप्त होती है। निष्काम भाव से कर्म करने की बुद्धि प्राप्त करने के लिए, यज्ञ रूप कर्म करने, योगाभ्यास करने और अंत में ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता होकर ईश्वर-भक्ति करने की आवश्यकता है। इस सुख-सुविधा में परमात्मा की भक्ति हो सकती है, परंतु सुख-सुविधा स्वयं स्थायी नहीं।

यह बताया गया है कि पुरुष को ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए। भक्त में जिज्ञासा-भाव होना ठीक है। साथ ही देवताओं की भक्ति से जो कुछ भी लाभ होता है, वह अस्थायी होता है। स्थायी लाभ परमात्मा की भक्ति में होता है। इतना बताकर कृष्ण परमात्मा की भक्ति के ढंग के विषय में बताते हैं।

इस विषय में भी उन्होंने बताया है कि मूर्ख लोग परमात्मा को जो अव्यक्त है, व्यक्त रूप में जन्म लेनेवाला मानने लगते हैं। वे कुछ नहीं जानते। वे अज्ञानी हैं। परमात्मा तो अव्यक्त, अविनाशी और अति उत्तम है।[1]

हम लिख चुके हैं कि अव्यक्त का अर्थ इंद्रिय-अगोचर से है। व्यक्त इंद्रियों द्वारा

---

१. अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

—भ० गी०, ७—२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जाना जानेवाला है। अव्यक्तों में भी परमात्मा अति उत्तम है। उसको कृष्ण एक अन्य स्थान पर पुरुषोत्तम कहते हैं।

अपने भाव को और अधिक स्पष्ट करने के लिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा अव्यक्त है। अतः जो व्यय होनेवाला है अर्थात् जो नाशवान् है वह पूजा के योग्य नहीं है।

श्रीकृष्ण का स्पष्ट अभिप्राय मूर्ति-पूजा तथा गुरु-पूजा के विरोध में है। मूर्ति व्यक्त तो है, साथ ही नाशवान् भी है। गुरु-पूजा का अभिप्राय यह है कि जन्म-मरण गुणवाले व्यक्तियों को परमात्मा मानकर पूजा करना केवल फलहीन ही नहीं, वरन् मूर्खता भी है।

ऐसे लोगों के लिए अर्थात् उनके लिए जो व्यक्त रूप की पूजा में लीन हैं, भगवान् कृष्ण कहते हैं कि परमात्मा योगमाया से ढँका होने के कारण, प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः जो व्यक्त रूप की पूजा करते हैं, वे अज्ञानी, जन्म-रहित परमात्मा को नहीं जान सकते।

ऐसे लोग परमात्मा को, जो सब भूत, भविष्य और वर्तमान के जाननेवाला है, नहीं जान सकते।[१]

माया के अर्थ हम ऊपर बता चुके हैं। यह परमात्मा की वह शक्ति है जिसके द्वारा उपादान कारण प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था से निकलकर जगत् की रचना में लीन हो जाती है।

योगमाया भी उसी शक्ति का नाम है। यहाँ माया के आगे योग विशेषण केवल शक्ति के अर्थ को स्पष्ट करने के लिएं ही लगाया है। इसके अर्थ हैं वह ईश्वरीय शक्ति जिससे जगत् में अनेकानेक पदार्थों का संयोग होता है। जगत् में इन संयुक्त पदार्थों के पीछे ईश्वर छिपा हुआ इन मूर्तिपूजकों को दिखाई नहीं देता। साथ ही जो लोग अपने को परमात्मा कहते फिरते हैं और अपनी पूजा कराते हैं, उनके उपासक परमात्मा को नहीं जानते। कारण यह कि परमात्मा भूत, भविष्य और वर्तमान को जाननेवाला है, अजन्मा है और ये जन्म-मरण के बंधन में फँसे गुरुजन न तो परमात्मा हैं, न ही उन्हें परमात्मा मानने वाले कुछ जान सकते हैं।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि गुरुजन और विद्वानों से ज्ञान लेने से मना नहीं किया गया। उनसे ज्ञान प्राप्त करने में किसी प्रकार की हानि नहीं बताई। हाँ, उनको

---

१. नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणी च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

—भ० गी०, ७—२५, २६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सर्वज्ञ परमात्मा मानने में हानि मानी है।

## भक्ति का ढंग

भक्ति के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो ज्ञान प्राप्त करना। दूसरे, अपने इष्टदेव के विषय में अधिक और अधिकतर जानकारी प्राप्त करने को भी भक्ति कहा है।

जब देवताओं की भक्ति की बात आई तो उस समय भी हमने लिखा था कि देवताओं का ज्ञान प्राप्त कर, उस ज्ञान के प्रयोग से देवताओं की भक्ति और भक्ति-फल की प्राप्ति मानी जा सकती है। भक्ति के लिए गीता में एक शब्द 'प्रपद्यन्ते' का प्रयोग किया गया है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं पदचिह्नों पर चलना। जब किसी महापुरुष के साथ 'प्रपद्यन्ते' कहा जाए तो इसका अभिप्राय है उसके व्यवहार का अनुकरण करना। देवताओं के विषय में प्रपद्यन्ते का अर्थ होगा देवताओं के गुणों को जानकर उनका प्रयोग करना।

गीता में अनेक स्थानों पर ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति की बात लिखी है। साथ ही भक्ति योग के वर्णन का आरंभ ही जब ज्ञान-विज्ञान से किया गया है, तो यह बात निर्विवाद हो जाती है कि ज्ञान-विज्ञान की साधना भी भक्ति का अंग ही है। ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होता है।

भक्ति का दूसरा अंग चिंतन है। ब्रह्म का जो स्वरूप पता चले, उसका चिंतन करना और अपने को (प्रपद्यन्ते) वैसा ही बनाने का यत्न करना भक्ति है। यह भक्ति का दूसरा अंग है। इसे ही अर्चना तथा पूजा कहते हैं।

यह बताया जा चुका है कि व्यक्त रूप का चिंतन और उसका अनुकरण मनुष्य को जड़ बना देगा। व्यक्त पदार्थ प्रकृति का रूप-रूपान्तर ही हैं और प्रकृति जड़ है।

यह बताया गया है कि देवताओं की अर्चना अस्थायी प्रभाव उत्पन्न करने वाली है। मनुष्य के जीवनकाल से अधिक उसका प्रभाव नहीं रहता। प्राकृतिक शक्तियों की उपलब्धि अधिक-से-अधिक जीवनकाल के लिए ही है।

अतः भक्ति के ढंग का वर्णन करते हुए यह समझ लेना चाहिए कि भक्ति उसकी करनी चाहिए, जो अक्षर, सत्, चित् और आनंदस्वरूप है। जिसके विषय में इन गुणों के अभाव का संदेह मात्र भी हो, उसकी भक्ति उचित फलदायक नहीं होगी। इसी कारण भक्ति के समय जब किसी का चिंतन और किंसी का स्मरण किया है अथवा वर्णन आया है तो राम, कृष्ण, इंद्र, विष्णु इत्यादि के नाम का स्मरण अथवा जप करने को नहीं लिखा।

सब इंद्रियों के द्वारों को रोककर मन को हृदय में ही सीमित कर और अपने प्राणों को मस्तक़ (भ्रुवों के मध्य) में एकत्रित कर परमात्मा से योग (मिलाप) का यत्न करे।

और उस अक्षर (ओंकार) का, जैसा कि वेद के जाननेवाले कहते हैं, जप करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जिसमें आसक्तिरहित यति लोग बैठते हैं और जिससे योग के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं।

जो कोई अक्षर ब्रह्म का उच्चारण और स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

जो पुरुष एकाग्र मन से नित्य निरन्तर ओ३म् परमात्मा का ही स्मरण करता है, ऐसे परमात्मा से योग किये हुए योगी के लिए परमात्मा सुलभ है।[१]

योग के अध्याय में हम यह बता आये हैं कि ध्यान को एकाग्र करने के लिए किसी एकान्त स्थान में, जहाँ वायु बहता न हो, दृढ़ आसन पर, जो न बहुत ऊँचे, न नीचे हो, सिर, गरदन और पीठ को एक सीध में कर ध्यान का भ्रुवों के मध्य संचय करे।

इसी आसन को भक्ति के अध्याय में भी स्वीकार किया गया है। ध्यान एकाग्र करके परमात्मा का चिन्तन करे और ओ३म् अक्षर का जप करे।

जप करते समय मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारों को बन्द कर दे। कानों में उँगलियाँ रखकर नहीं, वरन् इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करके। न देखे, न सुने, न अनुभव करे, न सूँघे, न चखे और न ही किसी प्रकार के स्पर्श का अनुभव करे। मन को, जहाँ इन्द्रियाँ अपना ज्ञान पहुँचाती हैं, इन्द्रियों से पृथक् कर हृदय में ही संचय कर ले।

हृदय का अभिप्राय छाती के पिंजरे में टिके रक्त-संचालन करने वाले यंत्र से नहीं है, जिसे अंग्रेजी में 'हार्ट' कहते हैं। इस हृदय से यहाँ अभिप्राय नहीं है। हृदय से मीमांसकों की भाषा में मस्तिष्क का अभिप्राय है। सिर के कपाल में स्थित मस्तिष्क में एक गुहा है, जिसमें मन, बुद्धि और आत्मा स्थित हैं।

मन को इसी गुहा में सीमित कर दे। ऐसा कर ओ३म् अक्षर का स्मरण अर्थात् जप करे तो परमात्मा से योग सुगमता से हो सकता है।

यहाँ लिखा है कि (यः प्रयाति त्यजन्देहं) देह त्यागने के समय ऐसा स्मरण करे तो मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य समय स्मरण न करे। यहाँ तो लिखा है कि एकाग्र मन से नित्य और निरन्तर परमात्मा का चिंतन करे। ऐसे (नित्य युक्तस्य) नित्य

---

१. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

—भ० गी०, ८—११, १२, १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परमात्मा से सम्पर्क बनानेवाला परम गति को प्राप्त होता है।[१]

और यह भी लिखा है कि दृढ़ निश्चयवाले भक्त निरन्तर परमात्मा की कीर्ति (गुणों का चिंतन) करते रहते हैं और यत्न से परमात्मा को प्रणाम करने को (शरणागत रहने को) कहते रहते हैं। नित्य परमात्मा से सम्पर्क उत्पन्न करते हुए परमात्मा की उपासना करते हैं। उपासना का अर्थ है समीप बैठना।[२]

ऊपर (८—१३ में) जो ऐसा लिखा है कि मरते समय ओ३म् अक्षर का उच्चारण करने से परम गति को प्राप्त होता है, वह केवल अर्जुन को युद्ध में निर्भय करने के लिए कहा है। भगवान् कृष्ण का अभिप्राय यह था कि अर्जुन को इस युद्धभूमि में कर्म, अकर्म और पाप-पुण्य का विचार छोड़ देना चाहिए। वह जो युद्ध कर रहा है, वह धर्मयुद्ध है। अतः उसमें वह चाहे कितनी भी हत्याएँ करे, वह किसी प्रकार का पाप नहीं होगा।

इसलिए सब समय परमात्मा का स्मरण करे और परमात्मा में अर्पण की हुई बुद्धि से युद्ध भी करे। निःसन्देह वह परमात्मा को ही प्राप्त होगा।

इसी के साथ यह भी कहा है कि भक्ति से युक्त होकर योगबल से भ्रुवों के मध्य में (मस्तक में) प्राणों को भली प्रकार एकत्रित करे। निश्चल मन से मरते समय परमात्मा का स्मरण करने से परमात्मा को ही प्राप्त होता है।[३]

यहाँ मरण समय की बात अर्जुन को युद्ध के समय बतानी आवश्यक थी। अन्यथा परमात्मा को सदा स्मरण किया जाये और परमात्मा से योग (मेल) करने का यत्न किया जाये, ऐसा सदैव और सर्वत्र के लिए ही लिखा है।

यहाँ तक लिख दिया है कि अभ्यास करने से ही मन को इधर-उधर भटकने से रोका जा सकता है। जो पुरुष निरन्तर चिन्तन करता है, वही दिव्य पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त हो सकता है।[४]

---

१. अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
—भ० गी०, ८—१४

२. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
—भ० गी०, ९—१४

३. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयमः॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—भ० गी०, ८—७, १०

४. अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
—भ० गी०, ८—८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



# भक्ति का फल

भगवान् कृष्ण ने गीता में जिस प्रकार की श्रेष्ठ भक्ति कही है, उसका फल भी वर्णन कर दिया है। भगवान् कहते हैं कि जन्म-मरण, दुःख एवं सुख क्षण-क्षण में बनने और नष्ट होनेवाले हैं। जब महात्मा लोग सिद्धि द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे इस जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आते।

ब्रह्मलोक से लेकर यह मर्त्यलोक सब उलट जाने वाले हैं, परन्तु परमात्मा को प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता।

सहस्र चतुर्युगी ब्रह्मा का एक दिन कहलाता है। इतने ही काल की रात्रि होती है। इस काल के तत्त्व को योगियों ने जाना है।

ब्रह्म दिन के आने पर सब दृश्यमान् व्यक्त जगत् अव्यक्त से उत्पन्न होता है और ब्रह्म रात्रि के आने पर उस अव्यक्त में लीन हो जाता है।

सब प्राणिमात्र भी (ब्रह्म) रात्रि के आने पर (अव्यक्त में) लीन हो जाते हैं और (ब्रह्म) दिन के आने पर पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।

परन्तु उस अव्यक्त से (जिससे यह जगत् और प्राणिमात्र उत्पन्न हुए हैं) भी परे एक अन्य अव्यक्त है जो सनातन अव्यक्त (भाव) अस्तित्ववाला है। वह, सब प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।[१]

भक्ति योग की प्रथम कण्डिका में यह बताया गया है कि ज्ञानी की भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। अन्य तीन प्रकार के भक्त तो किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भक्ति करते हैं। वे सब भक्त अच्छे हैं परन्तु इन सबसे अच्छा भक्त वह है जो संबकुछ

---

१. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

—भ० गी०, ८—१५, १६, १७, १८, १९, २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जानकर और सबकुछ प्राप्त कर भी परमात्मा की भक्ति में लीन रहता है। उक्त फल इसी भक्ति का परिणाम है।

प्रथम तीन प्रकार की भक्ति से अन्य लोक प्राप्त होते हैं। लोक का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि इस पृथ्वी के प्राणी-जगत् के अतिरिक्त लोक हैं जिनमें यह स्थूल पाँचभौतिक शरीर नहीं होता, सूक्ष्म शरीर होता है। वे लोक अन्य नक्षत्रों पर अथवा ब्रह्माण्ड के अन्तरिक्ष भी हो सकते हैं। ये लोक इस पृथ्वी पर सम्मानित मनुष्यों के शरीर में भी हो सकते हैं। इसकी व्याख्या नहीं लिखी कि किस प्रकार के कर्मों और भक्ति से कौन-सा लोक मिलता है। हाँ, यह लिखा है कि जो भक्तजन परमसिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं, वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं, उनका पुनः जन्म नहीं होता।

शेष सब लोकों से तो आत्मा लौट आता है, परन्तु इस परमधाम में जाकर आत्मा पुनः नहीं लौटता। इस लौटने के विषय को आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। अन्य श्रेष्ठ लोकों से लौटकर आत्मा इस मनुष्य जन्म में आता है जहाँ उसे पुनः पुण्य कर्म करने का अवसर मिलता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे इस पृथ्वी पर मनुष्य और दूसरे जीव-जन्तु अपने कर्मफल के अधीन योनियाँ बदलते रहते हैं, वैसे ही दूसरे लोकों में भी आत्मा जाते हैं और शुभ अथवा अशुभ कर्मों के क्षीण हो जाने पर उस लोक को ऐसे छोड़ देते हैं, जैसे इस पृथ्वी पर एक योनि को छोड़ दूसरी योनि में चले जाते हैं।

ये आत्मा कहाँ जाते हैं? इस विषय में लिखा है कि अव्यक्त एक अक्षर स्थिति है। उस अक्षरस्वरूप की प्राप्ति हो जाने को परमगति कहते हैं। जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर आत्मा नहीं लौटता, वह परमात्मा का परमधाम है।

इस परमात्मा में स्थित सब प्राणी हैं। परमात्मा से यह (जगत् और प्राणी) परिपूर्ण हैं। वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से अर्थात् एकमात्र उसकी भक्ति से ही प्राप्त होता है। यह (स्थिति) परमात्मा की भक्ति से ही प्राप्त हो सकती है।[१]

अव्यक्त एक अक्षर अवस्था है। अद्वैतवादी इससे केवल परमात्मा का अभिप्राय लेते हैं। परन्तु वेदादि दर्शनशास्त्र तो आत्मा और मूल प्रकृति को भी अव्यक्त का नाम देते हैं। व्यक्त का अर्थ है इन्द्रियगोचर। इन्द्रियगोचर में हम उन सब पदार्थों को लेते हैं, जिनको इन्द्रियाँ स्वतः अथवा किसी भी यंत्र की सहायता से जान सकें। अव्यक्त वह अवस्था है जो इस प्रकार जानी नहीं जा सकती। आत्मा परमात्मा तो अव्यक्त हैं ही, साथ ही आदि प्रकृति भी अव्यक्त मानी है।

---

१. अव्यक्तोऽक्षरः इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

—भ० गी०, ८—२१, २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इसी कारण कहा है (अव्यक्तोऽक्षर इतिः उक्तः) अव्यक्त आत्मा को अविनाशी तो गीता के दूसरे अध्याय में भी लिखा है (२—१८)। इसी प्रकार प्रकृति को भी अक्षर माना है (१३—१९)। ऐसा कहा जाता है, (तामाहुः परमां गतिम्) उस अवस्था को परम गति कहते हैं, जिनको प्राप्त होकर आत्मा वापस नहीं लौटता। ऐसी अक्षर स्थिति तो परमात्मा में ही हो सकती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि अव्यक्त स्थिति में केवल एक ही पदार्थ है अथवा एक से अधिक हैं, यह नहीं बताया। उस स्थिति में परमात्मा भी है ऐसा ही 'तद्धाम् परमं मम' पद से समझ में आता है। इसका अर्थ है कि वह अव्यक्त स्थिति परमात्मा का निवास-स्थान है, अर्थात् प्रकृति की मूल अवस्था अथवा आत्मा की अव्यक्त अवस्था तो है, परन्तु उसका निवास-स्थान परमात्मा है।

जब इस अवस्था में आत्मा पहुँच जाता है तो वह पुनः जन्म-मरण में नहीं आता। यह माना जाता है कि सब योनियों अथवा लोकों में आत्मा स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर में बँधा रहता है। ये दोनों शरीर व्यक्त रूप प्रकृति के हैं और जब तक यह आत्मा इन शरीरों में रहता है तब तक वह जन्म-मरण में लिप्त रहता है। विशेष परिस्थिति में यह आत्मा सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शरीरों से मुक्त हो जाता है। वह स्थिति मुक्तावस्था कहाती है। उस स्थिति में आत्मा मरण-जन्म के बन्धन को पार कर जाता है।

इस श्लोक का यही अर्थ बनता है।

इसी भाव में यदि अगले श्लोक का अध्ययन करें तो बात स्पष्ट हो जाएगी। वह परम-पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है। यहाँ पुरुष का अर्थ परमात्मा है। इस श्लोक में जो विशेष बात कही गई है वह यह कि उस परमात्मा में सब प्राणी स्थित हैं और उन सबमें परमात्मा परिपूर्ण है। इससे, परमात्मा से अतिरिक्त प्राणियों का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

अभिप्राय यह है कि भक्ति द्वारा परमात्मा में आत्मा स्थित हो जाता है। एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ कैसे स्थित हो जाता है? इस विषय में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जैसे सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु आकाश में स्थित है, वैसे ही सब प्राणी परमात्मा में स्थित हैं।[1] जब परमात्मा में आत्म (स्थूल अथवा सूक्ष्म) शरीर से पृथक् स्थित होता है तब वह परमात्मा के घनिष्ठ सम्पर्क में आता है। यही मोक्ष की अवस्था है।

आगे कहा गया है कि कैसे आत्मा शरीर को छोड़ इस पृथ्वी के वायुमण्डल से बाहर निकल अन्य लोकों को अथवा अव्यक्त स्थिति में जाता है। यह भी कहा गया है कि जगत् में दो गतियाँ हैं, एक शुक्ल गति और दूसरी कृष्ण गति। ये दोनों गतियाँ

१. यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

—भ० गी०, ९—६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(मार्ग) सनातन अर्थात् सदैव से चली आ रही हैं। एक न लौटनेवाला मार्ग है और दूसरा पीछे लौट आनेवाला मार्ग है। योगी लोग इन दोनों मार्गों के रहस्य को जानते हैं। इसी कारण वे शुक्ल मार्ग को ग्रहण करते हैं और वेदों में लिखे यज्ञों, तप, दान आदि से प्राप्त पुण्य फल द्वारा सनातन (अव्यक्त) स्थिति को अतिक्रमण कर जाते हैं।[१]

इस शुक्ल अथवा कृष्ण काल में शरीर त्यागकर लोग इस मरण-जन्म के बन्धन में नहीं लौटते अथवा लौटते हैं? इसका अभिप्राय विचारणीय है।

इस विषय में कहा गया है कि दिन के समय तथा उत्तरायणपक्ष में अग्नि की उपस्थिति में अथवा इसी प्रकार शुक्ल पक्ष में भी, ब्रह्म को जाननेवाले जब मरते हैं तो वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। वे पुनः इस मर्त्यलोक में नहीं लौटते।

इसी प्रकार धूम्रयुक्त स्थान में, रात्रि के समय, कृष्ण पक्ष में अथवा दक्षिणायन के छः महीनों में जब चन्द्र की ज्योति नहीं होती है, योगी इन कालों में मरकर पुनः मरण-जन्म के बन्धन में लौट आते हैं।

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि योगी जब इन कालों में देह त्यागता है तो वह उन लोकों को जाता है जहाँ से पुनः जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आना होता अथवा आना होता है।

परन्तु योगी इन दोनों, शुक्ल और कृष्ण पक्षों के जाननेवाला होना चाहिए। एक तो वह योगी हो, दूसरा उन योगियों में भी इन मार्गों के विषय में जाननेवाला हो, तभी वह परमगति को प्राप्त हो सकता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि महादुराचारी अज्ञानी भी यदि शुक्ल पक्ष में देह त्याग दे तो वह अवश्य ही परमधाम को प्रस्थान कर सकेगा। स्पष्ट शब्द लिखे हैं कि योगी ही यज्ञ-तप और दान के पुण्य फलों को प्राप्त कर सकता है। साथ ही वह योगी जो (सर्वमिदं विदित्वा) इस सबका (दोनों मार्गों का) रहस्य जानता है।

---

१. यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्थता कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टिम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥
—भ० गी०, ८—२३, २४, २५, २६, २७, २८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यहाँ एक प्रश्न है कि मरने पर जब परम योगी भक्त का आत्मा स्थूल और सूक्ष्म शरीर से छूट जाता है, तब यदि उस समय कृष्ण पक्ष हो तो वह मुक्तावस्था को प्राप्त क्यों नहीं होता और शुक्ल पक्ष होने पर क्यों मोक्ष को प्राप्त होता है ?

इस प्रश्न को गीता में सुलझाया नहीं गया। यह बात विस्मयजनक है कि अति सूक्ष्म आत्मा पृथ्वी के वायुमण्डल में केवल कृष्ण पक्ष अथवा रात्रि अथवा दक्षिणायन पक्ष के कारण बँधा रह जायेगा, भले ही उसका ज्ञान और सिद्धि परम योगी की हो !

पृथ्वी से कुछ ही मील ऊपर जाने पर तो न रात रहती है न दिन, न शुक्ल पक्ष है न कृष्ण पक्ष। इसी प्रकार न उत्तरायण है, न दक्षिणायन। तब ऐसा क्यों कहा है ?

हम इसका अर्थ इस प्रकार लगाते हैं कि मरने के समय यदि योगी और सिद्धि प्राप्त आत्माएँ ज्ञान का आश्रय लेती रहें तो उनको मोक्ष पद मिल जाता है। ज्ञान का प्रतीक है प्रकाश, उत्तरायण पक्ष, शुक्ल पक्ष इत्यादि। इसके विपरीत कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन इत्यादि अविद्या, अज्ञान के सूचक हैं।

इसमें केवल एक ही कारण बताया गया है। महाभारत में यह लिखा है कि ऋषियों की आत्माएँ सूर्य-रश्मियों पर आरूढ़ होकर भ्रमण करती हैं। इसका अर्थ है कि सूर्य-रश्मियाँ मुक्त आत्माओं को अन्तरिक्ष में पथप्रदर्शन करने में साधन बनती हैं। यह भी लिखा है कि जैसे वृक्ष की शाखाओं पर बहुत से पक्षी बसेरा लेते हैं, उसी प्रकार सूर्यदेव की सहस्रों किरणों का आश्रय लेकर देवताओं सहित सिद्ध मुनि निवास करते हैं।[१]

महाभारत का यह कथन भी सर्वथा स्पष्ट नहीं। गीता में तो लिखा है कि उत्तरायण पक्ष में मरनेवाला योगी मोक्ष प्राप्त करता है।

कुछ लोग मरण-काल में भी सब प्रकार से चैतन्ययुक्त होते हैं। यदि योगी देह त्यागने के समय होश-हवास में और भली प्रकार समझता हुआ अपने चित्त को परमात्मा के वास्तविक स्वरूप में लगा सके तो वह मोक्ष-धाम को पहुँच जाता है।

इस काल में ओ३म् शब्द का उच्चारण करते हुए और परमात्मा में ध्यान लगाये हुए देह त्यागने का प्रभाव मोक्ष-प्राप्ति में होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है और यही ज्योतिर्मय मार्ग पर चलने का अर्थ हो सकता है। इसी मार्ग को शुक्ल, उत्तरायण और दिन का काल कहा जा सकता है।

अतः संक्षेप में भक्ति मार्ग का वर्णन इस प्रकार है :

(१) भक्ति के पथ पर चलनेवाले को ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए।

---

१. यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥

—महाभारत, शां० ३६२—३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(२) ज्ञानवान होने पर योग के प्रथम पाँच अंगों का पालन करते हुए अव्यक्त परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए।

(३) मस्तक पर भ्रुवों के मध्य में प्राणों का संचय कर ओ३म् के जप करने का अभ्यास होना चाहिए।

(४) मरने के समय उक्त ढंग से 'ओं तत् सत्' का उच्चारण करता हुआ प्राण त्याग करे तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भगवान् कृष्ण ने इसी को मोक्ष-प्राप्ति का राज मार्ग (सुगम मार्ग) माना है। वे कहते हैं कि यह भक्तियोग राजविद्या है। यह राज-रहस्य है और सर्वोत्तम मार्ग है। यह धर्मयुक्त और प्रत्यक्ष फल देनेवाला है।

जो पुरुष इस मार्ग पर अश्रद्धा रखते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त नहीं हो सकते और आवागमन के चक्र में फँसे रहते हैं।

परमात्मा (अव्यक्त) से यह जगत् परिपूर्ण है और वह सब प्राणियों में स्थित है। परन्तु परमात्मा उनमें स्थित नहीं। वे उसके आश्रय हैं। इस पर भी परमात्मा उनके आश्रय नहीं।

यद्यपि परमात्मा की (योगम्) योग शक्ति के (ऐश्वर्यम्) प्रभाव से सब प्राणी उत्पन्न, धारण, पोषण होते हैं, इस पर भी (न च भूतस्थो ममात्मा) परमात्मा प्राणियों में स्थित नहीं।[१]

भगवान् ने पुनः वही बात कही है जो इससे पूर्व कह चुके थे कि ब्रह्मदिन (कल्प) के समाप्त होने पर सब प्राणी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और कल्प के आरम्भ में परमात्मा पुनः अपनी योग शक्ति से उनकी रचना करता है।

परमात्मा प्रकृति को (अवष्टभ्य) लेकर अपने स्वभाव से विवश होकर इस भूत समुदाय को बार-बार रचता है।

परमात्मा का इस सृष्टि की रचना में कोई भी (स्वार्थ) नहीं। वह आसक्तिरहित होकर निष्पक्ष-भाव में यह कर्म करता है।

परमात्मा की अध्यक्षता में प्रकृति से चराचर जगत् रचा जाता है। इस हेतु से यह

---

१. राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

—भ० गी०, ९—२, ३, ४, ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जगत् आवागमन में घूमता है।[१]

यहाँ यह लिखा है कि कल्प के अन्त में सब भूत प्रकृति में लीन हो जाते हैं। यहाँ प्रकृति से वही अभिप्राय है जो ७—५ में कहा है। इस श्लोक में कहा है कि प्रकृति जो आठ प्रकार के भेदोंवाली है (पाँच महातत्त्व, मन, बुद्धि और अहंकार) एक प्रकार की है और जीवात्मा दूसरी प्रकार की प्रकृति है। यहाँ (९—७) उस प्रकृति में सब भूतों के लीन हो जाने की बात कल्प क्षय के समय लिखी है और उसी से कल्प के आदिकाल में पुनः सृष्टि की रचना की बात लिखी है।

श्लोक क्रमांक ९—८ में लिखा है कि परमात्मा अपने स्वभाव से विवश होकर सम्पूर्ण जगत् और भूत समुदाय को बार-बार उत्पन्न करता है। यह स्वभाव क्या है? कैसा है? इस विषय में स्थान-स्थान पर लिखा है कि यज्ञरूप में परमात्मा सृष्टि की रचना तथा पालन करता है।

यह भी लिखा है कि इस यज्ञ-रचना के काम में परमात्मा का कोई स्वार्थ नहीं। वह अनासक्त और उदासीन होकर ही यह सब कर्म करता है। इस कारण परमात्मा इस जगत् से बँधता नहीं।

परमात्मा की अध्यक्षता में प्रकृति इस चराचर जगत् को रचती है।

गीता का मत इस विषय में सर्वथा स्पष्ट है कि परमात्मा प्रकृति और जीव गुणों से सर्वथा पृथक् रहकर यज्ञरूप में सृष्टि की रचना करता है। यज्ञरूप का अभिप्राय है सब जीवों के कल्याणार्थ। जीवों को अपने कर्मफल भोगकर मोक्ष की पदवी प्राप्त करने का अवसर प्रदान करने के लिए यह जगत्-रचना होती है।

मूर्ख लोग परमात्मा को शरीरधारी समझते हैं। वह तो सब प्राणियों (तनुधारियों) का रचनेवाला है। वे (मूर्ख) कुछ नहीं जानते। परमात्मा को न समझने वाले झूठी आशाएँ बनाकर मिथ्या कर्मों के पीछे लगे रहते हैं। ये राक्षसों तथा असुरों के समान भ्रम में फँसे हुए (प्रकृतिं मोहिनीं श्रितः) प्रकृति के सहारे ही अपना

---

१. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

—भ० गी०, ९—७, ८, ९, १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जीवन चलाते हैं।[१]

यहाँ उन लोगों को असुर और राक्षस कहा है जो प्रकृति के भोग को ही जीवन का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। इनको आजकल की भाषा में जड़वादी कहा जाता है। ये असुर इत्यादि किस कारण हो जाते हैं? इसका पता संसार का अध्ययन करने से होता है। असुर उनको कहते हैं जो इन्द्रिय-सुखों को ही सबकुछ मानकर जीवन व्यतीत करते हैं। आसुरी स्वभाव और दैवी स्वभाव के विषय में आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ इतना और कह दिया है कि वे मनुष्य जो दैवी स्वभाव के हैं, वे परमात्मा को सब भूतों का सनातन कारण, नाशरहित जानकर, अनन्य मन में युक्त हुए निरन्तर भजते हैं।[२]

इसका अभिप्राय यह है कि दैवी स्वभाव का परमात्मा में विश्वास तथा उसकी भक्ति के साथ घना सम्बन्ध है। वह हम ईशावास्योपनिषद् का (ई०-४) उद्धरण देकर लिख चुके हैं कि जो लोग आत्मा का हनन करते हैं वे असुर योनियों में जन्म लेते हैं। यहाँ यह अभिप्राय है कि जो परमात्मा पर विश्वास नहीं करते, वे स्वतः इसी जन्म में असुर हो जाते हैं।

कुछ लोग ज्ञानयज्ञ को विश्व में प्रमुख मानकर परमात्मा की उपासना करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो पृथक् भाव से उपासना करते हैं। अन्य जन भी कई प्रकार से परमात्मा में आस्था रखकर उसकी भक्ति करते हैं।

इन सबको समझ लेना चाहिए कि श्रुति में प्रतिपादित कर्मों में परमात्मा की ही उपासना है। यज्ञादि कर्मों में भी परमात्मा की ही उपासना होती है। पितरों की सेवा-शुश्रूषा भी परमात्मा की ही उपासना है। किसी को ओषधि देना भी परमात्मा की उपासना ही है। यज्ञ में मन्त्रोच्चारण, घी डालना, अग्नि जलाना और उसमें आहुति देना सब परमात्मा की उपासना है।

पितामह, पिता, माता तथा पोषण करनेवाले की उपासना परमात्मा की उपासना ही है। ज्ञान प्राप्त करना भी परमात्मा की उपासना है। पवित्र ओ३म् का

---

१. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

—भ० गी०, ९—११, १२

२. महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

—भ० गी०, ९—१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उच्चारण अथवा वेद (ऋक्, यजु, साम) का अध्ययन भी परमात्मा की उपासना ही है।[१]

अर्थात् इस संसार में जो भी शुभ कार्य हो रहे हैं, अथवा जो शुभ कार्य किया जाता है वह परमात्मा की ही भक्ति है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि परमात्मा ही प्राणियों की अंतिम गति, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, सबका निवास-स्थान और शरण-स्थान, हितचिन्तक, सबको उत्पन्न करने और सबका प्रलय करनेवाला काल है तथा स्वयं अविनाशी सबका बीज है।

इस संसार में अग्नि (ताप), वर्षा, आकर्षणकर्ता और सबका सृजन करनेवाला परमात्मा ही है। वही भर्ता और मृत्यु है। सत् और असत् सबकुछ वही है।[२]

परमात्मा की भक्ति का अर्थ लोक-सेवा माना जाता है। कारण यह कि जो शुभ कर्म इस जगत् में चल रहा है, वह परमात्मा के आश्रय ही है, परमात्मा की योजना के अनुसार ही है। इस कारण उन सब शुभ कर्मों में सहयोग परमात्मा की भक्ति ही है।

अतः (त्रैविद्या) तीन प्रकार की विद्या को प्राप्त कर सोमरस पी तथा पापों से रहित हो, यज्ञों द्वारा पुण्य संचय कर देवलोक को प्राप्त करते हैं और देवताओं के भोगों को भोगते हैं।

वे लोग वहाँ का महान् भोग प्राप्त कर पुण्य कर्मों के फल के समाप्त हो जाने पर पुनः मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं। भोगों की कामनाओं से प्रेरित होकर बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाते हैं।

परन्तु जो निष्काम भाव से इस संसार में विचरते हुए परमात्मा की भक्ति करते हैं,

---

१. ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यगहमग्निरहं हुतम्॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥

—भ० गी०, ९—१५, १६, १७

२. गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
तपाम्यहमहं वर्षं निग्रह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

—भ० गी, ९—१८, १९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उनके योग क्षेम का प्रबन्ध परमात्मा स्वयं करता है।[१]

इससे पूर्व ९—१५, १६, १७, १८, १९ में कहा है कि संसार में सब श्रेष्ठ कर्मों का करना परमात्मा की उपासना ही है। यहाँ बताया है कि उन कार्यों को करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। जब संसार में किये पुण्य-कर्मों का फल समाप्त हो जाता है तब ये लोग स्वर्गलोक से पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं। यहाँ वे पुनः पुण्य-कार्य करें तो स्वर्ग-लोक में जाएँगे। इस प्रकार वे. आवागमन के चक्र में गति करते हैं।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि मृत्युलोक से अभिप्राय इस पृथ्वी लोक अथवा अन्य किसी नक्षत्र पर प्राणी जगत् से है। स्वर्गलोक भी मरण-जन्मवाला लोक है। यह सिद्ध ही है, उसका कारण यह है कि पुण्य कर्म करने पर आत्माएँ वहाँ जाती हैं और पुण्य-फल समाप्त होने पर वहाँ से आत्माएँ चली आती हैं। मरना-जीना भी यही है। किसी योनि से चला आना भी कर्म-फल समाप्त होने पर होता है।

यह भी स्पष्ट है कि स्वर्गलोक में गये आत्मा भोग भोगते हैं। भोग भोगने में कर्म होते हैं। तब उन कर्मों का फल भी होगा। यह विचार में न आनेवाली बात है कि भोगों का भोग तो किया जाये, परन्तु कर्म न हो और फिर उन कर्मों का फल न हो।

अभिप्राय यह कि स्वर्गलोक भी इस मृत्युलोक की भाँति ही है। जन्म-मरण, भोग और कर्म उसमें भी रहते हैं। अथवा यह भी माना जा सकता है कि स्वर्गलोक भी यह पृथ्वी ही है। देवता लोग भी यहाँ के ही रहनेवाले हैं।

अभिप्राय यह है कि यदि यह मान लिया जाये कि पृथ्वी पर बसी उन्नत जातियाँ देवता हैं, तो ठीक होगा।

असुर योनियाँ और असुर जातियाँ भी इस पृथ्वी पर हैं। तब देवता भी इसी पृथ्वी पर हों तो इसमें विस्मय करने की बात नहीं। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि किसी अन्य नक्षत्र पर अथवा अन्तरिक्ष में विचरनेवाली जातियाँ देवताओं की परिभाषा में आ जाती हों।

---

१. त्रैविद्या मा सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

—भ० गी०, ९—२०, २१, २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



फिर भी भगवान् कृष्ण ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ये देवता लोग उन देवता लोगों से पृथक् हैं जिनका पूजन करनेवालों को भी परमात्मा का भक्त कहा है और जिनकी भक्ति का फल अस्थायी है। इस बात को पुनः उक्त श्लोकों के साथ ही इस प्रकार कह दिया है। भगवान् कहते हैं कि दूसरे देवता भी हैं। कुछ लोग कामनाओं के[1] आश्रय उन देवताओं की पूजा करते हैं। परमात्मा उन देवताओं में भी है। अतः उनकी पूजा का भी उपयुक्त फल (उनकी कामनाओं की प्राप्ति) होता है। यह पूजा अनियमित है। यह पहले बता चुके हैं कि यह अन्त होनेवाला फल देती है।

इसी प्रकार यज्ञ (संसार में कल्याणकारी कार्य) भी परमात्मा की पूजा ही है। परन्तु जब कामनाओं की पूर्ति के लिए ये यज्ञ किए जाते हैं तो इनके करनेवाले आवागमन में फँसे रहते हैं।

जो देवताओं का पूजन करते हैं वे देवताओं की योनियों में चले जाते हैं, जो पितृव्रतों का पालन करते हैं, वे पितरों की योनियों में जाते हैं। भूतों (जड़ पदार्थों अथवा पृथ्वी पर के प्राणियों, गुरुओं, नेताओं तथा बलशालियों) की जो पूजा करते हैं, वे तामस योनियों में जाते हैं। और जो अविनाशी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा अव्यक्त परमात्मा की उपासना करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

इस अध्याय में हमने भक्तों की श्रेणियों का उल्लेख किया है। देवताओं की उपासना का फल अस्थायी रहता है। साथ ही व्यक्त पदार्थों की पूजा करनेवालों को मूर्ख कहा गया है। परमात्मा की अनन्य ज्ञानयुक्त भक्ति का फल मोक्ष है। मोक्ष-प्राप्ति पर जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा मिलता है।

यूँ तो परमात्मा पूर्ण सृष्टि का रचनेवाला है। इस कारण सृष्टि में सब श्रेष्ठ पुण्य के कार्य करना भी परमात्मा की भक्ति है, परन्तु जब वे कार्य कामनाओं से युक्त होते हैं, तो उनसे स्वर्गलोक प्राप्त होता है और स्वर्गलोक से आत्मा पुनः इस प्राणी जगत् में आता है और फिर पुण्य कार्य करने पर स्वर्गलोक में जाता है।

मोक्ष-प्राप्ति कामनाओं से रहित होकर, अनासक्त भाव से, विशुद्ध परमात्मा की उपासना करने से होती है।

---

१. येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

—भ० गी०, ९—२३, २४, २५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



## मोक्ष की अवधि

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मोक्ष की अवधि के विषय में कुछ लिख देना चाहते हैं।

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि ब्रह्मलोक के अतिरिक्त अन्य सब लोक ऐसे हैं कि जहाँ से प्राणी को लौटना पड़ता है। अर्थात् कर्मफल की समाप्ति पर पुनः कर्मलोक में आना पड़ता है। केवल परमात्मा में स्थित होने के बाद ही आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है (८—१६)। अन्य अनेक ग्रन्थों में भी ऐसा लिखा है कि अमुक प्रकार जब जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है, तब वह पुनः मृत्युलोक में लौटकर नहीं आता।

यहाँ भी लिखा है कि ब्रह्म दिन की समाप्ति पर जब जगत् अव्यक्त में लीन हो जाता है तब भूतग्राम भी अव्यक्तावस्था में चला जाता है। ब्रह्म दिन आरम्भ होने पर परमात्मा पुनः इसकी रचना कर देता है। परन्तु जो सनातन अव्यक्त भाव है और जो इन दोनों अव्यक्तों से परे है, वह नष्ट नहीं होता। इसी अव्यक्त भाव को परम गति कहते हैं। इस गति में पहुँचकर जीव पीछे नहीं लौटता (भ० गी०, ८—२०, २१)।

गीता का स्पष्ट मत है कि आत्मा मोक्ष प्राप्त करके नहीं लौटता अर्थात् वह पुनः जन्म-मरण के बंधन में नहीं आता।

लिखा है कि ब्रह्मरात्रि में आत्मा स्थूल और सूक्ष्म शरीर से पृथक् हो जाता है। गीता में भगवान् लिखते हैं कि सहस्र युग के उपरान्त जब ब्रह्मरात्रि आती है तो जगत् अव्यक्त में लीन हो जाता है। भूत (प्राणी भी) अव्यक्तावस्था में आ जाते हैं। परन्तु एक अन्य अव्यक्त है। वह सनातन है। उसमें पहुँचा हुआ आत्मा नहीं लौटता।

कुछ एक आचार्यों का ऐसा मत नहीं है। वे मानते हैं कि मोक्षावस्था से भी आत्मा को लौटना होता है। कुछ अद्वैतवादी भी ऐसा ही मानते हैं।

उनकी युक्ति है कि परमात्मा ही जीवात्मा है। जब एक बार परमात्मा माया की लपेट में आकर इस भ्रम में फँस जाता है तो वह पुनः भी आ सकता है। यह विचार कुछ अद्वैतवादियों का है। उनका कहना है कि इस जगत् में प्राणी है। प्राणी शरीर और जीवात्मा का संयोग है। शरीर व्यक्त जगत् का एक अंश है। जीवात्मा परमात्मा का एक अंश है और व्यक्त जगत् अव्यक्त का एक अंश है। वह अव्यक्त, सनातन-अव्यक्त अर्थात् परमात्मा से ही निकला है। जब जीवात्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो वह सनातन अव्यक्त में लीन हो जाता है। सनातन अव्यक्त (परमात्मा) किसी एक समय माया रूपी अव्यक्त में लिप्त होकर जन्म-मरण के चक्र में आ गया था। अतः वह पुनः भी आ सकता है।

जो लोग कहते हैं कि नहीं आ सकता, उनको यह बताना चाहिए कि वह पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किस स्थिति और किन कारणों से इस जन्म-मरण के चक्र में अथवा भ्रम में फँसा था। उनका यह कहना है कि भगवान् की लीला है कि वह ऐसा हुआ था। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि वही लीला पुनः क्यों नहीं खेली जा सकती ?

यह समस्या अद्वैतवादियों के सामने एक महान् प्रश्न के रूप में उपस्थित है। यह प्रश्न उनके साथ सम्बन्धित है जो यह मानते हैं कि परमात्मा किसी परिस्थिति से विवश होकर जीवात्मा के रूप में इस जन्म-मरण के चक्र में आता है।

यह भ्रम है कि यह जन्म-मरण हो रहा है। वास्तव में यह कुछ भी नहीं। ऐसा कुछ अद्वैतवादियों का कहना है। यदि इसको इसी प्रकार मान लें तब भी मूल प्रश्न वैसा ही बना हुआ है कि भ्रम एक बार हुआ और ज्ञान से वह दूर हो गया। उस भ्रम से पूर्व भी परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही था। वह ज्ञानस्वरूप अज्ञानी हो गया और अब निरंतर प्रयत्न से ज्ञानवान हो गया तो वह पुनः क्यों भ्रम में नहीं फँसेगा ?

हम अद्वैतवाद को सत्य सिद्धान्त नहीं मानते। हमारे विचार में सनातन मूल तत्त्व तीन हैं जिनसे यह चराचर जगत् बना है। प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। तीनों अव्यक्त हैं। केवल प्रकृति व्यक्त रूप में आती है और फिर प्रलय काल अर्थात् ब्रह्मरात्रि के समय अव्यक्त रूप में चली जाती है। प्राणियों के शरीर तो ब्रह्मरात्रि के समय अव्यक्त रूप प्रकृति में लीन हो जाते हैं। जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में स्थित रहते हैं अर्थात् अव्यक्त प्रकृति में पड़े रहते हैं।

लीन हो जाने का अभिप्राय एक हो जाना नहीं। जैसे मिश्री जल में घुल जाती है अथवा वायु आकाश में मिला रहता है, वैसे ही मुक्त आत्माएँ परमात्मा में लीन हो जाती हैं। उस समय उनका सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता।

स्वर्गलोक अथवा स्वर्ग योनियों में सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ बना रहता है और जीवात्मा उस सूक्ष्म शरीर के आश्रय स्वर्गलोक के सुखों का भोग करता है।

परन्तु मुक्तावस्था में जीवात्मा इस सूक्ष्म शरीर से भी पृथक् हो जाता है और सूक्ष्म शरीर अथवा उसी प्रकार की इन्द्रियों के बिना परमानन्द का भोग करता है। इस अवस्था में आत्मा ज्ञानवान् होता है और वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, परन्तु यह स्थिति अन्तवाली है। अर्थात् कभी समाप्त भी होगी। जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी होता है।

और यदि यह मानें कि आत्मा-परमात्मा एक ही है तो यह देखना पड़ेगा कि किस अवस्था में परमात्मा जन्म-मरण के चक्र में आता है। वैसी ही अवस्था मुक्त हो जाने के उपरान्त फिर उपस्थित होगी तो पुनः यह जन्म-मरण के चक्र में आ जायेगा।

परमात्मा और जीवात्मा के भिन्न-भिन्न तत्त्व होने की बात हम लिख चुके हैं। उसका यहाँ खण्डन अथवा मण्डन नहीं किया जा रहा है। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट करना है कि मोक्षावस्था भी सावधिक अवस्था है। 'न च पुनरावृत्ति' का मतलब है कि मन्वन्तर पर्यन्त अथवा ब्रह्मदिन पर्यन्त लौटना नहीं होता तथा इस लौटने अथवा न लौटने का सम्बन्ध कर्मफल के साथ नहीं वरन् ज्ञान रूपी संस्कारों के क्षीण होने के साथ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम परिच्छेद

# परमात्मा का स्वरूप

परमात्मा का एक स्वरूप तो उसका गुणवाचक है। वह हमने स्थान-स्थान पर बताया है। संक्षेप में, वह है सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, भर्त्ता, परमेश्वर, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु इत्यादि।

परन्तु गीता में स्थूल स्वरूप का भी वर्णन किया है। स्थूल स्वरूप इस प्रकार कि जब परमात्मा इस सृष्टि की रचना, संहार और पालन करता है तो जगत् की प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का स्वरूप दिखाई देता है।

जैसे मनुष्य का कार्य और व्यवहार देखकर यह कहा जाता है कि अमुक मनुष्य ने यह किया है, अतः उस कार्य अथवा व्यवहार में उसका स्वरूप ही दिखाई देने लगता है तथा वह प्रत्यक्ष कार्य करता प्रतीत होता है; परन्तु वास्तव में वह मनुष्य नहीं होता। शरीर तो जड़ है, कार्य और व्यवहार करनेवाला आत्मा होता है।

इसी प्रकार जब हम सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों को गतिमान देखते हैं तो कहते हैं कि सूर्य, चन्द्र चल रहे हैं; अथवा अग्नि, विद्युत् द्वारा यंत्र चलते देखते हैं तो यह मान लेते हैं कि यह सबकुछ अग्नि, विद्युत् आदि कर रहे हैं। वास्तव में ये तो सब जड़ हैं, ये कुछ भी नहीं कर रहे होते। इनमें उपस्थित परमात्मा ही यह सबकुछ इनसे करा रहा होता है। अतः एक प्रकार से यह कहा जाता है कि यह दिव्य कर्म सूर्य, चन्द्रादि ही कर रहे हैं। वैसे ही जैसे भोजन पचाकर शरीर बनाना इत्यादि मनुष्य का शरीर कर रहा कहा जाता है।

गीता में शरीर को लक्ष्य रखकर कई स्थानों पर लिखा है कि यह सबकुछ परमात्मा का स्वरूप ही है। वास्तव में यह परमात्मा का तनु है जैसे आत्मा का शरीर होता है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए भगवान् कृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है—

हे अर्जुन, परमात्मा के परम रहस्य और प्रभाव को सुन। यह मैं तुम्हारे प्रति प्रेम होने के कारण तुम्हारे हित के लिए ही कहूँगा।[१]

---

१. भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

—भ० गी०, १०—१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अर्थात् जब यह कहा जा रहा है कि सर्व भूत और सब जगत् परमात्मा से ही उत्पन्न तथा उसके द्वारा पोषण और संहार किये जाते हैं तो इससे क्या अभिप्राय है ? इस रहस्य को बताने पर ही परमात्मा के इस जगत् में स्थित होने की विधि बतायी जा सकती है।

देवता और महर्षिगण परमात्मा के इस रहस्य को नहीं जानते। इसका कारण यह है कि देवताओं में दिव्यता और महर्षियों के ऋषित्व का आदि कारण भी तो परमात्मा ही है।[१]

यहाँ जो बात स्मरण रखने योग्य है वह है 'अहमादिर्हि····सर्वशः' सब प्रकार से उनमें दिव्यता और ऋषित्व का आदि अर्थात् आरम्भ परमात्मा ही है।

यहाँ हमने दिव्यता और ऋषित्व लिखा है। देवता और महर्षि नहीं लिखा। इसका कारण यह है कि हम देवता और ऋषियों को उनके स्थूल शरीर से पृथक् कर लिखना चाहते हैं और जैसा हमने इस कण्डिका के आरम्भ में लिखा है कि मनुष्य के कर्म और उसका व्यवहार उसके आत्मा के करने से होते हैं। शरीर जड़ होने से कर्त्ता नहीं हो सकता। इसी प्रकार देवताओं तथा ऋषियों का शरीर जड़ है। जब हम किसी को देवता अथवा ऋषि का शरीर कहते हैं तो उसमें उपस्थित दिव्यता अथवा ऋषित्व के कारण ही कहते हैं, उसका ही आदि कारण परमात्मा मानना चाहिए।

यह भाव इसी प्रकरण में हम आगे चलकर और भी विस्तार से लिखेंगे। परमात्मा का स्वरूप जानने के लिए इसे समझ लेना अत्यावश्यक है।

वैसे अगले ही श्लोक में इस भाव को भगवान् कृष्ण और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। वह कहते हैं कि जो परमात्मा को अजन्मा और अनादि तथा लोकों का महान् ईश्वर, तत्त्व से जानते हैं वे ही मनुष्यों में ज्ञानवान् हैं। वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।[२]

इसी विषय में भगवान् कहते हैं कि बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, शम, दम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, कीर्ति, अपकीर्ति; अर्थात् प्राणियों के नाना प्रकार के भाव परमात्मा से ही होते हैं।[३]

और भी लिखा है—सप्त महर्षिगण और उनसे भी पहले होनेवाले तथा मानव

---

१. न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

—भ० गी०, १०—२

२. यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—भ० गी०, १०—३

३. बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

—भ० गी०, १०—४, ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(मनु जो मन्वन्तरों आदि में होते हैं), ये सब-के-सब परमात्मा के भाव और उसके मन से उत्पन्न होते हैं। उससे ही संसार में पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति हुई है। परमात्मा ही सबके होने में कारण है और परमात्मा से ही सब जगत् चेष्टा करता है। इस प्रकार परमात्मा को और उसके भाव से सबकुछ संयुक्त हुआ है ऐसा जानकर बुद्धिमान् निरन्तर परमात्मा का ही भजन करते हैं।

अतः परमात्मा में चित्त लगानेवाले और अपने प्राणों (चेष्टाओं) को उसके ही अर्पण करनेवाले सदा परमात्मा का ही चिन्तन और कथन कर संतुष्ट होते हैं और फिर परमात्मा में ही वे रमण करते हैं।

ऐसे भक्तों पर अनुग्रह कर, परमात्मा उनके आत्मा में स्थित होकर उनमें अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार दूर करता है और उनके ज्ञान को प्रज्वलित कर देता है।[१]

इन श्लोकों में कई बातें लिखी हैं जिनके विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। श्लोक १०—४ में लिखा है कि परमात्मा से ही बुद्धि, ज्ञान, विवेक, क्षमा, दम, शम, सुख, दुःख इत्यादि भाव बनते हैं। ये सब गुण प्रकृति और आत्मा के लिखे हैं। उदाहरण के रूप में, बुद्धि प्रकृति का एक रूप है। ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है और सुख-दुःख भी आत्मा के गुण लिखे हैं। यहाँ इनमें परमात्मा से उत्पन्न भाव लिखा है।

भाव उसको कहते हैं जो किसी में उत्पन्न होता है। अतः बुद्धि में जो निश्चय करने की शक्ति है, ज्ञान अर्थात् जानने की शक्ति है अथवा सुख तथा दुःख का अनुभव है, परमात्मा द्वारा दी गई सामर्थ्य से ही है। परन्तु निर्णय करनेवाला पदार्थ, जिसके द्वारा मनुष्य के व्यवहार का निश्चय होता है, वह प्रकृति (महत्) है, परन्तु इसमें निश्चय करने की सामर्थ्य परमात्मा के कारण ही है।

इसी प्रकार सुख-दुःख को अनुभव करने की सामर्थ्य परमात्मा से ही है, परन्तु सुख-दुःख जाननेवाला आत्मा है।

---

१. महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

—भ० गी०, १०—६, ७, ८, ९, १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इसको हम इस प्रकार भी कहं सकते हैं कि मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा और अनुभव परमात्मा की सामर्थ्य से ही होता है; परन्तु इन चेष्टाओं को करनेवाला और इनका लाभ-हानि उठानेवाला जीवात्मा है। यह इसी प्रकार है जैसे विद्युत् तो विद्युत् के उत्पादक यंत्र से बनकर घर-घर में आती है परन्तु उसका प्रयोग करना है अथवा नहीं करना और उससे क्या लाभ उठाना है, यह घर में रहनेवाले व्यक्ति का अधिकार है।

सुख-दुःख का निर्माण परमात्मा ने किया है, परन्तु सुख अथवा दुःख भोगनेवाला जीवात्मा है।

परमात्मा में सब भाव, जो श्लोक १०—४, ५ में लिखे हैं परमात्मा कैसे और कहाँ से लाता है? यह प्रश्न स्वाभाविक ही है। यह लिखा जा चुका है कि ये भाव त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् ये सात्त्विक, राजसी और तामसी गुणों के कारण हैं। ये गुण प्रकृति के हैं। परन्तु प्रकृति के मूल रूप में ये गुण संतुलित अवस्था में रहते हैं। इस अवस्था में ये गुण एक-दूसरे के प्रभाव को क्षीण कर देते हैं। जब ये गुण पृथक्-पृथक् असंतुलित अवस्था में होते हैं तो ये अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। और इन गुणों को संतुलित अवस्था से असंतुलित अवस्था में लानेवाला परमात्मा है। जब तक ये असाम्यावस्था में नहीं आ जाते, तब तक उक्त सब भाव प्रकट नहीं हो सकते। इसी कारण कहा है कि बुद्धि, ज्ञान, विवेक, क्षमा, दम, शम, सुख, दुःख इत्यादि भाव परमात्मा के ही हैं। वही इनका उत्पन्न करनेवाला है। यद्यपि इन भावों का प्रयोग जीवात्मा करता है और उस प्रयोग से लाभ-हानि भी जीवात्मा को ही होती है।

सप्तर्षि इत्यादि परमात्मा के ही भाव होने का अभिप्राय यह है कि सप्तर्षि में ऋषित्व, मनुओं में मानवत्व (सृष्टि उत्पन्न करने की सामर्थ्य) परमात्मा के मन (संकल्प) से उत्पन्न होता है।

प्रकृति के गुणों की साम्यता मिटती है परमात्मा से और ये गुण जब असमता की अवस्था में होते हैं तो चराचर जगत् बनता है और जीवात्मा इस व्यक्त प्रकृति का ही भोग करता है। निर्माता परमात्मा है। भोक्ता जीवात्मा है। जगत् का निर्माण मूल प्रकृति (अव्यक्त) में गुणों की समता टूटने से होता है। इस समता को तोड़नेवाला परमात्मा ही है।

इसी कारण कहा है (१०—८) कि सब पदार्थों के होने में और उनके बरतने (व्यवहार करने) में परमात्मा ही कारण है। वह परमात्मा इस जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला है। अतः भक्तजन उसमें ही रमने लगते हैं।

ऐसे लोगों के मन, परमात्मा की अनुकम्पा से अन्धकार से दूर हो, ज्ञान की ज्योति से प्रज्वलित हो उठते हैं।

अर्जुन श्रीकृष्ण के उक्त कथन को, जिसमें परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है, कुछ-कुछ ही समझ सका था। अतः उसने कह दिया—'आपने इतनी कृपा करके परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है, इस पर भी मैं अधिक विस्तार से जानना चाहता हूँ। आप बताएँ कि परमात्मा के चिन्तन में मैं उसके किन-किन भावों का चिन्तन करूँ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परमात्मा की यो : शक्ति और विभूति का विस्तार से वर्णन करें। अभी तक जितना आपने बताया है इतने से मेरी तृप्ति नहीं हुई।'[१]

अर्जुन के ऐसा कहने पर भगवान् कृष्ण ने अपने कथन को और व्याख्यासहित बताया। भगवान् ने कहा कि परमात्मा की विभूतियों (शक्तियों) का अन्त नहीं। इस कारण (केवल) दिव्य विभूतियों का ही कथन सम्भव है।

सब प्राणियों के शरीर में स्थित आत्मा और उनका आदि, मध्य तथा अन्त परमात्मा ही है। आत्मा को अनादि माना गया है। अतः उसका आदि और अन्त का अभिप्राय है उसका प्राणी के शरीर में आना, रहना और फिर शरीर छोड़ जाना।[२]

अगले श्लोकों में इसे और अधिक विस्तार से बताया है। वस्तुओं में उनकी दिव्य शक्ति तो परमात्मा के कारण है और उस दिव्य शक्ति के अतिरिक्त वह वस्तु अपना अस्तित्व भी रखती है। इसके बाद भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मैं परमात्मा की दिव्य विभूतियों में भी मुख्य-मुख्य का वर्णन करूँगा।

और उन दिव्य विभूतियों को गिनाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु परमात्मा की दिव्य शक्ति का सूचक है। इसी प्रकार ज्योतियों में रवि, मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में शशि, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, भूत प्राणियों में चेतना परमात्मा है।

श्लोक (१०—२०) में लिखा है—'अहमात्मा सर्व भूताशयस्थितः' सब भूतों के 'आशय' हृदय में परमात्मा स्थित है। श्लोक (१०—२२) में कहा है 'भूतानामस्मि चेतना' प्राणियों में चेतना परमात्मा है। इन दोनों श्लोकों से यह स्पष्ट है कि प्राणी में परमात्मा हृदेश में बैठा हुआ चेतना उत्पन्न करता है, अर्थात् चेतना जीवात्मा से पृथक् वस्तु है।

चेतना शरीर में प्राणों से प्रकट होती है। प्राण परमात्मा की शक्ति है। इसे अथर्ववेद में इस प्रकार लिखा है—

**प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।**

---

१. कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥

—भ० गी०, १०—१७, १८

२. हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

—भ० गी०, १०—१९, २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**यो भूतः सर्वस्येश्वरी यत्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठिम्** ॥ —(अथर्व० ११-४-१)

अतः चेतना जीवात्मा नहीं। यह परमात्मा है। यह प्राणों के द्वारा प्रकट होती है।

हम पूर्व के (ज्ञान-विज्ञान के) अध्याय में लिख आये हैं कि चेतना आत्मा से भिन्न वस्तु है। चेतना शरीर में क्रियाओं के करनेवाली शक्ति है। यह शक्ति इन्द्रियों को चलाती है। आत्मा शरीर का अधिष्ठाता है। वह इन क्रियाओं की दिशा और काल का निश्चय करनेवाला है। चेतना मशीन को चलानेवाली शक्ति है और मशीन को चलने अथवा न चलने का आदेश देनेवाला आत्मा है। अतः श्लोक १०—२० में आत्मा का अभिप्राय चेतना (प्राण) है, जीवात्मा नहीं। प्राण परमात्मा का तेज (शक्ति) ही है।

आगे लिखा है कि परमात्मा रुद्रों में शंकर है, यक्ष तथा राक्षसों में कुबेर है। वसुओं में परमात्मा अग्नि है। पर्वतों में वह सुमेरु है। पुरोहितों में मुख्य वह बृहस्पति है। सेनानायकों में स्कन्द, जलाशयों में सागर, महर्षियों में भृगु, वाणियों में ओंकार, मंत्रों में जप, स्थिर रहनेवालों में हिमालय, वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि है। अश्वों में उच्चैश्रवा, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा, अस्त्रों में वज्र, गौओं में कामधेनु, प्रजनन में काम, साँपों में वासुकि, नागों में शेष, पितरों में अर्यमा, शासन करनेवालों में यमराज, दैत्यों में प्रह्लाद, गणना योग्य में काल, पशुओं में भृगु, पक्षियों में गरुड़, नदियों में गंगा परमात्मा ही है।[१]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा ही सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त नहीं है। विद्या में वह अध्यात्म विद्या है, अक्षरों में ओंकार है। गायन योग्य श्रुतियों में बृहत्साम, समासों में द्वन्द्व, न क्षय होनेवालों में काल, नाश करनेवालों में मृत्यु, उत्पन्न होनेवालों का उद्‌गम स्थान वही है। स्त्रियों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा और क्षमा, ये सब परमात्मा ही हैं। छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में वसन्त, छल करनेवालों में जुआ, तेजस्वियों में ओज, विजयियों में विजय, व्यावसायियों में निश्चय बुद्धि, साधुओं में सात्त्विक भाव, वृष्णियों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, कवियों में शुक्राचार्य, दमन करनेवालों में दण्ड, विजय में नीति, रहस्य में मौन, ज्ञानियों में ज्ञान परमात्मा ही है।[२]

श्रीकृष्ण ने आगे कहा—हे अर्जुन, परमात्मा सब भूतों की उत्पत्ति में कारण है। अतः चर-अचर में कोई नहीं जो परमात्मा से रहित है।[३]

परमात्मा की दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं। इन विभूतियों का वर्णन संक्षेप में ही है। जो भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त, शक्तियुक्त वस्तु है उसको तू परमात्मा के तेज

---

१. भ० गी०, १०—२० से ३२।

२. भ० गी०, १०—३३ से ३८ तक।

३. यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

—भ० गी०, १०—३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अंश से ही उत्पन्न जान। बहुत जानने से क्या प्रयोजन है, इतना जान लो कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा के एक अंश मात्र से धारण किया हुआ और उसमें स्थित है।[१]

हमने ऊपर बताया है कि भगवान् कृष्ण ने इस अध्याय में तनु का वर्णन किया है। जैसे प्राणी के शरीर में आत्मा रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् में परमात्मा स्थित है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि जगत् परमात्मा है। जैसे आत्मा प्राणी नहीं, वैसे ही शरीर आत्मा नहीं और परमात्मा यह जगत् नहीं। शरीर और आत्मा में भेद गीता के दूसरे अध्याय में बताया जा चुका है।

सांख्यदर्शन में भी लिखा है कि ईश्वर का प्रकृति के साथ सम्बन्ध अधिष्ठाता का है। यह ऐसा ही है, जैसा सूत्र का मणियों के साथ सम्बन्ध होता है।[२]

परमात्मा का शरीर व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार की प्रकृति से बना है और परमात्मा इसका संचालन ऐसे ही करता है, जैसे जीवात्मा प्राणी के शरीर का करता है। आत्मा का स्वरूप प्राणी का शरीर है और परमात्मा का स्वरूप यह जगत् ही है। इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्यों, पशुओं, वृक्षों और जड़ पदार्थों में सर्वोत्कृष्ट परमात्मा ही कहा गया है, वहाँ अभिप्राय यह है कि उनमें परमात्मा की विशेष विभूति उपस्थित है। यह नहीं कि गंगा नदी में ही परमात्मा है अथवा गंगा परमात्मा ही है और अन्य नदियाँ परमात्मा से रहित हैं। केवल इतना अभिप्राय है कि गंगा इत्यादि पदार्थ अथवा व्यक्ति जिनके विषय में लिखा है, उनमें परमात्मा की विशेष विभूति प्रतिष्ठित है। उदाहरणस्वरूप; लिखा है कि यादवों में परमात्मा कृष्ण है। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य यादवों में परमात्मा नहीं है। न ही इसका यह अर्थ है कि अन्य मानव समाज में परमात्मा है ही नहीं। इसका केवल यह अर्थ है कि कृष्ण में परमात्मा की विशेष विभूति प्रतिष्ठित है। परमात्मा तो सर्वव्यापक है और जिस-जिसको परमात्मा लिखा है, उसमें परमात्मा विशेष रूप में अपनी विशेष शक्ति को रखता हुआ उपस्थित है।

सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति, प्राणी और वस्तु में परमात्मा की विभूति कार्य कर रही है। सांख्य के दृष्टान्त से, परमात्मा माला की मणियों में सूत्रवत् सबमें

---

१. नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

—भ० गी०, १०—४०, ४१, ४२

२. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्॥

—सां० द० १—९६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रहता है और उन्हें एक संगठन में बाँधे हुए है। यही भाव गीता के दशम् अध्याय में स्पष्ट किया गया है। इसी को कृष्ण श्लोक ७—७ में भी बता चुके हैं। वहाँ बताया गया है (मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।) सूत्र द्वारा मणियों की भाँति यह सब मेरे से गुँथा हुआ है।

इसी भाव को गीता के ग्यारहवें अध्याय में, अलंकार के रूप में प्रकट किया गया है। उस स्थान पर परमात्मा के दो स्वरूप वर्णन किए गए हैं। एक में परमात्मा को अत्यंत मनोहर और सुखकारक दिखाया है। अनेक मुख, नेत्र इत्यादि से युक्त, बहुत से दिव्य भूषण-वस्त्रों से युक्त, दिव्य शस्त्रों से युक्त, दिव्य मालाओं तथा वस्त्रों को धारण किए हुए, दिव्य सुगंधियों का लेप किए हुए सर्व ऐश्वर्य-युक्त अनंत विराट् रूप दिखाया गया है।[1]

इस रूप को देख अर्जुन को सहस्रों सूर्यों से भी अधिक परमात्मा का तेज दिखाई दिया। उसने यह समझा कि परमात्मा अनेक प्रकार से, पूर्ण जगत् के सब देवताओं के शरीर में होते हुए भी एक स्थान पर स्थित है।[2]

इस दिव्य रूप को अर्जुन के शब्दों में गीता में लिखा गया है। अर्जुन कहता है कि मैं परमात्मा के शरीर में सब देवताओं तथा सब भूत समुदायों (प्राणियों की श्रेणियों) में और ब्रह्मा, महादेव, संपूर्ण ऋषियों तथा दिव्य नागों को देखता हूँ। मैं परमात्मा को अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रों से युक्त देखता हूँ। परमात्मा इतना बड़ा है कि उसका आदि, अंत, और मध्य दिखाई नहीं दे रहा। परमात्मा को मुकुटयुक्त, गदायुक्त एवं चक्रयुक्त, सब ओर से प्रकाशमान, तेज का पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यों के सदृश ज्योतियुक्त कठिनाई से देखे जानेवाला तथा सब ओर से अप्रमेय देख रहा हूँ।

परमात्मा जानने योग्य, परम अक्षर, विश्व का परम आश्रय, धर्मरक्षक, अनादि, अविनाशी, सनातन पुरुष है। ऐसा मुझे समझ में आता है। मुझे परमात्मा आदि, अंत और मध्य से रहित, अनंत सामर्थ्यवान्, अनंत हाथोंवाला, चंद्र-सूर्य के नेत्रोंवाला, जलती

---

१. अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

—भ० गी०, ११—१०, ११

२. दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

—भ० गी०, ११—१२, १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हुई अग्नि के तेज से जगत् को तपायमान करनेवाला दिखाई दे रहा है।[१]

इस सुंदर, दिव्य और तेजोमय रूप के साथ अर्जुन को एक और रूप भी दिखाई दिया। अर्जुन ने कहा—मुझे परमात्मा बहुत मुखों, हाथों, पेटों और दाँतोंवाला दिखाई दे रहा है और इस रूप से मैं तथा अन्य सब लोग भी व्याकुल हो रहे हैं। सब लोग परमात्मा के इस रूप को, जो आकाश को स्पर्श कर रहा है, देखकर व्याकुलता अनुभव कर रहे हैं।

यह रूप अनेक वर्णोंवाला और अनेक ओर फैला हुआ है। इस रूप को देखकर सब लोग भयभीत हो रहे हैं और धीरज छोड़ रहे हैं।

अर्जुन ने आगे कहा—मुझे यह दिखाई दे रहा है कि परमात्मा के मुख से प्रलय की अग्नि के समान प्रज्वलित अग्नि निकल रही है। इसको देखकर मैं दिशाशून्य हो रहा हूँ। उस मुख की दाढ़ों में धृतराष्ट्र के पुत्र, राजाओं के समुदायों के साथ, कर्ण इत्यादि और अपनी ओर के सब योद्धा भी धँसे चले जा रहे हैं और दाँतों में पिसे जा रहे हैं। उनके अवशेष ही उन दाँतों में लगे दिखाई देते हैं।

जैसे नदियाँ बहती हुई समुद्र की ओर चली जा रही हैं, वैसे ही ये शूरवीर योद्धा परमात्मा के प्रज्वलित मुख में प्रवेश कर रहे हैं। पतंगों की भाँति ये सब-के-सब मोह में फँसे हुए परमात्मा के मुख में प्रवेश कर नाश को प्राप्त हो रहे हैं।[२]

---

१. पश्यामि देवास्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
—भ० गी०, ११—१५, १६, १७, १८, १९

२. रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इस प्रकार कृष्ण ने परमात्मा का यह दूसरा रूप दिखाया और कह दिया कि हे अर्जुन, देख, द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा बहुत से योद्धा तो परमात्मा द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। इस कारण व्यथित होने की आवश्यकता नहीं। तू जीतेगा और यश को प्राप्त करेगा।

अब उठ खड़ा हो, शत्रुओं को जीतकर धनधान्य संपन्न राज्य का भोग कर। ये सब पहले ही परमात्मा द्वारा मारे जा चुके हैं। तू केवल निमित्त मात्र है।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को परमात्मा के विभिन्न प्रकार के रूपों का दर्शन कराया। ये रूप केवल साहित्यिक अलंकार थे अथवा योगशक्ति से दिखाए हुए विराट् रूप थे, यह विवेचना का विषय नहीं है। जो बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि परमात्मा की शक्ति, मधुर सुंदर तेजयुक्त, साथ ही मृत्युमय, दुष्टों और पापियों का नाश करने में समर्थ।

अर्जुन इससे प्रभावित हुआ तथा वह परमात्मा को और भी अधिक स्पष्टता से समझ सका।

## मूर्तिपूजा

गीता के सप्तम अध्याय में यह लिखा है कि जो परमात्मा को व्यक्त मानता है, वह मूर्ख है। वह परमात्मा के स्वरूप को नहीं जानता।[१]

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा की भक्ति करते समय परमात्मा को व्यक्त माननेवाला मूर्ख ही होगा। परंतु इस विषय को और अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है।

अर्जुन ने जब विराट् स्वरूप देखा तो प्रश्न कर दिया कि जो लोग इस विराट् स्वरूप की भक्ति करते हैं वे उत्तम हैं अथवा कि जो अक्षर अव्यक्त का पूजन करते हैं वे उत्तम हैं?[२]

---

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशंति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

—भ० गी०, ११—२३, २४, २५, २६, २७, २८, २९

१. अव्यक्तं व्यक्तिमापनन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम॥

—भ० गी०, ७—२४

२. एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

—भ० गी०, १२—१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अर्जुन ने ऐसा समझा प्रतीत होता है कि जो विराट् रूप वह देख रहा था, वह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप ही था। इस बात के भ्रम हो जाने का कारण भी था। कृष्ण भी जब परमात्मा के गुण वर्णन करने लगे थे, और उसके स्वरूप का दर्शन कराने लगे थे, उत्तम पुरुष में ही बात कर रहे थे। यद्यपि कृष्ण के साथ रहनेवाला अर्जुन कृष्ण की योगशक्ति से परिचित होना चाहिए था, उसको यह समझ जाना चाहिए था कि वह विराट् स्वरूप, जिसमें उसने भीष्म, द्रोण इत्यादि को उस रूप की दाढ़ों में चबाया जाता देखा था, यह योग का ही चमत्कार था। परंतु वह यह नहीं समझा और उसने उक्त प्रश्न कर दिया। यह भी संभव है कि महर्षि व्यासजी ने विराट् स्वरूप में एक साहित्यिक अलंकार ही बाँधा हो। यह परमात्मा का स्वरूप तो हो नहीं सकता था। सातवें अध्याय में कह चुके हैं कि परमात्मा को व्यक्त माननेवाले मूर्ख होते हैं। इस पर भी जब प्रश्न पूछा गया तो कृष्ण ने इसका भी समाधान कर दिया।

अधिक संभव यह है कि कृष्ण ने अपनी योगशक्ति से ही यह स्वरूप अलंकार के रूप में प्रकट किया होगा। इसी कारण कृष्ण ने इसका उत्तर देना आरंभ कर दिया। कृष्ण ने कहा—

हे अर्जुन! मैंने तुम पर प्रसन्न होकर अपनी योगशक्ति से इस परम-तेजोमय, सबके आदि, सीमारहित, विराट् स्वरूप को दिखाया है।[१] यहाँ कृष्ण ने 'आत्मयोगात्' शब्द प्रयोग किया है। अर्थ है, अपने योगबल से और सदा की भाँति परमात्मा के लिए 'मया' शब्द का प्रयोग किया है। परमात्मा के स्वरूप के लिए 'तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं' शब्दों का प्रयोग किया है। इससे भी हमारे मत का ही समर्थन होता है कि अपने योगबल से कृष्ण ने परमात्मा के विराट् स्वरूप का दर्शन कराया है। यह विराट् स्वरूप भौतिक आँखों से देखने योग्य करने के लिए उसको असीम नहीं रखा जा सका, क्योंकि दृष्टि असीम को देख नहीं सकती। इस कारण शब्दों में असीमता प्रकट करते हुए भी रूप में सीमा बाँधनी पड़ती थी।

अतः यह रूप वास्तविक नहीं हो सकता था। परमात्मा का वास्तविक स्वरूप तो अव्यक्त ही हो सकता है, जिसमें हाथ, मुखादि अवयव नहीं हो सकते। इस पर भी अर्जुन को भ्रम हुआ और उसने उक्त प्रश्न पूछ लिया। अर्जुन इस विराट् स्वरूप को देखकर यह भी भूल गया प्रतीत होता था कि भगवान् ने (श्लोक ७—२४ में) क्या कहा था। वहाँ स्पष्ट लिखा था (व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः) अव्यक्त रूप आँखों से दृष्टिगोचर नहीं हो सकता।

अर्जुन का प्रश्न था कि इस विराट् स्वरूप की पूजा करनेवाला श्रेष्ठ है अथवा

---

१. मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥

— भ० गी०, ११—४७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अव्यक्त और अविनाशी रूप की उपासना करनेवाला श्रेष्ठ है?

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण ने दो स्वरूप दिखाए थे। एक अति भयंकर था और उसे देखकर अर्जुन भय से काँपने लगा था। अर्जुन ने यह कहा था—'यह मैंने पहले कभी नहीं देखा। अतः मैं इसे देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मन में व्याकुल भी हो रहा हूँ। इस कारण परमात्मा का किरीट, गदा, चक्रवाला चतुर्भुज रूप दिखाइए।' तब कृष्ण ने चतुर्भुज रूप दिखाया, जो सौम्य था और जिसे देखकर अर्जुन का चित्त स्थिर हुआ।[1]

श्लोक क्रमांक ५० संजय का कहा हुआ है। इसमें कहा है कि वासुदेव कृष्ण ने अपने रूप को दिखाया और अपना (सौम्यवपुर्महात्मा) सौम्य रूप दिखाकर भयभीत अर्जुन को धीरज दिया। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि जो शंख, चक्र, गदावाला रूप दिखाया था और जो उसने भयानक विराट् स्वरूप दिखाया था, दोनों योगशक्ति से दिखाए काल्पनिक रूप ही थे। ये योगशक्ति से दिखाए व्यक्त स्वरूप थे। ये रूप वास्तविक नहीं थे।

कुछ भी हो, अर्जन को भ्रम हो गया था और उसका निवारण भी किया गया।

अधिकांश मूर्तियाँ, जिनकी पूजा की जाती है, इस किरीट, शंख, चक्र, गदाधारी रूप वाली ही होती हैं। उस विराट् की न कोई मूर्ति बना सकता है, न बनाता ही है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया कि मन को एकाग्र कर निरंतर योगयुक्त हो जो भक्तजन अति श्रेष्ठ श्रद्धा से परमात्मा की भक्ति करते हैं, वे मुक्तात्मा हैं और परमात्मा को मान्य हैं। जो 'अक्षर, कूटस्थ, सर्वव्यापक, अचल, नित्य, न दिखाई देनेवाले स्वरूप की उपासना करते हैं, वे इंद्रियों को संयम में रखते हुए समबुद्धि लोग परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं।[2]

इन श्लोकों में श्लोक क्रमांक २ को अगले दो श्लोकों से पृथक् में अर्थ कर कुछ

---

१. अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

—भ० गी०, ११—४५, ५०

२. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

—भ० गी०, १२—२, ३, ४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



टीकाकार 'मयि माम्' का अर्थ उस स्वरूप का करते हैं, जिसकी मूर्तियाँ बनी होती हैं। इससे वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उन मूर्तियों की उपासना करके वे उत्तम योगी बन गए हैं।

वास्तव में इसके अर्थ इस प्रकार नहीं हैं। तीनों श्लोकों के अर्थ इकट्ठे करने से ही इससे अर्थ बनते हैं और गीता के अन्य भागों से मेल खाते हैं। एक बात और है। श्लोक १२—२ में एक बार बताकर कि (युक्ततमा मताः) वे योगियों में श्रेष्ठ माने जाते हैं, फिर श्लोक १२—४ के अंत में यह बताना कि (मामेव प्राप्नुवन्ति) परमात्मा को प्राप्त होते हैं, इससे टीकाकार यह अभिप्राय निकालते हैं कि एक ही बात के पुनः कहने से प्रथम कथन मूर्तिपूजकों के लिए आया है और द्वितीय कथन अव्यक्त उपासकों के लिए। परंतु ऐसा नहीं है। एक तो दोनों शब्दों में अंतर है। एक है 'युक्ततमा' और दूसरा है 'प्राप्नुवन्ति मामेव'। दोनों पदों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं। यदि तीनों श्लोकों के अर्थ इकट्ठे किए जाएँ तो सब बात स्पष्ट हो जाती है।

श्लोक १२—२ में व्यक्त रूप का उल्लेख नहीं आया। उसमें केवल यह लिखा है कि जो परमात्मा में मन को एकाग्र करके नित्य उससे युक्त होते रहते हैं और श्रद्धा रखते हैं, वे श्रेष्ठ योगी हैं। परंतु जो इंद्रियों को वश में कर समबुद्धि होकर कूटस्थ, अचल और ध्रुव तथा अक्षर एवं अव्यक्त परमात्मा की उपासना करते हैं वे ही परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

तीनों श्लोक एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि इनके वे अर्थ न लेकर इनको पृथक्-पृथक् करके अर्थ करें तो इसके ये अर्थ निकलेंगे कि शंख, चक्र, गदायुक्त स्वरूप के उपासकों के लिए इंद्रिय संयम की तथा समबुद्धि होने की आवश्यकता नहीं। न ही उस व्यक्ति के लिए सबके कल्याण में रत (सर्वभूतहिते रताः) होने की आवश्यकता है। इन श्लोकों के अर्थ पृथक्-पृथक् करने से यह प्रकट होगा कि इंद्रियों का संयम, समबुद्धि होने पर सबके हित में रत होने की आवश्यकता केवल अक्षर, अव्यक्त, कूटस्थ, अचल और ध्रुव स्वरूप की उपासना करनेवालों के लिए है। यह बात अचिन्त्य है। कोई भी विद्वान् इसे मान नहीं सकता कि शंख, चक्र, गदायुक्त रूप की उपासना करनेवाले के लिए भोग-विलास और मार-काट इत्यादि की असीम छूट है।

इस प्रकार के अर्थ करने से भगवान् की बात (७—२४) कि व्यक्त रूप में परमात्मा को माननेवाले मूर्ख हैं, असिद्ध हो जाएगी। यह बात सत्य है कि श्लोक १२—२ में 'मय्यावेश्य मनो ये मां' के अर्थ हैं कि जो परमात्मा में एकाग्र चित्त होकर उसमें चित्त लगाकर नित्य परमात्मा से युक्त होते हैं, श्रद्धा से उपासना करते हैं और फिर संयमेन्द्रिय होकर, समबुद्धि होकर तथा सब प्राणियों के हित में रत रहकर परमात्मा की उपासना करते हैं, वे ही परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

पूर्व के प्रश्नों की भाँति यह प्रश्न भी भगवान् के पहले कहे हुए कथन के विपरीत ही था। इस कारण श्रीकृष्ण ने बात स्पष्ट करने का यत्न किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कृष्ण का कहना है कि जो भक्तजन मन को एकाग्र कर नित्य योगयुक्त हो परम श्रद्धा से परमात्मा की उपासना करते हैं, वे युक्तात्मा इंद्रियों का दमन करते हुए, समबुद्धि हो सब भूतों के हित में रत श्रेष्ठ योगी हैं और परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

श्लोक १२—४ में शब्द 'एवं' के अर्थ 'ही' हैं। अर्थ है कि परमात्मा को ही पाते हैं। इसके अर्थ 'भी' नहीं कि ये भी परमात्मा को पाते हैं और वे भी परमात्मा को पाते हैं। यहाँ अपि शब्द नहीं है। 'तु' शब्द श्लोक १२—३ में आया है। इसका अर्थ है कि ऐसा करनेवाले और उसके साथ वैसा करनेवाले परमात्मा को प्राप्त होते हैं। 'तु' के अर्थ 'और' के हैं। यहाँ 'तु' के अर्थ 'किंतु' नहीं।

यदि व्यक्त और अव्यक्त दोनों की उपासना का एक ही फल होता तो जैसे श्लोक १२—३ में अव्यक्त का स्वरूप व्याख्या सहित लिखा है तो श्लोक १२—२ में व्यक्त रूप की व्याख्या भी लिखी गई होती। ऐसी कोई व्याख्या न होने से एक ही स्वरूप की उपासना का वर्णन है। इन श्लोकों में एक भी अक्षर ऐसा नहीं, जिससे यह पता चले कि व्यक्त रूप की भी उपासना करने की बात लिखी है जो अव्यक्त के अतिरिक्त कोई और है।

यह ठीक है परमात्मा से युक्त होने की प्रक्रिया को कठिन लिखा है। परमात्मा की उपासना अति क्लेश अर्थात् परिश्रम से सिद्ध होनेवाली है।[1]

'देहवद्‌भिः' का अर्थ है, वे लोग जो शारीरिक सुखों के पीछे भागते रहते हैं। अर्थात् सुखों की इच्छावालों के लिए उपासना फलदायक नहीं होती, परंतु यह नहीं लिखा कि अव्यक्त की उपासना की कठिनाई के कारण किसी व्यक्त रूप की उपासना प्रारंभ कर दी जाए। यदि भगवान् का यह आशय होता कि अव्यक्त की उपासना की कठिनाइयों से बचने के लिए व्यक्त रूप की उपासना कर लेनी चाहिए और उससे भी वही फल होता है तो इस श्लोक के उपरांत ऐसा लिख दिया जाता। इसके विपरीत लिखा है कि इस कठिनाई को दूर करने के क्या उपाय हैं।

जो परमात्मा-परायण हो अपने संपूर्ण कर्मों को परमात्मा के अर्पण कर परमेश्वर को ही अनन्य ध्यानयोग से उपासते हैं, परमात्मा में चित्त लगानेवाले ऐसे भक्तों को परमात्मा शीघ्र मोक्ष प्रदान करता है।[2]

---

१. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्‌भिरवाप्यते॥
—भ० गी०, १२—५

२. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
—भ० गी०, १२—६, ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कुछ टीकाकार इस अध्याय में कहीं-कहीं 'मयि' के अर्थ करते हैं मेरे सगुण शरीर में और 'माम्' के अर्थ करते हैं मेरे सगुण शरीर को। किन्तु इस अध्याय में भी मयि, माम् इत्यादि शब्द उन अर्थों में ही आए हैं जिनमें ये संपूर्ण गीता में आए हैं। अर्थात् वे शब्द परमात्मा के अर्थवाचक हैं; परंतु सगुण रूप की कल्पना इन श्लोकों से नहीं निकलती। न ही यह गीता के अन्य स्थानों पर वर्णित मत से मेल खाती है। सगुण रूप तो व्यक्त प्रकृति का ही हो सकता है। एक तो प्रकृति और पुरुष को अनादि काल से भिन्न-भिन्न माना है और प्रकृति की उपासना का उल्लेख कहीं नहीं। यदि यह कहा जाए कि प्रकृति की उपासना से मतलब नहीं, सगुण रूप की उपासना से अभिप्राय है, उस रूप में रहनेवाले परमात्मा की उपासना से है तो इस पर हमारा प्रश्न है—फिर परमात्मा को निर्गुण, सगुण किसलिए कहा जाता है? परमात्मा सब चर और अचर में विद्यमान है। वह रूपवान् और कुरूपवान् सबमें विद्यमान है। इससे वे रूप किसलिए पूज्य हो गए? परमात्मा अव्यक्त है अर्थात् इंद्रियगोचर नहीं। अतः किसी व्यक्त अर्थात् इंद्रियगोचर पदार्थ को परमात्मा मान उसकी उपासना करना मूर्खता है।

भगवान् ने कहा है कि पूजा अव्यक्त की ही करनी चाहिए। यह कठिन तो है, परंतु यदि ईश्वरपरायण होकर और सबकुछ ईश्वर के अर्पण कर उपासना की जाएगी तो यह सुगम हो जाएगी। इस स्थान पर यह नहीं लिखा कि भक्ति सगुण के अर्पण करनी चाहिए।

श्लोक १२—६, ७ के इकट्ठे पाठ करने से उनके अर्थ और भी स्पष्ट हो जाते हैं। उनमें कहा गया है कि परमात्मा परायण हो, संपूर्ण कर्मों को परमात्मा के अर्पण कर परमात्मा में अनन्य भाव में ध्यान लगा उपासना करने से परमात्मा शीघ्र ही संसार सागर से उद्धार कर देते हैं। यहाँ सगुण रूप अथवा व्यक्त रूप का उल्लेख नहीं है।

गीता में कहा गया है कि दृढ़ व्रतवाले निरंतर परमात्मा की कीर्ति अर्थात् गुणों का चिंतन करते हुए और परमात्मा को पाने के लिए यत्न करते हुए परमात्मा को प्रणाम करते हैं, परमात्मा के ध्यान में लीन परमात्मा को पा जाते हैं।[१]

इसी स्थान पर लिखा है कि स्त्री, शूद्र, वैश्य और पाप योनियोंवाले (जो पूर्वजन्म के पापकर्मों के फलस्वरूप जन्म से अपाहिज इत्यादि हैं), ये सब भी परमात्मा की शरण में आ जाने से परमगति (मोक्ष) को पा जाते हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण तथा राजर्षि इत्यादि भी इस क्षणभंगुर शरीर को प्राप्त हो, परमात्मा का आश्रय पा, उस (परमात्मा) की भक्ति करते हुए और परमात्मा में चित्त

---

१. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

—भ० गी०, ९—१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लगाते हुए मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।[1]

२—६१ में यह भी कहा है कि परमात्मापरायण चित्तवाला ही स्थितप्रज्ञ कहा जा सकता है। तथा यह भी कहा है कि चित्त से सब कर्म परमात्मा के अर्पण कर परमात्मा के परायण में चित्त लगा बुद्धियोग (समबुद्धि) से निरंतर परमात्मा में चित्त लगानेवाला बन जा। तब तू परमात्मा की कृपा से सब कठिनाइयों को पार कर लेगा। अहंकार से रहित होकर रह, नहीं तो नष्ट हो जाएगा।[2]

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने सब स्थानों पर परमात्मा में चित्त लगाकर उसकी भक्ति करने के लिए कहा है और कहीं भी परमात्मा के सगुण स्वरूप का वर्णन नहीं और न ही इस बात का वर्णन है कि परमात्मा की भक्ति की कठिनाई में सगुण रूप में उपासना सहायक होगी। श्लोक (१२—२) में भी ऐसा नहीं है। वहाँ पर स्पष्ट रूप में सगुण की कल्पना नहीं। अर्जुन के केवल एक अयुक्त प्रश्न करने से कल्पना करनी उचित नहीं।

वास्तव में, यदि ध्यान से देखा जाए तो दोनों विराट् स्वरूप परमात्मा के वास्तविक स्वरूप हैं ही नहीं। वह या तो महर्षि व्यास ने एक साहित्यिक अलंकार बाँधा था; वह भी इस बात को प्रकट करने के लिए कि दुष्ट लोग परमात्मा की ओर से पहले ही मारे गए होते हैं, उनको मारनेवाला निमित्तमात्र होता है। अथवा यह भी संभव है कि कृष्ण ने अपनी योगशक्ति से परमात्मा की महिमा बखान करने के लिए एक ऐसा स्वरूप दिखाया हो जो अर्जुन के भययुक्त मन को आश्वस्त कर सके।

इस सब विवेचना के साथ यदि गीता के इस प्रवचन को पढ़ लिया जाए तो हमारी बात का पूर्ण रूप से समर्थन हो जाएगा।

गीता में कहा गया है कि परमात्मा जो सब प्राणियों का महेश्वर है, को न जानने-वाले मूर्ख लोग शरीर धारण करनेवाला मानते हैं।[3]

---

१. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्तत्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

—भ० गी०, ९—३२, ३३, ३४

२. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥

—भ० गी०, १८—५७, ५८

३. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

—भ० गी०, ९—११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन के इस प्रश्न को कि विराट् पुरुष की उपासना करनेवाला श्रेष्ठ है अथवा अव्यक्त परमात्मा की उपासना करनेवाला, भगवान् ने व्यर्थ समझकर उसके विषय में कुछ कहा ही नहीं। इस पर भी यथार्थ वस्तुस्थिति का वर्णन कर दिया। कदाचित् भगवान् कृष्ण उस विराट् पुरुष की महिमा को, जिससे उन्होंने अर्जुन के भयभीत मन में साहस बँधाया था, कम नहीं करना चाहते थे। फिर भी वे अन्यथा बात नहीं कह सके। यह तो स्वामी शंकराचार्य जैसे टीकाकारों का अपने पूर्वग्रहों का परिणाम ही है कि वे प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न को लेकर यह समझने लगे हैं कि ऐसा भगवान् ने कहा ही होगा, जिससे यह प्रश्न उठता है।

जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं कि ज्ञान और कर्म का विरोध कहीं कहा नहीं गया और जब अर्जुन ने इस विरोध का कारण पूछा तो स्वामी शंकर यह युक्ति करने लगे कि ऐसी अनिश्चित बात भगवान् ने अवश्य कही होगी। अतः वे गीता में ढूँढ़ने लगे कि कहाँ कही है। यही बात यहाँ प्रतीत होती है। अर्जुन को भगवान् ने अपनी योगशक्ति से एक ऐसा विराट् स्वरूप दिखाया था, जिससे उसके मन पर परमात्मा की असीम शक्ति का किसी प्रकार का चित्र बन जाए। तब अर्जुन ने एक ऐसा प्रश्न पूछ लिया, जो किसी प्रकार उठता ही नहीं। अतः कृष्ण ने उसका उत्तर दिए बिना यथार्थ बात बता दी।

गीता के बारहवें अध्याय में सर्वत्र यही कहा है कि परमात्मा में चित्त लगाने से मनुष्य परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

इसके साथ यह कह दिया कि यदि तू परमात्मा में बुद्धि को लगाकर परमात्मा में स्थित नहीं हो सकता अर्थात् तू परमात्मा में मन को स्थिर नहीं कर सकता तो योगाभ्यास से परमात्मा को प्राप्त करने का यत्न कर और यदि इस अभ्यास को भी करने में असमर्थ हैं तो परमात्मा के निमित्त कर्म करनेवाला और परमात्मा ही सब कर रहा है ऐसा मानने वाला होजा। तब भी तू सिद्धि को प्राप्त कर लेगा। इसका अभिप्राय यह है कि यदि अव्यक्त स्वरूप परमात्मा की उपासना करने अथवा योगाभ्यास से मन और बुद्धि को परमात्मा में लगाने में असमर्थ है तो निष्काम भाव से कर्म कर। उससे भी तू, हे अर्जुन! मोक्ष पा जाएगा।[१]

---

१. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

—भ० गी०, १२-८, ९, १०, ११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इस स्थान पर यह लिखा है कि अव्यक्त परमात्मा में चित्त लगाना कठिन और कष्टप्रद है; परंतु इस कष्ट को पार करने के लिए योग का अभ्यास और यदि वह भी न हो सके तो निष्काम भाव से कर्म करे। यहाँ अथवा गीता में कहीं भी यह नहीं लिखा कि इस कठिनाई को पार करने के लिए किसी व्यक्त पदार्थ को सामने रखकर पूजन कर ले।

परमात्मा की उपासना में कठिनाई का वर्णन करते हुए भगवान् ने अपने आशय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा—अभ्यास से ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी कर्मफल का त्याग अच्छा है। इससे तुरंत चित्त को शांति प्राप्त होती है।[1]

यहाँ अभ्यास से अभिप्राय निरंतर उपासना करने से है। अभ्यास से उपासना का अर्थ है विचार किए मंत्र, जप अथवा अन्य उपासना की क्रियाएँ नियम से करते जाना। यही अभ्यास है। ज्ञान का अर्थ है बुद्धि से विचार करना। उपासना करते समय सोच-विचार करना कि किसकी उपासना की जा रही है? वह क्या है? कहाँ है और कैसा है? इस प्रकार बुद्धि से विचार कर उपासना करने को ज्ञानयुक्त उपासना कहते हैं। ज्ञान से ध्यान अधिक श्रेष्ठ है। और योग के आठ अंगों में समाधि से पूर्व का अंग ध्यान है। यह बुद्धि से विचार कर उपासना करने से श्रेष्ठ है। ध्यान से भी निष्काम भाव से अर्थात् कर्मफल की कामना के बिना कर्म करना श्रेष्ठ है। उपासना भी एक कर्म है।

और भी कहा है। सब प्राणियों में द्वेषरहित होकर, बिना स्वार्थ के, मित्रता और दया का भाव रखता हुआ निर्मम और निरहंकार होकर सुख-दुःख में समभाव रखनेवाला और क्षमा का भाव रखनेवाला, नित्य योग में संलग्न, हानि-लाभ में संतुष्ट, मन और इंद्रियों पर नियंत्रण रखनेवाला, दृढ़ निश्चयवाला अर्थात् व्यवसायात्मक बुद्धि रखनेवाला, परमात्मा में मन और बुद्धि से अर्पण किए हुए परमात्मा का भक्त ही उसे प्रिय है।[2]

इन सब उपायों को बताते हुए कहीं भी यह नहीं लिखा कि उपासना में कठिनाई को पार करने के लिए व्यक्त पुरुष की उपासना द्वारा ध्यान को लगाए।

इससे स्पष्ट होता है कि अर्जुन द्वारा उठाए गए प्रश्न न तो कृष्ण के मत को प्रकट करते हैं, न ही उनसे यह प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण ने कहीं भूल से भी वैसा मत प्रकट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बातों-ही-बातों में कहीं भी संदेह उत्पन्न हुआ तो कृष्ण

---

१. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

—भ० गी०, १२—१२

२. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

—भ० गी० १२—१३, १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ने उसका निवारण कर दिया।

मूल समस्या यही थी कि अर्जुन को युद्ध करने के लिए तैयार करना है और उसके लिए ही गीता का प्रवचन हो रहा था। अर्जुन के मन में यह अंकित करने के लिए कि उसके विपक्षी अधर्म का पक्ष लिये हुए हैं, और वे परमात्मा के हाथ से पहले ही मरे हुए हैं, श्रीकृष्ण ने विराट् रूप दिखाया था। उस रूप में यह दर्शाया गया था कि भीष्म, द्रोण इत्यादि तो भगवान् की डाढ़ों से पहले ही चबाए जा रहे हैं। तब ही अर्जुन का यह प्रश्न था कि क्या इस रूप की उपासना करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है? क्या इस रूप की उपासना करनेवाला परमात्मा को अधिक प्रिय है अथवा परमात्मा के अव्यक्त भाव की उपासना करनेवाला?

यह एक असंबद्ध प्रश्न था और श्रीकृष्ण ने उसका भी वैसे ही उत्तर दिया है। गीता के बारहवें अध्याय में इस प्रश्न का उत्तर है। और पूर्ण अध्याय में व्यक्त रूप की पूजा के विषय में एक भी शब्द नहीं। केवल श्लोक १२—२ में कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् व्यक्त रूप परमात्मा की उपासना का समर्थन कर रहे हैं। परंतु यदि तनिक ध्यान से देखा जाए तो पता चलेगा कि ऐसा नहीं है। इस श्लोक में भी उस स्वरूप का स्पष्ट वर्णन नहीं जिसके विषय में अर्जुन ने पूछा था। कृष्ण ने कहा कि परमात्मा में ध्यान लगाकर नित्य उसमें युक्त होनेवाला और श्रद्धा से परमात्मा की उपासना करनेवाला परमात्मा को प्रिय है। इसके साथ ही अगले श्लोक में कह दिया कि इंद्रियों को संयम में रखकर अक्षर, अव्यक्त, हृदय की गुहा में अचल रहनेवाले परमात्मा की उपासना करनी चाहिए।

इस प्रकार कहने से यही सिद्ध होता है कि उस विराट् रूप की उपासना का उल्लेख नहीं है। अयुक्त प्रश्न पूछे जाने पर वैसा उत्तर निकालने लग जाना किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं है।

गीता में मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं वरन् खण्डन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Central Library
168304
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

अष्टम परिच्छेद

# ज्ञान और कर्म

साधारण सांसारिक व्यवहार में ज्ञान और कर्म साथ-साथ चलते हैं। छोटे-से-छोटे कर्म से लेकर बड़े-से-बड़े सांसारिक कर्म तक बिना उचित ज्ञान के सम्पन्न नहीं हो सकते। यदि बढ़ई को एक चौकी भी बनानी होती है अथवा इससे भी घटिया कार्य करनेवाले मजदूर को सड़क कूटनी होती है, तो भी उसके काम में कुछ-न-कुछ ज्ञान की आवश्यकता रहती है। राज्य-कार्य अथवा शास्त्र-विवेचना जैसे जटिल कार्य में तो ज्ञान अनिवार्य हो जाता है। अतः इस पृथ्वी पर विचरते हुए जब कर्म के बिना कोई प्राणी रह नहीं सकता तो कर्म करने के लिए ज्ञान अत्यावश्यक है।

गीता में कहा है कि कोई भी मनुष्य एक क्षण के लिए भी बिना कर्म के नहीं रह सकता। अतएव सब मनुष्य अपने स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार कर्म करते हैं। यह बात निर्विवाद है कि इस मर्त्यलोक में कर्म करने ही पड़ते हैं। साथ ही कर्म करने के लिए ज्ञान का आश्रय लेना ही पड़ता है।

गीता शास्त्र का प्रयोजन कर्म-मीमांसा का प्रतिपादन है, अर्थात् वह बताना है कि कर्म करने से ही परम सिद्धि की प्राप्ति होती है। यह सब मानते हैं और नित्य देखते हैं कि सांसारिक सिद्धि ज्ञान और कर्म के समन्वय से होती है। गीता की विशेषता यह है कि मोक्ष की प्राप्ति में भी यहाँ कर्म और ज्ञान में समन्वय ही साधन माना है। गीता निवृत्ति मार्ग दिखानेवाला ग्रंथ नहीं।

अर्जुन से कहा गया है कि कर्म करना तेरा अधिकार है, तू फल की इच्छा न कर। वहाँ यह नहीं कहा कि इससे तुझको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

श्लोक २—४७ में कहा है—

**"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्मफल हेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।"**

जिसके विषय में उक्त बात कही गई है, इस श्लोक का अर्थ है कर्म न करने में अप्रीति न कर अर्थात् कर्म कर। कर्म करना तेरा अधिकार है। फल में तेरा अधिकार नहीं।

इसमें से यह अर्थ नहीं निकलते कि कर्म करने से मोक्ष नहीं मिलेगा। केवल यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नहीं, इस श्लोक के उपरांत किसी भी श्लोक में यह नहीं लिखा कि कर्म करने से मोक्ष में बाधा पड़ेगी। साथ ही आगे चलकर कहा है कि योग में स्थित होकर कर्म करने का अभिप्राय है कि संग का त्याग करना (२—४८)। संग त्यागने का अर्थ अर्थात् योग में स्थित होने का अभिप्राय भी कहा है। सिद्धि-असिद्धि में समत्व बुद्धि को रखना अर्थात् कामनारहित होकर कर्म करना ही समत्व बुद्धि तथा योग है।

फिर आगे चलकर (२—४९ में) कहा है कि योगयुक्त बुद्धि से किए कर्म से साधारण कर्म, जो फल के हेतु से किए जाते हैं, बहुत तुच्छ हैं, अर्थात् समत्व बुद्धि से किए कर्म अति श्रेष्ठ हैं।

इसके आगे (२—५०) कहा है कि योगयुक्त बुद्धि से किए कर्म से मनुष्य पाप-पुण्य का भागी नहीं होता। (जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते) इस कारण योग (समत्व बुद्धि) से (युज्यस्व) कर्म कर। कर्म में कुशलता ही योग है।

इन सब श्लोकों में योगयुक्त बुद्धि से कर्म करने के लिए कहा गया है। इतना कहकर अगले श्लोक में कह दिया है कि ज्ञानीजन योग बुद्धि से किए गए कर्म से मिलनेवाले फल को त्यागकर जन्म-बंधन से विमुक्त हो निर्दोष अमृतमय परम पद को प्राप्त होते हैं।[१]

इन श्लोकों में कर्म को कामनारहित होकर अर्थात् संग के त्याग से, फल की इच्छा छोड़कर करने को कहा है। इसी को योग-युक्त होकर कर्म करना कहा है और अंत में जाकर (२—५१) ऐसे कर्म का फल जन्म-बंधन से मुक्त होकर परम पद (मोक्षावस्था) का पाना कहा गया है।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि हे पार्थ, यह दृष्टिकोण सांख्य में वर्णन किया है और तू इसको (अब) योग के विचार से सुन। इस बुद्धि से तू कर्म बंधन से मुक्त होगा।[२]

सांख्य में क्या कहा है? सांख्य दर्शनशास्त्र का ग्रंथ है। इसमें आत्मा और प्रकृति के विषय में विवेचना की गई है। सांख्य दर्शन में शरीर को प्रकृति का व्यक्त रूप माना है और आत्मा को शरीर से पृथक् तत्त्व स्वीकार किया गया है। शरीर के नाश होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता है। वह अमर, अक्षर, अनादि है। इस कारण धर्मयुद्ध में हत्या से डरने की बात नहीं है। कारण यह कि हत्या शरीर की होती है, जो पहले ही जीवित नहीं है, जो जीवित तत्त्व है, वह तो मरता ही नहीं।

यह है सांख्य और भगवान् कहते हैं कि उन्होंने अभी तक (श्लोक संख्या

---

१. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

—भ० गी०, २—५१

२. एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

—गी०, २—३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



२—११ से लेकर ३—३८ तक) अर्जुन को इस (सांख्य के) दृष्टिकोण से बताया है। उस विचार से युद्ध करते हुए हत्या करने पर भी किसी प्रकार का पाप नहीं है। अब इसी बात को (इमाम्) तू योगबुद्धि के दृष्टिकोण से सुन।

यह है इस श्लोक का अभिप्राय। यह कर्म और ज्ञान का झगड़ा नहीं। यह एक ही विषय को दो प्रकार से वर्णन करने का प्रयत्न है।

जैसे कोई पिता अपने पुत्र को विवाह करने के लिए एक से अधिक ढंग से समझाता है। पिता पुत्र को कह सकता है—'हे पुत्र! जीवन-भर वासना से रहित रहना कठिन है। इस कारण तुम्हें एक पत्नी की आवश्यकता है। अतः विवाह कर लो।'

फिर पिता कह सकता है, 'देखो बेटा! संतान उत्पन्न करना न केवल तुम्हारे अपने लिए, विशेष रूप में वृद्धावस्था के लिए, हितकर है, वरन् समाज के लिए भी हितकर है। इस कारण विवाह कर लो।'

पिता एक अन्य ढंग से भी समझा सकता है। वह कह सकता है, 'बेटा! घर-गृहस्थी स्वसुख साधन हैं। मनुष्य दिन-भर काम कर घर आता है और गृहिणी उसके लिए भोजन, जल, वस्त्र तथा अन्य सुख-सुविधा के सामान तैयार रखती है। यही जीवन का सुख है। इस कारण विवाह कर लो।'

ठीक इसी प्रकार की बात कृष्ण ने की थी। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि इस युद्ध की समस्या को एक तो सांख्य में वर्णित सिद्धांत से समझाया जा सकता है। उस ढंग से विचार किया जाए तो युद्ध करने में कोई हानि नहीं। दूसरा ढंग, इसी समस्या को सुलझाने का, योगयुक्त बुद्धि से कर्म-मीमांसा है।

हम समझते हैं कि उद्देश्य एक ही है। दोनों में अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा देना ही उद्देश्य था। दोनों में कर्म (युद्ध) करने की बात है। युद्ध-कर्म ही तो गीता का मुख्य उद्देश्य था।

इसी प्रकार २—५६ में और २—५७ में भी बुद्धि की स्थिरता के विषय में लिखा है कि (स्पृहा) मोह न करता हुआ राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं जिसके और जो दुःख में दुखी नहीं होता और सुख से मोह नहीं करता और जो शुभ-अशुभ में प्रसन्न अथवा रुष्ट नहीं होता, वह स्थितप्रज्ञ है।

यही बात २—५० में कही है। जो सुकृत तथा दुष्कृत को बुद्धियोग से त्याग देता है, वह योगयुक्त हो जाता है। शब्द हैं 'जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'। इसका अर्थ है कि जो योगयुक्त बुद्धि से भले और बुरे कार्यों को त्याग देता है अर्थात् उनका पार पा जाता है। अभिप्राय यह है कि कर्म के कौशल से सुकृत और दुष्कृत में से अपना मार्ग निकाल ले, वह योगयुक्त बुद्धिवाला कहलाता है। सुकृत और दुष्कृत में विचार कर कर्म करता है।

कामनाओं (कर्मफल की इच्छाओं) को छोड़ने को बार-बार कहा है। सुख-दुःख में, सफलता-असफलता में, मोह, राग छोड़कर कर्म के विषय में विचार करने पर बुद्धि स्थिर होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अर्जुन का एक प्रश्न यह था—'हे कृष्ण ! यदि कर्मों से बुद्धि श्रेष्ठ है तो फिर मुझे युद्ध जैसा भयंकर कार्य करने के लिए क्यों कहते हो ? मिले-जुले वाक्यों से मेरी बुद्धि को किसलिए भ्रम में डाल रहे हो ? एक निश्चित बात कहकर मेरा कल्याण करो।'[१]

कृष्ण ने अर्जुन की बात को स्वीकार न कर कहा कि उसने कोई ऐसी बात नहीं कही है जिससे कर्म और ज्ञान का विरोध प्रकट होता है।

कृष्ण ने कहा कि इस संसार में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारा सांख्य शास्त्र के आधार पर समस्या को सुलझाने की है और दूसरी विचारधारा है कामनारहित आधार पर कर्म के विषय में जानने की।[२]

श्रीकृष्ण का मत स्पष्ट है। वे कहते हैं कि किसी भी विषय में, ज्ञान के आधार पर अथवा कर्म के आधार पर बात करो, परिणाम एक ही होगा।

भगवान् कहते हैं कि कर्म के न करने से नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं हो सकता। न ही कर्मों के त्यागने से सिद्धि तथा समावस्था (परमात्मा से योग) प्राप्त होती है।[३]

यह निश्चित मत है कि न तो सांसारिक व्यवहार बिना सत्य ज्ञान के सिद्ध हो सकता है, न ही परमार्थ बिना सत्य ज्ञान के सिद्ध हो सकता है। फिर भी कर्म तो करना ही पड़ता है।

स्वामी शंकराचार्य ऐसा नहीं मानते। वे गीता के तीसरे अध्याय के भाष्य के आरंभ में लिखते हैं कि मोक्ष अकर्म है। इस कारण मुमुक्षु के लिए कर्म व्यर्थ है।

स्वामीजी प्रश्न उठाते हैं कि प्रत्यवाय को दूर करने के लिए नित्य कर्म भी करने चाहिए अथवा नहीं ? और स्वयं ही उसका उत्तर देते हैं कि संन्यासी के लिए यह भी नहीं।[४]

---

१. ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

—भ० गी०, ३—१, २

२. लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

—भ० गी०, ३—३

३. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

—भ० गी०, ३—४

४. मोक्षस्य च अकार्यत्वाद् मुमुक्षोः कर्मानर्थक्यम्।
नित्यानि प्रत्यवायपरिहारार्थम् अनुष्ठेयानि इति चेत्॥
न, असंन्यासिविषयत्वात् प्रत्यवायप्राप्तेः,
न हि अग्निकार्याद्यकरणात्
संन्यासिनः प्रत्यवायः कल्पयितुं शक्यो यथा ब्रह्मचारिणाम्
असंन्यासिनाम् अपि कर्मिणम्।

—गीता, शांकरभाष्य, तृतीय अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह कथन गीता के भाव के सर्वथा विपरीत है। वहाँ यह कहा है कि नैष्कर्म्य भी कर्म के बिना प्राप्त नहीं होता।

इसी संदर्भ में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन, अनासक्त हुआ निरंतर कर्म करता जा। अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ भी परम पद को प्राप्त करता है।[१]

अतः हमारा कहना है कि ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं है। ये एक-दूसरे के पूरक हैं। गीता का ऐसा ही मत है।

भगवान् गीता में कहते हैं कि मुझे (कृष्ण को) तीनों कालों (भूत, भविष्य और वर्तमान) में कुछ भी कर्तव्य (करने योग्य) नहीं। न ही मुझे कुछ अप्राप्य है। फिर भी मैं कर्म करता हूँ।

यदि मैं कर्म न करूँ तो सब लोग भ्रष्ट हो जाएँ और वर्णसंकर के जैसे कर्म करने लगें।

इस कण्डिका में हमने गीता का यह मत बताया है कि कर्म से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः जब कर्म नहीं करेगा तो ज्ञान कहाँ से आएगा?

इस प्रकार कहा गया है कि जैसे लकड़ी अग्नि में भस्म हो जाती है, वैसे ही सब कर्म ज्ञान में भस्म हो जाते हैं। लकड़ी ही अग्नि पैदा करती है और अग्नि उस लकड़ी को ही भस्म कर देती है। यदि अग्नि में और अधिक लकड़ी झोंकी न जाए तो अग्नि भी जलती नहीं रह सकती।

गीता में कहीं भी कर्म-त्याग की बात नहीं कही। जहाँ-जहाँ भी कर्म-निःशेष की बात आई है वहाँ केवल यह अभिप्राय है कि कर्मफल निःशेष हो जाते हैं। कर्मफल निःशेष होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

## संन्यास, कर्म और ज्ञान

गीता के चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने कहा है कि योग द्वारा कर्मों का संन्यास कर दिया है जिसने और ज्ञान से जिसके संशय निवृत्त हो गए हैं, वह आत्मवान् व्यक्ति कर्म से नहीं बँधता।[२]

कर्मों में बँधने का नाम जन्म-मरण का बंधन है। अतः इस श्लोक का अर्थ यह

---

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

—भ० गी०, ३—१९

१. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥

—भ० गी०, ४—४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


बनता है कि योग द्वारा जिसने कर्मों से छुटकारा पा लिया है और ज्ञान से संशय छिन्न-भिन्न कर लिये हैं, वह कर्म-बंधन से अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होता है।

कर्म करने से कर्म के संस्कार मनुष्य के मन पर बन जाते हैं। उन संस्कारों के अधीन मनुष्य फल भोगता है। फल भोगना भी कर्म हो जाता है। वे कर्म अपने नवीन संस्कार मन पर बना देते हैं और पुनः वे फल देते हैं। इस प्रकार एक चक्कर चल पड़ता है, जिसमें फँसा हुआ जीव जन्म-मरण के चक्कर में चलता रहता है।

यदि मनुष्य फल की कामना को छोड़ दे तो कर्म मन पर संस्कार नहीं डाल सकते और जब कर्मों के संस्कार निःशेष हो जाते हैं तो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसको बंधनमुक्त होना कहा जाता है।

इस श्लोक में योग के द्वारा कर्मों से छुटकारा पाने की बात कही है। योग है समत्व बुद्धि अथवा कर्म करने में कुशलता। समत्व बुद्धि का अर्थ है, सुख-दुःख, हानि-लाभ में चित्त की स्थिति को एक समान रखना। यह तब ही संभव है जब कर्म करते समय कर्मफल की इच्छा अर्थात् कामना न की जाए। कर्मों में कुशलता का भी अभिप्राय यह है कि कर्म करते हुए भी मनुष्य इनसे अलिप्त रहे, कर्मों से भी और कर्मों के फल से भी।

अतः योग स्वयं कर्म है। यह कर्मफल में एक प्रकार की चित्त स्थिति का नाम है। योग कर्म करने का एक ढंग है। अतः योग द्वारा कर्मों से छुटकारे का अर्थ यही बनता है कि निष्काम भाव से कर्म करना। योग द्वारा कर्मों से छुटकारा पाने को निष्काम भाव से कर्म करना कहते हैं।

इस श्लोक के पूर्वापर भावों को देखने से भी यही पता चलता है कि भगवान् ने कर्मों के त्यागने को असंभव बताकर कर्म-बंधन से मुक्त होने की बात बताई है।

भगवान् ने श्लोक ४—२३ में कहा है कि यज्ञमय व्यवहार (यज्ञायाचरतः) तथा (गतसंगस्य) मोह छोड़ने से और चित्त को ज्ञान में स्थापित करने से (ज्ञानावस्थितचेतसः) कर्म पूर्ण विनष्ट हो जाते हैं। यहाँ कर्म विनष्ट हो जाने का अर्थ यह है कि कर्म तो होते हैं, परंतु यज्ञ रूप में अर्थात् सर्वहिताय होने से वे मनुष्य को कर्मों के मोह में बाँधते नहीं।

श्लोक ४—२४ से लेकर ४—३२ तक में भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। यज्ञ का अर्थ ही कर्म है। कर्म जब सर्वहिताय हो तो यज्ञ कहलाता है। जीवन के प्रायः सब प्रकार के कर्मों को यज्ञ के रूप में किया जा सकता है। यही इन नौ श्लोकों में वर्णन किया गया है। अंत में श्लोक ४—३२ में बता दिया गया है कि ये बहुत प्रकार के यज्ञ परमात्मा के मुख से (वेद में) विस्तार में वर्णन किए गए हैं। ये सब यज्ञकर्मों से उत्पन्न (सर्वान्-कर्मजान्) होते हैं।

इसके उपरांत भगवान् कृष्ण ने ज्ञान और कर्म का संबंध बता दिया। कर्म तो मनुष्य स्वभाववश करता है, परंतु ज्ञान के बल पर वे कर्म यज्ञ के रूप में परिवर्तित किए जा सकते हैं। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इस पद का यही अर्थ है। अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सब प्रकार के कर्म ज्ञान से यज्ञ में बदले जा सकते हैं। इसी कारण द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञान का यज्ञ श्रेष्ठ बताया है।

द्रव्यमय यज्ञों से द्रव्यों का सर्वहिताय प्रयोग बताया गया है और ज्ञानमय यज्ञ में ज्ञान का सर्वहिताय प्रयोग है। इससे ज्ञान की उपलब्धि तो होती ही है, साथ ही ज्ञानदान तथा ज्ञान का सर्वहिताय प्रयोग भी होता है। जैसे कोई अन्न के क्षेत्र लगाता है, कोई वस्त्र बाँटता है। ये सब द्रव्यमय यज्ञ हैं। इन सबसे अधिक पवित्र करनेवाला ज्ञानमय यज्ञ है। कारण यह है कि ज्ञान से ही कर्मों को यज्ञ का रूप दिया जा सकता है। ज्ञान से कर्मों का अभाव नहीं हो जाता। ज्ञान कर्मों को निष्काम भाव से और यज्ञ रूप में करने का ढंग बताता है।

इससे अगले श्लोक का अभिप्राय यह है कि इतना जानकर (तद्विद्धि) अर्थात् ज्ञान की इस महिमा को जानकर ज्ञानयज्ञ करने का सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए किसी ज्ञानी के पास जाकर, उसको प्रणाम कर, उसकी सेवा कर उससे ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आगे लिखा है कि ज्ञान प्राप्त कर (यज्ज्ञात्वा) मनुष्य फिर मोह में नहीं फँसेगा। इस ज्ञान से मनुष्य सब प्राणियों को अपने में (आत्मनि) अर्थात् अपने समान देखेगा और फिर परमात्मा में भी देखेगा। स्पष्ट है कि ऐसा देखने से वह अपने कर्मों को यज्ञरूप करने लगेगा।

ज्ञान की उपलब्धि कर्मों को यज्ञ के रूप में करने के लिए ही है।

फिर श्लोक ४—३६ में लिखा है कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर तू पाप कर्म भी (यज्ञ मय ही) करेगा तो पाप के फल को पार कर जाएगा। अर्थात् उससे बच जाएगा।

यह ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ पाप करने की प्रेरणा नहीं दी। इसका यह अभिप्राय है कि युद्ध जैसा घोर पाप कर्म भी जब सर्वहिताय किया जाए तो बुरा फल नहीं देता।

इस अध्याय में यज्ञ की महिमा बताई गई है। यह भी बताया है कि संपूर्ण कर्मों को यज्ञरूप में करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इस कारण ज्ञानयज्ञ अर्थात् ज्ञान दान सर्वश्रेष्ठ कर्म है। यहाँ भी कर्म त्यागने की बातें नहीं कही गईं।

इससे अगले श्लोक (४—३७) का अर्थ हम बता चुके हैं। जैसे अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञान कर्म को भस्म कर देता है। परंतु एक तो ईंधन ही अग्नि को उत्पन्न करता है और दूसरे, ईंधन से ही अग्नि का अस्तित्व बना रहता है। इसी प्रकार कर्मों से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान का बना रहना भी कर्मों से होता है। जैसे अच्छी-बुरी सब प्रकार की लकड़ी अग्नि में जल जाती है, इसी प्रकार जब कर्म ज्ञान से यज्ञरूप में बदल जाते हैं तो अच्छे-बुरे दिखाई देनेवाले सभी कर्म एक समान भस्म हो जाते हैं, अर्थात् फल नहीं देते।

हमने बताया है कि जैसे अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए उसमें ईंधन डालते रहना चाहिए, वैसे ही ज्ञान को बनाए रखने के लिए कर्म करते रहना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इसी कारण (४—३८ में) लिखा है—जैसे कर्मों को पवित्र करनेवाली वस्तु ज्ञान से अन्य कोई नहीं। ज्ञान प्राप्त होने से, समय पाकर, अपने आप योग की सिद्धि अनुभव होने लगती है, अर्थात् समय पाकर योग की सिद्धि ज्ञान से स्वयमेव होती है।

योग की सिद्धि क्या है? समत्व बुद्धि और कर्म करने की कुशलता। ये दोनों ज्ञान से समय पाकर स्वयमेव मनुष्य में आ जाती हैं।

आगे श्लोक ४—३९ और ४—४० में बताया है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा का होना आवश्यक है।

यहाँ एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' का अभिप्राय कर्मों का संन्यास नहीं, कर्मों में कामनाओं का संन्यास है।

कामनाओं का संन्यास करने से कर्मों का अभाव होगा अथवा नहीं? यह प्रश्न उपस्थित होता है। गीता का मत स्पष्ट है कि कोई भी प्राणी एक क्षण भी कर्म किए बिना रह नहीं सकता। फिर यज्ञरूप कर्म क्यों न करे? इससे कर्मफल से छुटकारा मिल जाता है।

श्रीकृष्ण यह पहले (३—५ में) बता चुके हैं कि एक क्षण के लिए भी कोई मनुष्य कर्म के बिना नहीं रह सकता। अतः कर्म न करता हुआ भी वह कर्म कर रहा होता है। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि वह अकर्ता नहीं रह सकता, तो वह उस अकर्म के काल में भी विकर्म न करे, ऐसा विचार करने लगता है।

मनुष्य भोजन करते समय, यह समझ सकता है कि यह तो नित्य कर्म है और इसमें पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं होता। इस विचार पर जब वह किसी अन्य का भोजन चट कर जाता है, तो यहाँ विकर्म का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। अतः अकर्म के समय भी मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि कर्म तो हो ही रहा है। यदि इस समय भी वह सावधान नहीं रहेगा तो विकर्म कर बैठेगा और पाप का भागी बन जाएगा।

वास्तव में कर्म-शून्यता नहीं हो सकती। अतः कर्म के समय भी कर्म की-सी सावधानी रखनेवाला मनुष्य ही बुद्धिमान और योगी है।

गीता (४—१९) में कहा है कि जिसके कर्मों के समारंभ अर्थात् आयोजन किसी कामना की इच्छा के बिना होते हैं, उस मनुष्य के कर्म, ज्ञान की अग्नि से दग्ध हैं।[१]

ऐसा करनेवाले लोग पंडित और ज्ञानी कहे जाते हैं। यहाँ ज्ञानाग्निदग्ध से यह अभिप्राय नहीं कि कर्म किया ही नहीं गया। यदि नहीं किया गया तो दग्ध क्या हुआ? कर्म तो किया गया है, परंतु ज्ञान से वह फलरहित हुआ है। समारंभा (काम की योजनाएँ) फल प्राप्त करने की इच्छा के बिना हों। यह समझ लेना चाहिए कि योजनाओं का निष्प्रयोजन होना नहीं कहा गया। योजना का प्रयोजन होगा, तब ही वह योजना होगी।

---

१. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

—भ० गी०, ४—१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इस पर भी किसी उद्देश्य से आरंभ किया कार्य फल देगा अथवा नहीं देगा, विचार का विषय न रह जाए तब ही यह समझा जा सकता है कि काम संकल्प से रहित है। दूसरी बात जो कर्मफल को दग्ध करनेवाली है, वह है ज्ञान।

दग्ध होने का अभिप्राय यह है कि कर्म तो हुआ है, परंतु उसका फल दग्ध हो गया है। उदाहरण के रूप में लकड़ी दग्ध होती है। लकड़ी पहले है, तब ही वह दग्ध होती है। लकड़ी के दग्ध हो जाने पर लकड़ी से वह काम नहीं लिया जा सकता, जो लिया जाता था। यही बात कर्म के ज्ञान से दग्ध हो जाने की है । पहले कर्म किया जाता है, तभी तो ज्ञान उसको दग्ध कर सकता है। दग्ध होने के पश्चात् कर्म वह फल नहीं दे सकता, जो दग्ध होने से पूर्व उससे प्राप्त करने की योजना थी। अर्थात् वह उन संस्कारों को उत्पन्न नहीं करेगा, जो कर्मफल उत्पन्न करनेवाले थे।

इस श्लोक का यह अर्थ तो निकलता है कि कर्म जल जाते हैं, परंतु यह अर्थ नहीं निकलता कि ज्ञान हो जाने के उपरांत कर्म नहीं हो सकेगा अथवा कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अग्नि और लकड़ी के उदाहरण में भी, अग्नि को जलाए रखने के लिए अग्नि में लकड़ी डालते रहना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए कर्मों को करते रहना अत्यावश्यक है। भगवान् ने यह कहा भी है कि कर्म ज्ञान में समाप्त होता है।

इसी प्रकार श्लोक ४—३७ में कहा है कि जैसे जल रही अग्नि ईंधन को समाप्त कर देती है, वैसे ही सब कर्म ज्ञान की अग्नि में भस्म हो जाते हैं।[१]

भगवान् का यह स्पष्ट कथन है कि सब कर्म ज्ञान में जाकर समाप्त होते हैं, अर्थात् कर्मों से ज्ञान उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह कि प्रज्वलित होता है।[२]

जैसे प्रत्येक प्रकार की लकड़ी अग्नि को प्रज्वलित करने और जलती हुई रखने में सहयोग देती है, इसी प्रकार कर्म ज्ञान को स्थिर रखने में सहायक होता है। ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए कर्म होते रहना चाहिए।

इसका यह अभिप्राय है कि न तो कर्मों का अभाव हो सकता है, न ही होना चाहिए।

श्लोक ४—२१ का अर्थ है कि जिसका चित्त और आत्मा आशारहित (निराश) है, अर्थात् जो कर्म करते समय आशाएँ बाँधकर नहीं चलता और जिसने पूर्ण भोग सामग्री का त्याग कर दिया है, वह केवल शरीर संबंधी कर्म करता हुआ भी, पाप को प्राप्त नहीं होता।[३]

---

१. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

—भ० गी०, ४—३७

२. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

—भ० गी०, ४—३३

३. निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

—भ० गी०, ४—२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



केवल शरीर संबंधी कर्म करता हुआ भी पाप नहीं करता, यदि वह अपने सब कामों को फल की आशा से नहीं करता और भोग सामग्री का त्याग कर देता है।

इससे यह अभिप्राय भी निकलता है कि केवल शरीर के कर्म पालन करनेवाला भी पापी हो सकता है। यह पाप का भागी तब ही होगा, जब अपने नित्य कर्म दूसरों को हानि पहुँचाकर करेगा।

प्रश्न-यह उत्पन्न होता है कि क्या भोग सामग्री का त्याग कर देने पर कुछ कर्म करने की आवश्यकता रह जाती है? उत्तर है, हाँ। उदाहरण के रूप में ऐसे कर्म हैं जो भोग की इच्छा के बिना भी किए जा सकते हैं। इसी अध्याय में नौ प्रकार के यज्ञ कर्म बताए हैं। वे सब भोग की इच्छा के बिना करने के लिए हैं। उनमें ज्ञानयज्ञ एक प्रकार का यज्ञ है। ज्ञान यज्ञ का अर्थ है दूसरों को, बिना किसी प्रकार के स्वार्थ के विचार से ज्ञान देना।

अभिप्राय यह कि सब कर्म छोड़कर केवल शरीर-पालन के लिए कर्म में लीन मनुष्य पाप का भागी होगा। यदि वह पाप से बचना चाहता है तो वह बिना आशा रखे यज्ञकर्म करे।

यहाँ अकर्म रहने को पाप माना है। केवल शरीर के लिए कर्म करनेवाला मनुष्य पाप का भागी हो जाएगा। अतः उसे शरीर-पालन करनेवाले कर्मों के अतिरिक्त कर्म यज्ञ के रूप में करने चाहिए।

जो व्यक्ति प्राप्त से संतुष्ट रहता है, जो द्वंद्वों से ऊपर हो जाता है, अर्थात् जो सुख-दुःख से ऊपर हो जाता है, अथवा जो हानि-लाभ में समबुद्धि रखता है, जो ईर्ष्या से रहित और सिद्धि-असिद्धि में एक समान रहता है वह कर्म में नहीं बँधता।[1]

यहाँ अभिप्राय यह है कि कर्म करने से जो कुछ भी फल प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहे। यह नहीं कि मुख खोलकर बैठा रहे और जो कुछ मुख में आ जाए, उससे संतुष्ट हो जाए।

इसी प्रकार श्लोक संख्या ४—२४ में भी कहा है कि अपने कर्मों को परमात्मा के अर्पण करके कर्म करेगा, तभी परमात्मा के अर्पण करेगा। बिना किए कर्म को कैसे अर्पण करेगा? कर्म तो करना ही होगा। परमात्मा के लिए, और उसमें प्रयुक्त होनेवाले साधन भी परमात्मा के दिए हुए मानकर, तथा कर्म का उद्देश्य भी परमात्मा के निमित्त मानकर कर्म करना ब्रह्मयज्ञ कहाता है।

भगवान् कहते हैं कि संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस के दिलानेवाले हैं। साथ ही संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष फल का दिलानेवाला है।[2]

---

१. यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

—भ० गी०, ४—२२

२. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

—भ० गी०, ५—२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भगवान् कहते हैं कि नित्य संन्यासी वह है, जो न किसी से द्वेष करता है, न किसी से आकांक्षा करता है। संन्यासी वह है जो द्वंद्वों से रहित संसार के सुखकारक बंधनों से मुक्त हो जाता है।[१] यह भी कहा है कि कर्मयोगी के अतिरिक्त संन्यास दुःखकारक अर्थात् न करने योग्य है। बुद्धिमान लोग योगरहित कर्म कर सहज ही परमात्मा को पा लेते हैं।[२] संन्यास और कर्मयोग दोनों ही निश्रेयस (कर्मबंधन से मुक्ति) दिलानेवाले हैं।

किसी से किसी प्रकार की आकांक्षा न करना भी संन्यास है। आकांक्षा करने की स्थिति ही तब होती है जब पहले किसी का उपकार किया हो। त्याग तो किसी प्राप्त होनेवाले पदार्थ का होता है। जब तक किसी का कोई भला नहीं किया जाएगा तब तक उससे किसी प्रतिकार की आकांक्षा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

किंतु भगवान् के कथनानुसार यह कर्मयोग से घटिया है।

भगवान् कृष्ण योगयुक्त कर्म के लक्षण बताते हैं—विशुद्ध अंतःकरण, मन और इंद्रियों पर नियंत्रण, सब प्राणियों में भूतात्मा की उपस्थिति मानना, समत्व बुद्धि और कार्यकुशलता। इस प्रकार का व्यवहार करनेवाला व्यक्ति कर्मयोगी माना जाता है और वह कर्मबंधन में नहीं फँसता।[३]

ऐसा कर्मयोगी और तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति सबकुछ करता हुआ भी कुछ न कर रहा समझा जाता है। वह सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, चलता हुआ, सोया हुआ, साँस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ अथवा ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता अथवा बंद करता हुआ, सब इंद्रियों को अपने-अपने अर्थों में लगाता हुआ अर्थात् वह सबकुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता हुआ माना जाता है।

ऐसा कर्मयोगी अपने सब कर्म परमात्मा को अर्पण करता हुआ आसक्तिरहित कर्म करता है। ऐसा करता हुआ वह कमल के पत्ते की भाँति किसी पाप से लिप्त नहीं होता। ऐसा युक्त (कर्मयोगी) कर्मफल का त्याग करता हुआ शांति पाता है। परंतु अयुक्त वह है

---

१. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥

—भ० गी०, ५—३

२. सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाऽधिगच्छति॥

—भ० गी०, ५—६

३. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

—भ० गी०, ५—७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(जो कर्म से योगी नहीं) और कर्मफलों में आसक्त हो कामनाओं में बँधा हुआ रहता है।[१]

यह कर्मयोगी कैसे इस संसार में रहता है इसका भी संक्षिप्त दर्शन करा दिया गया है। भगवान् कहते हैं—मन से सब कर्मों का त्याग करनेवाला, (वशी) अंतःकरण है वश में जिसके, वह नवद्वारवाले शरीर में सुख से रहता हुआ, न कुछ करता हुआ न कराता हुआ माना जाता है।[२]

यहाँ बताया है कि किस प्रकार आसक्ति का त्याग कर मनुष्य इस शरीर से व्यवहार करता हुआ रह सकता है। आसक्ति विषय है मन का। अतः मन से कर्मों में मोह त्याग दे, तो वह किसी प्रकार के भी कर्म में लिप्त नहीं होता।

अतः भगवद्‌गीता का यह मत है कि संन्यास और कर्मयोग में अंतर केवल इतना है कि संन्यासी ने संसार का त्याग किया है और कर्मयोगी सांसारिक व्यवहार करता है। संसार के त्याग का अर्थ कर्म का अभाव नहीं है। संन्यास का अर्थ है कि मनुष्य न किसी से द्वेष करे और न ही किसी वस्तु की आकांक्षा करे। वह द्वंद्वों से भी रहित हो जाए।

वैसे तो कर्मयोगी का मन भी विशुद्ध होना चाहिए। उसे जितेन्द्रिय होना चाहिए। सब प्राणियों में परमात्मा का वास मानकर सबसे समान व्यवहार करना चाहिए। इन सब बातों के कारण ही वह कर्मों में लिप्त नहीं होता।

भगवान् कृष्ण का मत है कि कर्मयोगी सुगमता से कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि सांख्य (ज्ञान) और योग (कर्मयोग) पृथक्-पृथक् नहीं। बाल बुद्धिवाले ही इनको पृथक्-पृथक् मानते हैं। विद्वान् ऐसा नहीं मानते। एक में भली प्रकार स्थित वे, दोनों का फल अनुभव करते हैं।

जो कुछ सांख्य (ज्ञान) से प्राप्त होता है, वही योग (कर्मयोग) से प्राप्त होता है। जो

---

१. नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

—भ० गी० ५—८, ९, १०, ११,१२

२. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्तास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

—भ० गी०, ५—१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सांख्य और योग को एक समझता है वही सबकुछ समझता है।[१]

कर्मों को करते हुए भी मनुष्य कर्मों से अलिप्त रह सकता है। इस विषय में भी श्रीकृष्ण ने कहा कि परमात्मा कर्म में लिप्त नहीं होता। परमात्मा ने इस लोक की सृष्टि कर दी है, मनुष्य स्वभाव से कर्म में लग जाता है। किसी से अच्छे-बुरे कर्म परमात्मा नहीं कराता। यह तो प्राणी अज्ञान से वास्तविक स्थिति को न समझता हुआ मोहित होकर करता है।

अतः जिनके अंतःकरण का मोह, ज्ञान से नष्ट हो जाता है, उनका ज्ञान उनको वैसे ही परमात्मा का दर्शन कराता है जैसे सूर्य प्रकाश से, अन्य पदार्थों का दर्शन कराता है।

इस ज्ञान से जिसकी बुद्धि ऐसी (परमात्मा के अनुरूप) हो जाती है, जो तत्परायण (परमात्मा के परायण) तन्निष्ठ, परमात्मा में टिक जाती है, वह व्यक्ति ज्ञान द्वारा पाप से विमुक्त हो, पुनः जन्म-मरण के बंधन में नहीं आता।[२]

ज्ञान और विनय से युक्त विद्वान् व्यक्ति पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त कर लेता है। कारण यह कि परमात्मा भी तो निर्दोष है और प्राणिमात्र को एक समान समझता है। परमात्मा सब पर विजयी है, इस कारण वैसा व्यवहार रखनेवाला भी विजयी ही होगा।

ऐसी समता प्राप्त व्यक्ति पूर्ण संसार में सम्मान पाता है। समबुद्धि वह है जो प्रिय पदार्थों को प्राप्त कर हर्षित नहीं होता और जो अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता। अतः संशयरहित स्थिर बुद्धि मनुष्य परमात्मा में स्थिर हो जाता है।[३]

---

१. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डितः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं यद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

—भ० गी०, ५—४, ५

२. न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

—भ० गी०, ५—१४, १५, १६, १७

३. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ —भ० गी०, ५—१८, १९, २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ये सब कर्मयोगी के लक्षण बताए हैं। ज्ञान का परिणाम संन्यास अर्थात् संसार का परित्याग नहीं, वरन् समबुद्धि मन से कामनाओं का त्याग है। परंतु बाह्य इंद्रियों से सब व्यवहार करते रहने से और ज्ञानयुक्त बुद्धि से परमात्मा में निष्ठा और परमात्मा के परायण होकर कर्म करने से मनुष्य सुगमता से परमात्मा में स्थित हो जाता है।

मन से कर्मों के त्याग का अभिप्राय है, कामना (फल की इच्छा) से रहित होकर कर्म करना। इंद्रियों को अपने व्यवहार में बर्तने देना, परंतु कर्मफल की इच्छा न करना, यही कर्मयोग है।

अतः भगवान् कृष्ण का यह मत है कि संन्यास अर्थात् संसार-त्याग से कर्मयोग श्रेष्ठ, सुगम और शीघ्र फल देनेवाला है।

अपने भाव को और भी स्पष्ट करने के लिए भगवान् कहते हैं—

बाहर के विषयों से असक्त हो, परमात्मा से युक्त होकर आत्मा अक्षय सुख को प्राप्त करता है। इंद्रियों के विषयों के भोग (भोग-सुख) में लिप्त होने से दुःख उत्पन्न होता है। यह सुख आरंभ और अंतवाला है। अतः अंत समय होने के समय यह दुःख देता है।

जिस मनुष्य ने काम और क्रोध के वेग को जीत लिया है, वह इस शरीर के रहते भी परमात्मा से युक्त होना संभव कर लेता है।

इंद्रिय सुखों के स्थान पर आत्मा में सुख को ही वास्तविक सुख माननेवाला, अपने आत्मा में ही आनंदमग्न रहनेवाला, परमात्मा की ज्योति में लीन हो मोक्ष पद को पाता है।

इसी प्रकार कर्मयोग के लक्षण और कर्मयोग के लाभ वर्णन किये हैं। यज्ञ तपस्या से सब लोकों के महान् ईश्वर को, जो सब प्राणियों का हितचिंतक है, जानकर महान् शांति प्राप्त होती है।[१]

इस कण्डिका में हमने दो बातों को स्पष्ट करने का यत्न किया है। एक, यह कि कर्म और संन्यास का परस्पर कोई विरोध नहीं। कर्मयोग से ज्ञान का संबंध है और संन्यास से जितना कर्मयोग का संबंध है, उतना ही संन्यास का ज्ञान से है। अर्थात्

---

१. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

—भ० गी०, ५—२१, २२, २३, २४, २९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर्मयोग द्वारा ही संन्यास और ज्ञान समबद्ध हैं। यदि और स्पष्ट किया जाए तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि जब संन्यासी कर्मयोगी होगा, तब वह ज्ञान के कारण ही हो सकेगा।

संन्यासी भी कर्मयोगी हो सकता है। बिना कर्मयोगी के संन्यास अति दुस्तर है।

दूसरी बात, जिसको स्पष्ट करने का हमने यत्न किया है, वह है कि संन्यास में कर्म का अभाव नहीं। संन्यास और कर्मयोग में अंतर केवल इस बात का है कि संन्यास में संसार छोड़ा जाता है और कर्मयोग में संसार में रहते हुए भी, इंद्रियों के अपने-अपने विषयों में बर्तते हुए भी, मन से कर्मफल की कामना त्यागकर व्यवहार किया जा सकता है।

भगवान् कृष्ण का मत है कि कर्मयोग संन्यास से श्रेष्ठ है।

यहाँ संन्यास से अभिप्राय संन्यास आश्रम नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम परिच्छेद

# स्वभाव, गुण और कर्म

जब यह बता दिया गया कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि काल से चले आते हैं (१३—१९), तथा प्रकृति से मन और करण बनते हैं और इन करणों से ही कार्य होता है (१३—२०) तथा पुरुष सुख-दुःख भोगने में हेतु है, तब यह भी वहाँ बता दिया कि पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति के गुणों का भोग कर सकता है और गुणों का संग ही पुरुष के मरण-जन्म के बंधन में कारण है (१३—२१)। इसके उपरांत यह भी बताया गया कि (च-अपि-उक्तो देहे) और उक्त वर्णित देह में ही (१३—२२) इस भोक्ता पुरुष से परे (अस्मिन् पुरुषः भोक्ता परः) एक देखनेवाला, सम्मति देनेवाला, भरण-पोषण करनेवाला (उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, महेश्वर, परमात्मा इति) महेश्वर परमात्मा है।

जब इतना बता दिया तो भगवान् ने यह बताना भी उचित समझा कि प्रकृति के गुण अपने से निर्मित (इंद्रियादि) करणों से पुरुष को कर्मों में कैसे लगाते हैं।

अभिप्राय यह है कि उपद्रष्टा, अनुमन्ता इत्यादि गुणोंवाला पुरुष तो देखता है और भोक्ता प्रकृति का भोग करता है। इन दोनों पुरुषों में अंतर क्या है, यह भी बताया है।

भगवान् ने कह दिया कि कैसे प्रकृति के गुण निम्न कोटि के पुरुष को कर्म में प्रवृत्त करते हैं। यह जानना ही परम ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त करके ही मनुष्य परमात्मा के स्वरूप को समझ सकता है। उस स्वरूप को जानकर भोक्ता पुरुष (जीवात्मा) सर्ग के आरंभ में उत्पन्न नहीं होता।[1]

इस श्लोक में एक शब्द विशेष है। यह (साधर्म्यम् आगताः) मेरे धर्म में आ जाता है। यहाँ अद्वैतवादी भ्रम फैलाने के लिए इसका अर्थ करते हैं कि परमात्मा के स्वरूप में आ जाता है। यह अर्थ इस शब्द से नहीं निकलता। धर्म तो व्यवहार से संबंध रखता

---

१. परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

—भ० गी०, १४—१; २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है। अतः जीवात्मा भी परमात्मा के धर्म में चला जाता है का अभिप्राय है कि जीवात्मा भी परमात्मा का-सा व्यवहार करने लगता है।

हमने पिछले प्रकरण में लिखा है कि मुक्त जीव कुछ काम करते हैं अथवा नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। हमारे उस कथन का आधार यही और इसी प्रकार के वाक्य हैं। भगवद्गीता ने माना है कि परमात्मा के भी कुछ कर्त्तव्य (धर्म) हैं। मुक्त जीव भी वैसा ही कर्म करने लगते हैं।

मुक्त जीव परमात्मा के पूर्ण कर्म कर सकते हैं अथवा नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। इतना स्पष्ट है कि मुक्त जीव मोक्षावस्था में मृतप्राय नहीं रहते। वे कुछ करते रहते हैं और उनके कर्म परमात्मा के धर्मों के तुल्य होते हैं।

इसके उपरांत गुणों की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया है। महत्-(ब्रह्म रूपी योनि) में परमात्मा गर्भ की भाँति बीज स्थापित कर सब प्राणियों को उत्पन्न करता है, अर्थात् सब प्राणियों को उत्पन्न करने के लिए परमात्मा बीज डालने का-सा काम करता है।[१]

यहाँ एक शब्द है महद्ब्रह्म। महत् को ब्रह्म कहा है। महत् प्रकृति के परिणामों का प्रथम रूप है, यह हम सांख्य दर्शन के अनुसार वर्णन कर चुके हैं। हमने यह भी बताया है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में तीन प्रकार का ब्रह्म वर्णन किया है। उन तीन प्रकार के ब्रह्मों में एक है भोक्तृ भोग्यार्थ—भोग करनेवाले की सामग्री (श्वे० १-१२)—अर्थात् प्रकृति।

महद्ब्रह्म शब्द के प्रयोग से सिद्ध होता है कि गीता में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के अतिरिक्त अन्य के लिए आया है।

हमारा यह मत है कि भगवद्गीता में कपिल के सांख्य और ब्रह्मसूत्रों (वेदान्त दर्शन) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् का पूर्ण रूप में अनुकरण हुआ है। ब्रह्म के विषय में भी यही बात है। यह ठीक है कि ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए भी हुआ है, परंतु परमात्मा के अतिरिक्त जीवात्मा और प्रकृति के लिए भी यह शब्द आया है। पूर्वापर का विचार कर जहाँ जैसा अर्थ लगे, वैसा ही लेना चाहिए।

ब्रह्मसूत्रों के प्रणेता महर्षि व्यास भी यही मानते हैं। उपनिषदों में पुरुष आत्मा अथवा ब्रह्म शब्द के अर्थ वस्तु के गुणों की उपपत्ति से निश्चित करने चाहिएँ (विवक्षित गुणोपपत्तेश्च। ब्रह्मसूत्र १-२-२) इस सूत्र का अर्थ है, वे भिन्न-भिन्न हैं, गुणों की उपपत्ति के कारण।

---

१. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

—भ० गी०, १४—३, ४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि महद्ब्रह्म की योनि में बीज डालकर इन सब (मूर्तयः) व्यक्त पदार्थों के रूप परमात्मा रचता है। प्राणियों के शरीर और सब जड़ पदार्थ भी मूर्तियों में आ जाते हैं। यहाँ इन मूर्तियों में चेतन तत्त्व के निर्माण की बात नहीं कही।

कहा जाता है कि चेतन तत्त्व तो परमात्मा स्वयं है। इस सिद्धान्त का खण्डन हम पहले कर चुके हैं। कुछ और आगे चलकर करेंगे। यहाँ इतना ही समझने योग्य है कि (महद्ब्रह्म) ब्रह्म रूपी योनि से मूर्तियाँ ही बनीं अर्थात् शरीर और जड़ पदार्थ ही बने।

प्राणियों में जड़ पदार्थों का निर्माण हुआ। आत्मतत्त्व इस क्षेत्र से पृथक् है। यद्यपि यह क्षेत्रों में भी विद्यमान है। फिर भी वह क्षेत्र नहीं है।

इन मूर्तियों का निर्माण कैसे हुआ है? यह भी वर्णन किया है। भगवान् कहते हैं कि प्रकृति से सत्त्व, रजस्, तमस् पृथक्-पृथक् हुए। ये तीनों गुण अविनाशी हैं। ये देही की देह में (देहिनम् देहे) विद्यमान होते हैं और ये गुण ही हैं जो देह में बाँधते हैं।[1]

सांख्य दर्शन में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रकृति में सत्त्व, रजस्, तमस् गुण अपनी साम्यावस्था में होते हैं और उस अवस्था में प्रकृति शान्त सुषुप्त अवस्था में तथा अंधकारमय होती है। यह भी कहा है कि प्रकृति के वास्तविक परमाणु ये तीन गुण ही हैं और संतुलित अवस्था में प्रकृति के रूप को बनाते हैं।

परमात्मा की इच्छा से प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् का संतुलन टूटता है तो महत् का रूप बन जाता है। महत् प्रकृति का वह रूप है, जिसमें प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् संतुलन में नहीं रहते और प्रकृति के परिणाम बनने लगते हैं।

इसी महत् को गीता में ब्रह्म कहा है और इसी में परमात्मा बीजारोपण करता है। अभिप्राय यह कि महत् में भी परिवर्तन परमात्मा की प्रेरणा से ही होते हैं।

प्रकृति के अनेकानेक व्यक्त रूप बनते हैं। इन गुणों में तीन अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच तन्मात्रा तथा पंच-महाभूत बनते हैं। यह भी हम बता चुके हैं कि इनसे यह शरीर बनता है और फिर इसमें आत्मा, भोक्ता के रूप में रहता है।

उक्त श्लोक (१४—५) में लिखा है कि प्रकृति में से ही गुण निकलते हैं। इन गुणों से परमात्मा शरीर निर्माण करता है। इस शरीर के गुणों के कारण जीवात्मा बँध जाता है।

ये गुण आत्मा को बाँधते हैं अथवा जीवात्मा स्वेच्छा से बँधता है? यह प्रश्न भी अद्वैतवादियों ने व्यर्थ में खड़ा कर रखा है। उनका कहना है कि जीवात्मा तो परमात्मा

---

१. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

—भ० गी०, १४—५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का एक अंश मात्र है। परमात्मा की भाँति वह शुद्ध, पवित्र, निर्मल एवं अकर्त्ता है। वास्तव में शरीर में गुण ही गुणों में वर्तते हैं। 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' (३—२८)—इस पद से यह अभिप्राय लिया जाता है कि जीवात्मा इसमें कुछ भी नहीं करता।

शाब्दिक अर्थ तो ठीक हैं कि गुण ही गुणों में वर्तते हैं। परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इन गुणों का रस भोगनेवाला चेतन जीवात्मा नहीं। न ही इसका यह अभिप्राय है कि आत्मा यदि चाहे तो इन गुणों के प्रयोग से इंकार भी कर दे।

इसको समझने के लिए कपड़ा सीने की एक मशीन का उदाहरण लिया जा सकता है। मशीन में सुई है, धागा है, इसको घुमाने की दस्ती है, फिरकी है, जो धागे को गाँठ देती जाती है। यह मशीन के गुण हैं कि दस्ती घुमाने से सुई कपड़ों को बींधती चली जाती है। धागा आर-पार होता जाता है। फिरकी नीचे से धागे को गाँठ देती जाती है। साथ ही चक्का घुमाने से सुई एक मिनट में दो-तीन सौ बार यह सब प्रक्रिया करती है। मशीन इन गुणों से कपड़ों को सी देती है, परंतु मशीन पर कपड़ा और धागा लगाकर मनुष्य पृथक् बैठ जाए और मशीन को अपने गुणों में वर्तने दे तो अनन्त काल तक भी मशीन के गुण अपने में वर्तेंगे नहीं। मशीन गुण वाली होती हुई भी, एक भी टाँका नहीं लगाएगी। मशीन को चलानेवाला कारीगर होना चाहिए। मशीन क्या, कब और किस प्रकार सिए, इसका निर्णय भी मशीन नहीं कर सकती।

अतः मशीन गुणवान् होने पर भी न तो सी सकती है और न ही अच्छा-बुरा कपड़ा बना सकती है। इसके लिए एक चेतन पुरुष की आवश्यकता है।

इस प्रकार शरीर की इंद्रियाँ करण हैं। करण का अर्थ है औजार। औजार गुणवंत हैं। फिर भी एक गुणवान् मशीन की भाँति ये तब तक काम नहीं कर सकते, जब तक कोई चेतन शक्ति इनको काम पर लगानेवाली न हो और कुशल दर्जी की भाँति इन करणों से अच्छा काम सम्पन्न करने के लिए एक कुशल (योगयुक्त) आत्मा होना चाहिए।

अतः प्रकृति जिससे शरीर बना है, त्रिगुणात्मक होने से शरीर भी त्रिगुणात्मक है। ये गुण शरीर में ऐसे ही हैं जैसे कि कपड़ा सीने की मशीन में कपड़ा सीने के गुण विद्यमान हैं। दर्जी की भाँति मशीन के गुणों से अर्थात् शरीर के गुणों से जीवात्मा कार्य लेता है। गीता में 'गुणेषु वर्तन्त' का अर्थ यह है कि कपड़ा सीने की मशीन की भाँति शरीर इन गुणों से कार्य करता है। शरीर के कार्य में प्रकृति के गुण ही वर्तते हैं। यदि दर्जी कहे कि उसने मशीन के गुण निर्माणं किए हैं अथवा वह मशीन के गुण कार्य नहीं कर रहे तो वह मूढ़ है। यही बात जीवात्मा की है। फिर भी जीवात्मा एक मशीन पर काम करनेवाले दर्जी की भाँति शरीर से कार्य लेता है।

यह माना जाता है कि जड़ प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् को साम्यावस्था से बाहर अर्थात् पृथक्-पृथक् करने के लिए एक चेतन परमात्मा ही समर्थ है। साम्यावस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भंग होने से ही यह जगत् बनता है। जड़ पदार्थों में प्रकाश, ताप और गति भी गुणों का संतुलन टूटने से ही उत्पन्न होती है। इन गुणों को असंतुलित अवस्था अथवा कार्य में लानेवाला भी तो कोई चेतन पुरुष होना चाहिए। वह चेतन परमात्मा है। वह जड़ नहीं। कारण यह कि वह कर्म करता है और ज्ञानवान् है।

यह एक पृथक् प्रश्न है कि मनुष्य से कर्म जीवात्मा कराता है अथवा परमात्मा कराता है। इतना निर्विवाद है कि शरीर गुणवान् होता हुआ भी स्वयं कार्य नहीं कर सकता। कार्य गुणों से ही होगा। शरीर जितना अच्छा गुणवान् होगा उतना ही अच्छा कार्य सम्पन्न कर सकेगा। परंतु बिना करनेवाले आत्मतत्त्व के कुछ भी हो नहीं सकेगा।

यही कारण है कि जब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का प्रश्न उपस्थित हुआ तो पहले यह बताकर कि क्षेत्रज्ञ एक आत्म-तत्त्व है, तदुपरान्त क्षेत्र में उपस्थित आत्म-तत्त्व में भेद बता दिया। क्षेत्रज्ञ ज्ञानवान् है और क्षेत्र अज्ञ।

यहाँ भी इसी प्रकार समझना चाहिए। सत्त्व, रजस्, तमस् प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। इनके कारण ही देह में देही बँधता है। यह इस कारण बँधता है कि इन गुणों से भोग उपलब्ध होता है। जीवात्मा अज्ञान के कारण भोग का इच्छुक है। जीवात्मा के लक्षणों में इच्छा एक है। प्रयत्न एक अन्य लिंग है। सुख, दुःख और द्वेष भी इसके लिंग हैं। ये लिंग किसी भी जड़ पदार्थ में नहीं देखे जाते।

उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कोई भी जड़ पदार्थ ले लें। स्टूल, मेज, कुर्सी, गाड़ी, मकान, पर्वत इत्यादि ले सकते हैं। ये पदार्थ भी गुणों में असमता उत्पन्न होने से बने हैं। तो भी ये न इच्छा करते हैं, न ही प्रयत्न करते देखे जाते हैं। सुख, दुःख और द्वेष भी इनमें दिखाई नहीं देते। सबसे बड़ी बात यह है कि ये प्रयत्न भी नहीं कर सकते। लाखों वर्षों से हिमालय खड़ा है और इसकी इच्छा सागर दर्शन की नहीं होती। न ही कभी वर्षा न होने के कारण जल लेने के लिए हिंद महासागर की ओर खिसकने का यत्न करता है। कारण स्पष्ट है कि इसमें जीवात्मा नहीं है।

अभी तक यह बताया गया है कि महत् रूपी योनि में परमात्मा ने बीज डाला तो जगत् बना और जगत् में ये प्राणी के शरीर (मूर्तयः) मूर्तियाँ बनीं और फिर उस शरीर में गुणों के भोग के लोभ में जीवात्मा आकर बँध गया। यह भी बता दिया कि देही अविनाशी है।

इतना बताकर गुणों के लक्षण बता दिए हैं। यह कहा है कि सत्त्व गुण निर्मल सुख की इच्छा उत्पन्न करनेवाला है। इन परिणामों के प्रति आसक्ति से बँधा हुआ यह शरीर में रहना चाहता है। यह शरीर को बंधन में बाँधता है।

रजस् गुण राग, मोह उत्पन्न करता है, कामना और आसक्ति उत्पन्न करता है। यह गुण जीवात्मा को कामनाओं की पूर्ति के हेतु कर्म और उसके फल के मोह के साथ बाँधता है।

तमस् अज्ञानयुक्त है। यह जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा में लिप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करता है।

संक्षेप में, सत्त्व गुण से सुख, रजस् से कर्म और तमस् से अज्ञान-ज्ञान का बंधन होता है।[१]

भगवान् ने आगे कहा है कि रजोगुण और तमोगुण पर नियंत्रण करने से सतोगुण बढ़ता है। रजोगुण और सतोगुण का हनन करने से तमोगुणं बढ़ता है। इसी प्रकार तमोगुण और सतोगुण को दबाकर रखने से रजोगुण बढ़ता है।

जिस समय देह के सब द्वारों (इंद्रियों, मन और बुद्धि) से ज्ञान प्राप्त होता है, तब समझो कि सतोगुण बढ़ा है। जब लोभ और कर्म की प्रवृत्ति बढ़े तो समझो कि रजोगुण में वृद्धि हुई है और जब अज्ञान की वृद्धि हो, प्रमाद और मोह बढ़े तथा आलस्य अर्थात् अकर्त्तव्य की इच्छा हो तो समझो कि तमस् गुण बढ़ रहा है।[२]

जब मरते समय जीवात्मा सत्त्व गुण में लीन हो तो उत्तम, पवित्र लोकों (जन्मों) को प्राप्त होता है। मरते समय रजोगुण में प्रवृत्त हो तो कर्मशील जन्म मिलता है और मरते समय तमोगुण की वृद्धि हो तो प्रमाद, निद्रा, मोह इत्यादि ही अगले जन्म में मिलते हैं।[३]

---

१. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्‌भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥

—भ० गी०, १४—६, ७, ८, ९

२. रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्व भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

—भ० गी०, १४—१०, ११, १२, १३

३. यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

—भ० गी०, १४—१४, १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इसके उपरांत भगवान् ने यह बताया कि गुणों में वृद्धि कैसे होती है। सत्त्व गुण की वृद्धि (सुकृतस्य कर्मणः) अच्छे कर्मों के करने से होती है। अच्छे कर्मों की व्याख्या कर चुके हैं। यज्ञरूप किए कर्म अच्छे होते हैं। इनका फल निर्मल है, पाप से दूर रहना है। रजोगुण कर्म दु:खमूलक और तमोगुण कर्म अज्ञानमूलक हैं। सत्त्व गुण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। रजोगुण कर्मों से लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुणीय कर्मों से प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है।

सत्त्वगुण में स्थित होने से ऊर्ध्व गमन होता है। रजोगुण में स्थित होने से मध्यम स्थिति रहती है और तमोगुण का आश्रय लेने से (अधो गच्छति) पतन होता है।[१]

यहाँ ऊर्ध्व गमन, सामान्य स्थिति और पतन का अर्थ अधम की दृष्टि से लेना चाहिए। वैदिक जीवन-मीमांसा यह है कि शरीर जड़ है। आत्मा कर्त्ता और भोक्ता है। अत: यह स्थिति, जिसमें आत्मा का अभ्युदय हो वह उन्नत अवस्था कही गई है। जिसमें आत्मा सामान्य स्थिति में रहे, वह मध्यम स्थिति मानी गई है। आत्मा का बंधनों में अधिक और अधिक जकड़ जाना पतन कहा गया है।

आत्म-अभ्युदय क्या है? इस प्रश्न का कई प्रकार से उत्तर दिया गया है। उन सब उत्तरों में कई बातें समान हैं। आत्मा ज्ञानवान् होना चाहिए। जिस भी कार्य से ज्ञानहीनता उत्पन्न हो, वह आत्मा के लिए पतन का कारण मान जाएगा। जो कार्य सत्त्व गुण से रहित होगा, उनमें राजसी और तामसी गुणों का बाहुल्य माना जाएगा।

दूसरी बात है आत्मा का दंभरहित होना। सबसे बड़ा बंधन शरीर का है। विशेष रूप में दुर्बल, रुग्ण, अपाहिज और अयोग्य शरीर। इस प्रकार के शरीर से आत्मोन्नति में बाधा पड़ती है। मुक्ति भी सात्त्विक गुणों के बाहुल्य से होती है। राजसी गुण और तामसी गुण शरीर से मोह उत्पन्न करने वाले हैं।

ऐसा कहा गया है कि सात्त्विक, राजसी और तामसी, तीनों के तीनों गुण बाँधने वाले हैं। फिर भी सतोगुण से शरीर स्वस्थ, सबल, पूर्णाङ्ग और दीर्घायुवाला मिलता है। ऐसा शरीर प्राप्त होने से ज्ञान-प्राप्ति में और आत्मा के परमात्मा से योग करने में अवसर-प्राप्ति और सुविधा उपलब्ध होती है। इस कारण सात्त्विक प्रवृत्ति बंधन से मुक्त होने में सहायक हो जाती है।

बंधनमुक्त के अर्थ इस संसार में ही राजनीतिक, सामाजिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं से मुक्ति पाना भी है। ये सब स्वतन्त्रताएँ सात्त्विक प्रवृत्तिवालों को सुगमता और प्रचुर मात्रा में मिल जाती हैं।

---

१. सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

—भ० गी०, १४—१७, १८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



राजसी और तामसी प्रवृत्ति के लोग इन स्वतन्त्रताओं का भोग भलीभाँति नहीं कर पाते।

कभी-कभी देखा जाता है कि तामसी प्रवृत्ति के मनुष्य भी वैभव को प्राप्त होते हैं। वैदिक परम्परा में यह पूर्वजन्म के शुभ कर्म के फलस्वरूप माना जाता है। फिर भी कई मनुष्यों में उनके पूर्वजन्म के शुभ कर्मफल जीवन के भीतर ही समाप्त हो जाते हैं। कइयों के वे पूर्ण जीवन-भर और कभी-कभी तो एक जन्म से भी अधिक अवधि तक चलते हैं। पूर्वजन्म के शुभ अथवा अशुभ कर्म इस जन्म के कर्मों से बढ़ते हैं अथवा घटते हैं। यही कारण है कि पुरुषार्थ, जो आत्मा का गुण है, पूर्वजन्म के कर्मों को बढ़ाता है अथवा घटाता है। ठीक दिशा में किया गया पुरुषार्थ सदा पुण्य-कर्मों में वृद्धि करता है। विपरीत दिशा में पुरुषार्थ पाप-कर्मों में वृद्धि करेगा।

कुछ भी हो, इस जन्म में किए कर्म निष्फल नहीं जाते। ऐसा गीता का मत है। शरीर-बंधन से मुक्ति तो, कर्मयोग, यज्ञ-रूप कर्म और परमात्मा के सत्य-स्वरूप की भक्ति से प्राप्त होती है। परंतु जो लोग इतना कुछ नहीं करते अथवा कर नहीं सकते और जो मन तथा इंद्रियों को संयम में रखकर व्यवहार चलाते हैं, वे भी इसका फल प्राप्त कर मुक्तावस्था प्राप्त करने में सुअवसर और सुविधा प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् ने भी इस विषय में बताया है—

हे पार्थ ! उस (जो मुक्ति-प्राप्ति में लीन होते हुए भी योगभ्रष्ट, अर्थात् जो योग की क्रियाओं को अंत तक नहीं पहुँचा सकते और मार्ग में ही उनको छोड़ देते हैं) पुरुष का न तो इस लोक में, न परलोक में नाश होता है। कारण यह कि कोई भी कल्याण का कार्य किया हुआ दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

योग से च्युत हुए पुरुष अपने पुण्य-कर्मों के कारण उच्च लोकों को प्राप्त होते हैं। वहाँ बहुत काल तक रहकर शुद्ध आचरणवाले पुरुषों के घर में जन्म लेते हैं अथवा ज्ञानवान् और योगियों के कुल में उत्पन्न होते हैं। ऐसा जन्म भी इस लोक में दुर्लभ है।

पहले जन्म में किए पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त बुद्धि के संयोग से सिद्धि सुगमता से प्राप्त होती है।[1]

---

१. पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

—भ० गी०, ६—४०, ४१, ४२, ४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



गीता का मत है कि किए कर्म विफल नहीं जाते। कामनाओं के त्याग से उन कर्मफलों से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से छुटकारा मिल सकता है।

उत्तरोत्तर श्रेष्ठ योनि, लोक और ब्रह्मस्थिति प्राप्त करने की इच्छा आत्मा में रहती है। आत्मा की इन दो इच्छाओं की पूर्ति ही उन्नति है और कामनाओं में फँसना पतन है।

अतः भगवान् ने बताया है कि सात्त्विक गुण उन्नति की ओर ले जाते हैं और तामसी गुण पतन की ओर ले जानेवाले हैं। रजोगुण सामान्य स्थिति रखनेवाला है। जब रजोगुण के साथ तमोगुण का मिश्रण हो जाता है, तब पतन का द्वारा खुल जाता है। ऐसी स्थिति मानव-समाज को भी महान् विपत्ति में डालनेवाली सिद्धि होती है। जब रजोगुण पर नियंत्रण सात्त्विक गुण का होता है तब संसार में सुख और शांति का प्रसार होने लगता है। कर्त्ता आत्मा द्रुतगति से उन्नति करता हुआ सुगमता से अपने लक्ष्य को पा जाता है।

मनुष्य यह समझ ले कि यद्यपि सात्त्विक गुण आत्मा की उन्नति में सहायक होता है, तो भी मोक्ष तभी प्राप्त होता है, जब वह इन तीन गुणों से विरक्त हो जाता है।

ये तीन गुण जड़ प्रकृति के हैं और आत्मा को इनसे पृथक् करने से ही मोक्ष की सिद्धि संभव है। मोक्ष का अभिप्राय जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, दुःख इत्यादि से छुटकारा है।[१]

इन गुणों से कैसे मुक्त हुआ (छुटकारा पाया) जा सकता है, यह भगवान् गीता-संवाद के पूर्व के भागों में बता आए हैं। कर्मयोग, यज्ञमय जीवन, योगाभ्यास और भगवद्‌भजन इसमें सहायक होते हैं।

इसके आगे भगवान् ने मुक्त जीवों के लक्षण बताए हैं। यह बताया है कि जो इन तीन गुणों से अतीत होता है, उसमें प्रकाश (सांसारिक ज्ञान), प्रवृत्ति (कर्म करने में रुचि) और मोह (आसक्ति), जो गुणों के लक्षण हैं, नीचे रह जाते हैं और मनुष्य उनसे ऊपर हो जाता है।[२]

गुणों से अतीत होने के अर्थ यह नहीं कि सांसारिक ज्ञान (प्रकाश) का विरोध किया जाए अथवा कार्य करना छोड़ दिया जाए अथवा मोह छोड़कर लोगों का विरोध, हत्या करना और कष्ट पहुँचाना आरंभ कर दिया जाए। भगवान् का यह आशय नहीं है। इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा है कि गुणातीत मनुष्य न तो प्रकाश को और न ही कर्म तथा मोह में लगने को बुरा मानता है और न ही इनसे निवृत्ति होने को अच्छा मानता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य सांसारिक ज्ञान, कर्म और मोह में लिप्त नहीं

---

१. नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्‌भावं सोऽधिगच्छति॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्‌भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

—भ० गी०, १४—१९, २०

२. प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥

—भ० गी०, १४—२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



होता, वह गुणातीत माना जाता है।

जो मनुष्य इन बातों में उदासीन की भाँति रहता हुआ गुणों से विचलित नहीं होता, वह गुणातीत माना जाता है। वह गुणों को अपना कार्य करने देता है, गुणों में अचल रहता है। वह ही गुणातीत कहा जाता है।

जो मनुष्य मान-अपमान में संतुलित चित्त, मित्र और वैरी में समभाव, संपूर्ण कार्यों के आरंभ से ही त्यागी (फल की इच्छा न करनेवाला)-सा रहता है, वह गुणातीत कहाता है।[1]

यद्यपि इस अवस्था को प्राप्त करने के उपाय अन्य स्थानों पर भी वर्णन किए जा चुके हैं, फिर भी उनका यहाँ संक्षेप में वर्णन किया है।

कहा है (अमृतस्य) जन्म-मरण से मुक्त होने का और (शाश्वतस्य धर्मस्य) शाश्वत धर्म का तथा (ऐकान्तिकस्य सुखस्य) अखण्ड आनंद का साथ एवं (अव्यवयस्य ब्रह्मण) अविनाशी ब्रह्म अर्थात् मूल प्रकृति और जीवात्मा का आश्रय परमात्मा ही है। उसकी शक्ति से गुणातीत हुआ जा सकता है।[2]

इस अध्याय में यह बताया है कि महत् त्रिगुणात्मक है। प्रकृति तीनों गुणों के संतुलित होने के कारण प्रभावहीन होती है। महत् में ये गुण असंतुलित अवस्था में होने से अपना-अपना कार्य करने लगते हैं। शरीर भी प्रकृति का परिणामी स्वरूप ही है। इस कारण ये गुण इसमें कार्य करते हैं। इन गुणों के मोह में फँसा हुआ जीवात्मा शरीर में आ जाता है। वह जीव सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर में तब तक फँसा रहता है जब तक इन गुणों से मोह में लिप्त रहता है। शरीर में रहता हुआ जीवात्मा इन गुणों से मोहित रहता है। इस मोह को त्यागने से जन्म-मरण से मुक्ति हो सकती है। मुक्त होने का अर्थ है इन गुणों से पृथक् हो जाना। गुणों से पृथक् होने के अर्थ हैं कि गुणों को अपने-आप कार्य करने देना। न तो उनसे द्वेष करना, न ही उनमें लिप्त होना। उनसे अलिप्त रहकर विचरना। यह परमात्मा के सत्य स्वरूप की भक्ति से संभव है।

सिद्धांत रूप में ऊपर की कण्डिका में यह बताया जा चुका है कि महत् में परमात्मा के प्रयत्न से सृष्टि का बीजारोपण किया गया। संपूर्ण सृष्टि जड़ और जीवधारी दो प्रकार की

---

१. उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

—भ० गी०, १४—२३, २४, २५

२. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

—भ० गी० १४—२७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है। परमात्मा उस सृष्टि में विराजमान होता है। वह स्वयं गुणों से मोहित नहीं होता। वह उनसे उदासीन रहता हुआ पूर्ण जगत् में स्थित है, अर्थात् उन गुणों से चलायमान नहीं होता।

अब इस विषय को और आगे चलाया गया है। वेद में लिखा है कि एक वृक्ष है। उस पर दो सुंदर पक्षी परस्पर मित्र और प्रेम करनेवाले बैठे हुए हैं। उनमें से एक स्वादयुक्त फल खाता है, दूसरा न खाता हुआ देख रहा है।[1]

इस मंत्र को आधार बनाकर श्रीकृष्ण गुणों से निर्माण में लाए हुए जगत् का, एक वृक्ष की उपमा देकर वर्णन करते हैं। जगत् को वृक्ष माना है। कहा है कि इस वृक्ष की जड़ें ऊपर को हैं और शाखाएँ नीचे को (ऊर्ध्व मूलमधः शाखमश्वत्थं)। वृक्ष पीपल का है। यह वृक्ष अविनाशी है। इस वृक्ष के पत्र वेदों की ऋचाएँ हैं। गुणों से यह वृक्ष वृद्धि पा रहा है और उसकी शाखाएँ ऊपर और नीचे चारों ओर फैली हुई हैं।

इस वृक्ष की जड़ें (कामनाएँ) सभी लोकों में फैली हुई हैं। इन कामनाओं से बँधा हुआ मनुष्य इस वृक्ष पर विचर रहा है।

यह संसार रूपी वृक्ष उस प्रकार का नहीं, जैसे इस पृथिवी पर देखे जाते हैं। कारण यह है कि इसका आदि और अंत दिखाई नहीं देता।

इस वृक्ष का मूल ऊपर बताया है। अभिप्राय यह कि मूल परमात्मा है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह उस मूल की खोज करे। यह कहा गया है कि उस मूल पुरुष को प्राप्त कर लेने से मनुष्य तने और शाखाओं (कामनाओं) में फँसा नहीं रहेगा, अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाएगा।

इस संसार रूपी वृक्ष के मूल तक कैसे पहुँचा जा सकता है ? यह भी बताया गया है। जिसका मान और मोह नष्ट हो चुका है, जो नित्य अध्यात्म का चिंतन करता है, जिसमें कामनाओं का नाश हो चुका है, जो सुख-दुःख नाम की वस्तु और मन के द्वंद्वों से विमुक्त हो चुका है, ऐसा ज्ञानी उस मूल रूप परमात्मा के पास पहुँच जाता है।

वह परमात्मा, जो इस संसार रूपी वृक्ष का मूल है, वह स्वयं प्रकाशमान है। उसको प्रकाशित करने के लिए सूर्य-चन्द्र की आवश्यकता नहीं। अग्नि भी उसको प्रकाशित नहीं करती। मनुष्य उस मूल तक पहुँचकर पुनः इस वृक्ष पर वापस नहीं लौटता।[2]

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ०, १—१६४—२०

२. निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

—भ० गी०, १५—५, ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उस परमात्मा का अंश जगत् में, अभिप्राय यह कि जड़ और चेतन दोनों में, है। चेतन जगत् में मन इंद्रियों का संग्रह होता है और वह प्रकृति में स्थापित होता है। इसका अर्थ यह है कि चेतन शरीर, मन और इंद्रियाँ भी प्रकृति में ही स्थापित होती हैं।[१]

यहाँ संसार रूपी वृक्ष का उल्लेख हो रहा है। इस संसार में दो प्रकार की सृष्टि है—जड़ और चेतन। जड़ का उल्लेख तो ऊपर आ चुका है। अब इस श्लोक में चेतन सृष्टि का उल्लेख किया गया है। कहा है (जीवलोके) चेतन सृष्टि में (जीव भूत) प्राणी का शरीर है। इसमें मन और इंद्रियाँ विशेष हैं। प्रकृति मन और इंद्रियों को आकर्षित करती है।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि चेतन सृष्टि में प्राणियों की गणना है। ये मेरा ही अंश हैं। अंश का अभिप्राय है निर्मित पदार्थ। जैसे कि पुत्र पिता का अंश होता है। पिता और पुत्र का संबंध शरीर का है। आत्माओं का संबंध नहीं। इसी प्रकार इस श्लोक में कहा है कि प्राणी सृष्टि में प्राणी अर्थात् प्राणियों का शरीर परमात्मा से बनाया हुआ है। जैसे कि पुत्र पिता से उत्पन्न हो उसका अंश कहलाता है। इसी श्लोक के दूसरे अंश में बात स्पष्ट कर दी है कि मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्राणी के लक्षण शरीर में ही ठहरे हुए हैं।

यहाँ प्राणी के निर्माण की प्रक्रिया लिखी है। प्रकृति मन और इंद्रियों को अपनी ओर आकर्षित कर, अपने में धारण कर शरीर बन जाती है। यह जीव भूतः है। इसके अगले श्लोकों (१५—८, ९) को देखने से हमारा अभिप्राय्र स्पष्ट होगा। उनमें कहा है कि ईश्वर अर्थात् शरीर का स्वामी जीवात्मा पूर्व शरीर को त्यागकर उसमें ऐसे आता है, जैसे वायु के साथ गंध एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली जाती है। तब यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना इत्यादि इंद्रियों में बैठ, विषय का सेवन करने लगता है। परमात्मा तो वहाँ पहले ही और सर्वदा विद्यमान होता है।[२]

इस सबका अभिप्राय यह है कि चेतन जगत् में भी परमात्मा का अंश उपस्थित ही है। यह वैसा ही अंश है, जैसे जड़ पदार्थों में है। महत् रूपी योनि में परमात्मा ने ओज रूपी बीज डाला तो जड़ पदार्थ बना; अर्थात् जैसे बीज डालनेवाला और योनि पृथक्-पृथक् होते हैं और बीज भी इन दोनों से पृथक् होता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। योनि अर्थात् महत् तो प्रकृति है। यह त्रिगुणात्मक है। बीज डालने का

१. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

—भ० गी०, १५—७

२. शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

—भ० गी०, १५—८, ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अभिप्राय यहाँ यह लेना चाहिए कि परमात्मा ने अपना ओज प्रकृति में डाला तो तीनों गुण पृथक्-पृथक् हो गए और प्रकृति के परिणाम बनने लगे।

जब प्रकृति के परिणाम बन गए तो सात्त्विक अहंकार और राजसी अहंकार के संयोग से मन और इंद्रियाँ बनीं। प्रकृति, अभिप्राय यह है कि पंच महाभूतों ने इन मन और इंद्रियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। यह शरीर बना। इसी कारण हमने कहा है कि जैसे जड़ जगत् परमात्मा के बीज से बना, उसका अंश माना जाता है, वैसे ही यह शरीर भी उसी के बीज से बना है।

जब वह शरीर बन जाता है, तब जीवात्मा (वायु में मिली गंध के समान) एक शरीर को छोड़ दूसरे में आ जाता है और फिर उसमें अधिष्ठित होकर इंद्रियों के विषय का सेवन करने लगता है।

जीवित प्राणी के बनने की प्रक्रिया बहुत ही अद्भुत ढंग से बताई गई है। आगे लिखा है कि शरीर छोड़कर जाते हुए को और नए शरीर में स्थित को तथा विषयों का सेवन करते हुए को अज्ञानीजन नहीं जानते। इसको ज्ञानीजन ही जान सकते हैं।[१]

यह आदि काल से चली आ रही समस्या है। अज्ञानी लोग चेतन जगत् और जड़ जगत् में तथा शरीर और मृत शरीर में अंतर देखते हुए भी अंतर मानते नहीं। वे स्वयं विषयों का भोग करते हुए भी, अपने में और अपने सम्मुख पड़े मिट्टी के एक ढेले में अंतर नहीं मानते। ज्ञानीजन इस अंतर को मानते हैं और समझते भी हैं। वे स्पष्ट रूप में जीवभूतों में जीवात्मा की उपस्थिति मानते हैं और जड़ पदार्थों को जीवात्मा के अधीन मानते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी में मान्यताओं का यह भेद आज भी है। कहे जानेवाले अज्ञानी जड़-चेतन में अंतर देखते हुए भी, उनमें अंतर स्वीकार नहीं करते।

गीता के प्रवक्ता का भी यह कहना है कि स्पष्ट अंतर देखते हुए भी अंतर को न माननेवाले मूढ़ हैं। जड़ और चेतन में अंतर तो है ही।

एक मनुष्य दूसरे की वस्तु का बलपूर्वक हरण कर लेता है और उसका भोग करता है, उसका रस लेता है। जिसकी वस्तु छिन जाती है, वह दुःख अनुभव करता है। यह रस किसको मिलता है और भोग कौन करता है? साथ ही दुःख किसको होता है? मृत शरीर को वह सुख और दुःख क्यों नहीं होता? इन प्रश्नों का उत्तर गीता के पंद्रहवें अध्याय में इस प्रकार दिया है—

परमात्मा जगत् को बनाता है। यह जगत् दो प्रकार का है—जड़ और चेतन। चेतन पदार्थ भी वैसे ही परमात्मा से बनाए गए हैं, जैसे जड़ पदार्थ बनाए गए हैं।

यह हम ज्ञान-विज्ञान के प्रकरण में लिख चुके हैं कि मन और इंद्रियाँ भी प्रकृति से

---

१. उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

—भ० गी०, १५—१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बनी हैं। वहाँ हमने बताया है कि मूल प्रकृति से महत् बना है। महत् तीन प्रकार के अहंकारों में विभक्त हो जाता है। ये तीन अहंकार हैं—वैकारी, तेजस्, और भूतादि।

भूतादि अहंकार और तेजस् अहंकार के संयोग से पंच महाभूत और पंच-तन्मात्राएँ बनती हैं तथा वैकारी अहंकार और तेजस् अहंकार के संयोग से दस इंद्रियाँ और मन बनते हैं।

पंच-महाभूतों के, दस इंद्रियों और मन के साथ संयोग से शरीर बनता है। इसी को ही भूतजीव कहा है। इस मन और इंद्रियों सहित शरीर में जीवात्मा किसी पुराने शरीर को छोड़कर ऐसे आता है, जैसे वायु के साथ गंध किसी एक कमरे से दूसरे में आ जाती है।

वायु को परमात्मा का सामर्थ्य प्राण माना है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि वायु और गंध पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार जीवात्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में लानेवाला परमात्मा का सामर्थ्य जीवात्मा से पृथक् है।

यह भी बता दिया गया है कि आत्मा को ज्ञान की आँखों से ही देखा जा सकता है। योगीजन भी जीवात्मा को यत्न से ही देख पाते हैं और मूर्ख तो यत्न करने पर भी नहीं देख पाते हैं।[१]

इसी कारण भगवान् बताते हैं कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि में तेज परमात्मा का ही है। परमात्मा ही पृथिवी में उपस्थित है और सब प्राणियों को जीवनयापन योग्य पदार्थ उपलब्ध कराता है। सूर्य से तेज आता है तो वनस्पति इत्यादि उत्पन्न होती हैं। चन्द्र से उनमें रस आता है और फिर वनस्पतियों से ही सब प्राणियों के शरीर का पालन होता है।

शरीर की अग्नि, जिससे शरीर में पाचनादि क्रियाएँ होती हैं, परमात्मा से ही मिली हैं।[२]

परमात्मा ही सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ उनमें स्मृति, ज्ञान और अपोहन (तर्क-वितर्क करने की शक्ति) उत्पन्न करता है।[३]

सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ परमात्मा मनुष्य शरीर की सब क्रियाओं के

---

१. यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

—भ० गी०, १५—११

२. यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

—भ० गी०, १५—१२, १३

३. सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

—भ० गी०, १५—१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करने की सामर्थ्य देता है। वेदान्त के कर्त्ता और वेदों को जाननेवाले बताते हैं कि वह परमात्मा ही है।

यह इस प्रकार है कि जैसे एक कारखाने को चलाने के लिए विद्युत् है, परंतु इसके होने पर भी कारखाना कब चले, कैसे चले, क्या बनाया जाए और वह भी किस स्तर का बनाया जाए, यह कारखाने का नियंत्रण करनेवाला प्रबंधक ही निश्चय करता है। इसी प्रकार शरीर में यह कार्य जीवात्मा करता है।

जैसे पूर्ण जड़ जगत् में परमात्मा की शक्ति विद्यमान है, वैसे ही प्राणी के शरीर में भी है। इंद्रियों में, मन में, बुद्धि में, अभिप्राय यह कि पूर्ण शरीर में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की ही है। कारखाने में प्रबंधक की भाँति जीवात्मा शरीर में आकर परमात्मा की शक्ति का उपभोग करता है।

इस कथन का विश्लेषण भगवान् कृष्ण गीता में इस प्रकार करते हैं। वे कहते हैं (लोके) इस सृष्टि में क्षर और अक्षर दो पुरुष (पदार्थ) विद्यमान हैं। क्षर है भौतिक शरीर और अक्षर है हृदय की गुहा में स्थित पुरुष। इन दोनों पुरुषों से एक अन्य उत्तम पुरुष है। यह उत्तम पुरुष प्राणी के शरीर में व्याप्त है और तीनों लोकों में भी है और सबको धारण किए हुए हैं। यह पुरुष, जो उत्तम है, वह अविनाशी भी है। इसे ही ईश्वर या परमात्मा कहा है।

यह परमात्मा उस अक्षर से (जिसका ऊपर के श्लोक में क्षर पुरुष के साथ रहने का वर्णन किया है) भी दूसरा (अतीतः) है। इस कारण यह उत्तम कहाता है। (लोके) संसार में और (वेदों) मंत्रों में यह पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध है।

जो परमात्मा को पुरुषोत्तम मानते हैं और अन्य दो पुरुषों (क्षर और अक्षर) से पृथक् मानते हैं, वे ही सर्वज्ञ परमात्मा की भलीभाँति पूजा कर सकते हैं।[1]

जो इस रहस्यमय शास्त्रीय ज्ञान को, जिसका यहाँ वर्णन किया गया है, जान जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।[2]

---

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

—भ० गी०, १५—१६, १७, १८, १९

२. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

—भ० गी०, १५—२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



## गुण, बुद्धि और स्वभाव

यह बता दिया गया है कि प्रकृति के तीन गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) असन्तुलित होने पर प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में कारण होते हैं। इन गुणों के कार्य से ही शरीर के अंग-प्रत्यंग बनते हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भी इन गुणों की असंतुलित अवस्था से ही निर्माण होती है।

ये गुण परमात्मा नहीं हैं (७—१२)। परमात्मा प्रकृति के इन गुणों को असन्तुलित कर इनको विमुक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् कर देता है। तब ये गुण इस जगत् के बनने के कारण होते हैं।

जिस गुण का बाहुल्य जिस पदार्थ में होता है, वैसा ही कार्य करने की शक्ति उस पदार्थ में आ जाती है। इन तीनों गुणों के कारण ही मन और बुद्धि में विभिन्नता आती है।

जब सतोगुण प्रधान होता है तो बुद्धि एक प्रकार की होती है। जब रजोगुण अथवा तमोगुण प्रधान होता है तो बुद्धि दूसरे अथवा तीसरे प्रकार की होती है।

सतोगुणी बुद्धि उन्नति की ओर ले जाने वाली होती है और तमोगुणी बुद्धि पतन की ओर ले जाती है। अतः सतोगुणी बुद्धि धारण करने का यत्न करना चाहिए।

यह बताया जा चुका है कि सत्त्वगुण सुकृतों से वृद्धि पाता है, अर्थात् सुकृतों से मन और बुद्धि में सतोगुण का बाहुल्य हो जाता है।

इसी संदर्भ में गुणों के अनुसार बुद्धि के रूप का वर्णन कर दिया गया है। सात्त्विक बुद्धि वह है, जो निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों मार्गों को जानने वाली है, जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को जानती है, जो भय और अभय को समझती है, जो बन्धन और मोक्ष को भलीभाँति जानती है।

राजसी बुद्धि वह है जो धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को न जानती हुई कर्म करती है। कर्म इसका मुख्य गुण है।

जो धर्म में अधर्म और अधर्म में धर्म देखती है तथा जो सर्व अर्थों को हितों के विपरीत ही मानती है, वह तामसी बुद्धि है।[१]

---

१. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

—भ० गी०, १८—३०, ३१, ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह हम पिछली कण्डिका में बता चुके हैं कि सुकृतों से सात्त्विक गुण प्रधान हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि में सतोगुण प्रधान हो जाता है। जब बुद्धि धर्म-अधर्म, प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जान जाती है, तब मनुष्य के कार्य भी सतोगुण प्रधान हो जाते हैं।

इस समूचे कथन से यह सिद्ध होता है कि बुद्धि में सतोगुण की वृद्धि से इसमें निर्मलता आती है। इससे वह काले को काला और श्वेत को श्वेत देखने लगती है। उसे जगत् का यथार्थ ज्ञान होने लगता है। बुद्धि सद्व्यवहार और दुर्व्यवहार में अन्तर समझने लगती है।

केवल समझने मात्र से ही अच्छे अथवा बुरे व्यवहार अर्थात् कर्म अथवा विकर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। यदि उदाहरण लें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। एक डॉक्टर, हकीम अथवा वैद्य है। वह भोज्य पदार्थों के गुण-अवगुण जानता है। फिर भी वह कुपथ्य करता है। ज्ञान और बुद्धि के होने पर, कर्म और विकर्म में भेद भी कर सकता है, परन्तु भोजन करने के समय स्वाद-वश कुपथ्य ही करता है।

कितने ही ज्ञानी और विद्वान् पुरुष इन्द्रिय-लोलुप देखे जाते हैं और इन्द्रियों से प्रेरित अनाचार और अत्याचार करते देखे गए हैं।

ये सब बुद्धि के अतिरिक्त आत्मा, जो सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न लक्षणों वाला है, के द्वारा होता है। आत्मा बुद्धि का निर्देश मानेगी ही, यह आवश्यक नहीं। यह आत्मा के संस्कारों के अधीन है। बुद्धि वस्तुतः परामर्शदात्री ही है। उस परामर्श को मानना अथवा न मानना आत्मा एवं मन के संस्कारों के अधीन है।

अतः ऐसे संस्कार संचय हों जो आत्मा की बुद्धि से प्रदर्शित मार्गों पर चलने की प्रेरणा दें।

केवल संस्कारों से भी कार्य नहीं चलता। मान लीजिये, कोई रोगी ऐसे संस्कार रखता है कि वैद्य द्वारा बताया पथ्य ही करना चाहिए। परन्तु उसको वैद्य अयोग्य मिल जाता है। वह पथ्य-कुपथ्य का ज्ञान नहीं रखता। इस अवस्था में रोगी के शुभ संस्कार क्या करेंगे? इस कारण जहाँ बुद्धि से उचित मार्ग के ज्ञान की आवश्यकता है, वहाँ आत्मा को संस्कारों द्वारा प्रेरणा देने की भी आवश्यकता है कि वह बुद्धि द्वारा निश्चित किये मार्ग का अवलम्बन करे।

एक जलयान समुद्र में दिशा भूल गया है। यान का संचालक जानता है कि उसे बम्बई से अदन जाना है और अदन बम्बई से पश्चिम की ओर है। रात अँधेरी और बादलों से आच्छादित होने के कारण उसे दिशाज्ञान नहीं रहा। वहाँ कम्पास उसका पथप्रदर्शन करता है। यान के संचालक का यह जानना कि उसे अदन पहुँचना है और अदन किस ओर है, पर्याप्त नहीं। उसको समुद्र में दिशा का ज्ञान करानेवाले कम्पास की भी आवश्यकता है।

यही बात मनुष्य के ज्ञान की है। संस्कार ज्ञान का रूप ही है। मनुष्य को संस्कारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से यह विदित है कि उसे सुख प्राप्त करना है और सुख-प्राप्ति का उपाय मरण-जन्म के चक्र से छुटकारा पाना है। इतने ज्ञान से कार्य नहीं चल सकता। इसी प्रकार इस ज्ञान से भी कार्य नहीं चल सकता कि सुकृत कार्य करने हैं और धर्मयुक्त व्यवहार रखना है। इन सब बातों के साथ उपस्थित परिस्थितियों में धर्म क्या है, अधर्म क्या है, सुकृत क्या है, दुष्कृत क्या है, यह सब जानना चाहिए। यह सात्त्विक बुद्धि का कार्य है।

उदाहरण के रूप में एक राजा की बात ली जा सकती है। शत्रु ने उसके देश पर आक्रमण किया है। राजा विचार कर सकता है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' शास्त्र का वचन है। युद्ध में हत्याएँ होंगी। अतः युद्ध से बचना चाहिए।

इस प्रकार के संस्कारों के अधीन ही उसने राजगद्दी छोड़ने का विचार बना लिया है। इस विचार में उसने यह ध्यान नहीं किया कि शत्रु देश में हत्याओं को रोकने के लिए आक्रमण नहीं कर रहा। यदि यह विचार होता तो वह आक्रमण करता ही नहीं। राजा ने यह सोचा ही नहीं कि देश पर शत्रु का शासन हो जाने से, उसकी प्रजा को कितना कष्ट और क्लेश होगा। इस कारण केवल शास्त्र द्वारा बने संस्कार पर्याप्त नहीं, वरन् उन संस्कारों की पूर्ति के लिए बुद्धि द्वारा निर्धारित मार्ग का अवलम्बन भी आवश्यक है।

अतः गीता में स्पष्ट रूप में बुद्धि और संस्कारों का भेद वर्णन किया है। जहाँ श्रेष्ठ संस्कारों के संचय की विधि बताई है, वहाँ बुद्धि को निर्मल करने का उपाय भी बताया है।

स्वभाव संस्कारों के अधीन बनते हैं। उस स्वभाव अर्थात् प्रवृत्ति को निर्मल बुद्धि कार्य करने की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देती है। संस्कार पूर्वजन्म के कर्मफल और वर्तमान जन्म के कर्मों से बनते हैं।

भगवान् कहते हैं कि स्वभाव, अर्थात् प्रवृत्ति मुख्य रूप में दो प्रकार की है। प्रवृत्ति को सम्पदा के नाम से भी लिखा है। स्वभाव मनुष्य की सम्पत्ति है। अतः इन दोनों शब्दों को पर्यायवाचक माना है। दो प्रकार की सम्पदा वाले मनुष्य देखे जाते हैं।[१]

गीता में इन दोनों प्रकार की सम्पदाओं के लक्षण भी बताये हैं। दैवी सम्पदा के विषय में कहा है कि इसमें भय का अभाव, आत्मा की स्वच्छता, ज्ञान से सुदृढ़ योग (सम्पर्क), दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय और चित्त की सरलता होती है।

अहिंसा (किसी को कष्ट न देने का स्वभाव), सत्य भाषण, अक्रोध, त्याग, चित्त की शांति, किसी की निन्दा न करना, दया का भाव, इन्द्रियों के विषय में अनासक्ति, नम्रता, अभिमान से रहित भाव और व्यर्थ की चेष्टाओं से तटस्थता, दैवी सम्पदावालों के लक्षण हैं।

---

१. द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥
—भ० गी०, १६—६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तेजयुक्त, रूपवान्, धृतिमान्, क्षमावान्, मन, वचन और कर्म से शुद्ध, दूसरों से द्वेष न करनेवाला, अपने को बड़ा न समझनेवाला दैवी सम्पदा का स्वामी है।[१]

आसुरी सम्पदावाले मनुष्यों में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान ये 'गुण' होते हैं।

दैवी सम्पदा मनुष्य की मुक्ति के मार्ग में सहायक होती है और आसुरी स्वभाव, मनुष्य को जन्म-मरण के बन्धन में बाँधता है।[२]

भगवान् कृष्ण ने दैवी सम्पदावालों के विषय में इतना और कह दिया कि हे अर्जुन! तू भी दैवी स्वभाव रखता है। इस कारण तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

जहाँ तक आसुरी स्वभाव का सम्बन्ध है, भगवान् ने बिना किसी का नाम लिये इन स्वभाववालों के लक्षण विस्तार से कह दिये हैं। इनमें से कुछ लक्षण हम यहाँ लिख देना उचित समझते हैं।

आसुरी स्वभाववाले मनुष्यों के लिए श्रेष्ठ आचरण अथवा किसी प्रकार के सत्य का अस्तित्व नहीं होता (नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते)।

ये लोग जब भी किसी को ठगते हैं अथवा किसी से धोखाधड़ी करते हैं, तो यह कहते सुने जाते हैं कि कौन जानता है कि सत्य क्या है और कौन व्यवहार उचित है?

आसुरी स्वभाववालों का एक अन्य लक्षण बताया है। ये लोग प्रायः कहते हैं कि यह संसार (अप्रतिष्ठम्, असत्यम्, अनीश्वरम्, अपरस्परसंभूतं) बिना किसी आशय के है, मिथ्या है, परमात्मा के बिना है, अपने आप एक-दूसरे के मिलने से बना है। यह संसार केवल भोग करने के लिए है।

ये लोग (कामाश्रित्यदुष्पूरं) न पूरी होनेवाली कामनाओं के भरोसे जीते हैं। ये (दम्भमान मदान्विता) दम्भ और मान से युक्त होते हैं। ये (आशापाश शतैर्बद्धाः) अनेक आशाओं के बन्धनों से बँधे रहते हैं, (काम क्रोध परायणाः) काम-क्रोध के अधीन

---

१. अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

—भ० गी०, १६—१, २, ३

२. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

—भ० गी०, १६—४, ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(कामभोगार्थ मन्यायेनार्थ संचायन्) काम, भोग और अर्थ को अन्याय से संचय करते रहते हैं।

आसुरी स्वभाव के लोग सदा यह विचार करते रहते हैं कि इतना मैंने अपने प्रयत्न से प्राप्त कर लिया है और इतना और प्राप्त कर लूँगा। ये अपने को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

ऐसे स्वभाव के मूर्ख लोग आसुरी योनियों में बार-बार जन्म लेते हैं। इनके लिए काम, क्रोध और लोभ तीन नरक के द्वार सदा खुले रहते हैं। ये अधोगति को प्राप्त होते हैं।

ऐसे स्वभाव के मूर्ख लोगों के लिए अधोगति और आसुरी योनियाँ लिखी हैं। इसका अर्थ है कि मनुष्येतर योनियाँ, पशु-पक्षी इत्यादि अथवा कीट-पतंग इत्यादि में ये जन्म लेते हैं। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे इन (काम, क्रोध और लोभ) से बचकर रहना चाहिए।

काम, क्रोध और लोभजन्य कर्म दुष्कृत हैं और ये मन तथा बुद्धि में तमोगुण की वृद्धि करते हैं। और फिर न तो मन पर ठीक प्रकार से संस्कार बन पाते हैं और न ही बुद्धि ठीक मार्गदर्शन करा सकती है।

इस प्रकार गीता में प्रकृति के गुणों में वृद्धि और फिर उससे स्वभाव के निर्माण की प्रक्रिया वर्णन की गई है।

भगवान् कहते हैं कि मन और बुद्धि में तीन गुण अस्थिर अवस्था में हैं अर्थात् न्यूनाधिक हो सकते हैं। इनको न्यूनाधिक करने का उपाय बताया है। इन दोनों में बुद्धि मार्गदर्शन करती है। इस पर भी ठीक और योग्यता से ये कार्य तब कर सकते हैं, जब इनमें सात्त्विक गुण प्रधान हो। बुद्धि को निर्मल करने के लिए योगाभ्यास बताया है। इनको निर्मल करने का दूसरा उपाय भी है। परमात्मा की उपासना और निष्काम भाव से काम करना अन्य उपाय हैं। अभिप्राय यह कि इनसे सतोगुण का बाहुल्य हो जाता है।

ज्ञान संस्कारों को बनाता है। ज्ञान एक तो ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होता है, दूसरे यह शास्त्रों के स्वाध्याय अथवा ज्ञानियों की शिक्षा ग्रहण करने से प्राप्त होता है। मनुष्य के कार्य संस्कारों और बुद्धि, दोनों के सहयोग से बनते हैं। संस्कार मनुष्य के कर्मों के उद्देश्य निश्चित करते हैं। ज्ञान से संस्कार श्रेष्ठ बनते हैं और उद्देश्य भी कल्याणकारी होते हैं। यह सबकुछ होने पर भी बुद्धि उन उद्देश्यों की प्राप्ति में मार्गदर्शन करती है। बुद्धि निर्मल होने से मार्ग ठीक मिलता है और बुद्धि मलिन होने से मार्ग मिथ्या हो जाता है।

आत्मा संस्कारों की प्रेरणा से उद्देश्यों की ओर चलता है और बुद्धि से बनाये मार्ग का अनुसरण करता है।

स्वभावों का महत्त्व यही है कि ये मनुष्य के सम्मुख श्रेष्ठ अथवा विकृत उद्देश्य उपस्थित करते हैं। इस सब प्रक्रिया में जटिलता यह है कि संस्कार बनाते समय भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अर्थात् स्वभाव निर्माण करते समय भी बुद्धि ही मुख्य सहायक होती है। इसी कारण भगवान् ने गीता में बुद्धि को आत्मा के समीप माना है, मन से भी अधिक समीप। (गी० ३—४२)।

स्वभाव जब स्थिर हो जाते हैं तब ये मनुष्य की सम्पदा कहाते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि दैवी सम्पदा को प्राप्त करने के लिए यत्नशील रहे। इससे ही वह सुख और परम गति को प्राप्त करने के योग्य हो सकता है। (गी० १६—२२)।

उदाहरण के रूप में, एक राजा है। वह बल और प्रभाव रखता है। संस्कार उसके मन में कामना उत्पन्न करते हैं कि उसको अमुक देश पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और विजय प्राप्त करने के लिए उसे अमुक व्यक्ति अथवा जाति को अपने वश में करना चाहिए। इसमें उद्देश्य निश्चय किया संस्कारों ने और मार्ग अर्थात् उस देश के राजा अथवा जाति को अधीन करने के विषय में बताया बुद्धि ने। साथ ही बुद्धि ने बताया कि उस देश पर इतनी सेना से और इतने शस्त्रास्त्र के साथ आक्रमण कर दे। वह आक्रमण करता है और सब प्रकार के जोड़-तोड़ लगाकर विजय प्राप्त करता है और अपनी कामना पूरी कर लेता है।

एक दूसरा मनुष्य है। उसके संस्कार उसको उदार बना देते हैं। उसमें दया, न्याय और क्षमा का स्वभाव बन जाता है। वह भी किसी महान् देश का राजा है। वह किसी देश, समुदाय अथवा प्राणी को किसी प्रकार के कष्ट में देख, उसकी सहायता करने पर उद्यत हो जाता है। इसमें बुद्धि उसको मार्ग बता देती है। वह उस बुद्धि से दिखाये मार्ग पर चल पड़ता है। उस मार्ग पर चलता हुआ कभी अपने लोगों को अथवा अपने-आपको भी कष्ट में डाल देता है। तब वह बुद्धि से अपने-आपको सांत्वना देने में अथवा अपनी प्रजा को समझाने में सफल हो जाता है।

अभिप्राय यह कि उद्देश्य स्वभाववश निश्चय होते हैं और उन उद्देश्यों की प्राप्ति में बुद्धि मार्ग बताती है।

## वर्ण धर्म

स्वभाव-निर्माण के लिए अथवा निर्मित स्वभाव को ठीक दिशा देने के लिए भारतीय समाजशास्त्रियों ने मनुष्य समाज को चार वर्गों में विभक्त किया है। इन वर्गों को वर्ण कहते हैं। इन वर्णों का आधार गुण, कर्म और स्वभाव है।

यहाँ गुण से अभिप्राय प्रकृति के तीन गुण नहीं। प्रकृति के तीन गुणों से तो स्वभाव बनता है। गुण, कर्म एवं स्वभाव में गुण का स्वभाव से पृथक् वर्णन किया है। यहाँ गुण से अभिप्राय कर्म करने में कुशलता से लेना चाहिए।

कर्म से अभिप्राय व्यवसाय है अर्थात् जीविकोपार्जन के ढंग।

स्वभाव का अर्थ ज्ञानजन्य संस्कारों से उत्पन्न प्रवृत्ति है। यह हम इसी अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की तीसरी कण्डिका में लिख चुके हैं कि स्वभाव मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—दैवी और आसुरी। दैवी स्वभाव पुनः चार विभागों में विभक्त किये गये हैं।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका स्वभाव—शम, दम, शौच, तप, क्षमाभाव और चित्त की सरलता होता है। इस स्वभाव के मनुष्यों को एक वर्ण में मान लिया गया है। इस वर्ण को ब्राह्मण वर्ण कहा है।[1]

एक दूसरे प्रकार के मनुष्य समाज में देखे जाते हैं। ये शौर्य, तेज, धैर्य, चतुराई और युद्ध से न भागने के स्वभाववाले हैं। इस वर्ग के मनुष्यों को क्षत्रिय कहा जाता है।[2]

तीसरे प्रकार के मनुष्य वे हैं, जो कृषि, गोपालन तथा व्यापार इत्यादि से धनोपार्जन का स्वभाव रखते हैं। इनको वैश्य वर्ण का कहा गया है।

चौथे प्रकार के लोग वे हैं, जो सेवा का काम ही कर सकते हैं। उनमें अभिक्रमशीलता नहीं होती। वे दूसरे के आदेश पर ही कार्य कर सकते हैं। इनको शूद्र प्रवृत्ति का कहा जा सकता है।[3]

इन चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् गुण हैं। ये गुण सत्त्व, रजस्, तमस् नहीं। इन गुणों का प्रभाव तो चारों वर्णों पर होता ही है और वे उसका स्वभाव निर्माण करने में कार्य करते हैं परन्तु यहाँ गुणों से अभिप्राय कार्यकुशलता से है।

ब्राह्मण के वर्ण में ज्ञानवान् विज्ञानवेत्ता, आस्तिक्य बुद्धि रखनेवाले मुख्य हैं (१८-४२)।

इसी प्रकार क्षत्रिय के गुणों में, (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध से न भागना है (१८—४३)।

वैश्य के लिए वाणिज्य अर्थात् धनोपार्जन गुण बताया है। धन परिश्रम का एक रूप है। जो परिश्रम को अधिक-से-अधिक धन में परिवर्तित करे, वह वैश्य है।

शूद्र के गुणों में मुख्यतया दूसरे की सेवा करना बताया है। (परिचर्यात्मक)। जो मनुष्य स्वयं किसी भी कार्य को सम्पन्न करने की योग्यता नहीं रखते, वे दूसरों के अधीन

---

१. शमो दमस्तप : शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

—भ० गी०, १८—४२

२. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

—भ० गी०, १८—४३

३. कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

—भ० गी०, १८—४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रहकर ही कार्य कर सकते हैं। उनके लिए दूसरों के अधीन रहकर कार्य करने का निर्देश है।

इन्हीं स्वभावों और गुणों के अनुसार कर्मों का भी उल्लेख है। ब्राह्मण का कर्म है पठन-पाठन, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना इत्यादि। क्षत्रिय का कर्म है 'परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।' वैश्य के कर्मों में धन-धान्य निर्माण तथा संचय करना कहा है और शूद्र के लिए सेवा कर्म बताया है।

भगवद्गीता में वर्णों का वर्णन गुण-कर्म-स्वभाव के अन्तर्गत आता है। ये गुण-कर्म-स्वभाव प्रकृति के तीनों गुणों से यद्यपि सम्बन्ध रखते हैं, तथापि कार्यक्षेत्र में ये अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं।

कर्म की उत्पत्ति पाँच कारणों से बताई है—(१) अधिष्ठान, अर्थात् आधार। इसको कर्म का उद्देश्य भी कहा जा सकता है। (२) कर्त्ता, अर्थात् कर्म करनेवाले के गुण और स्वभाव से यहाँ अभिप्राय है। (३) करण, इसका अर्थ है शारीरिक (इन्द्रियाँ, बुद्धि इत्यादि की) सामर्थ्य। (४) चेष्टा, अर्थात् यत्न। (५) दैव। इसका अर्थ है भाग्य अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मफल।[१]

इन पाँच कारणों के आधार अर्थात् उद्देश्य और कर्त्ता वर्णाश्रम के गुण और स्वभाव के अधीन हो जाते हैं। स्वभाव का अर्थ है प्रवृत्ति। और प्रवृत्ति ही कर्म का अधिष्ठान बन जाती है। इसी स्वभाव अर्थात् प्रवृत्ति के अंतर्गत कर्त्ता आ जाता है। गुण में पृथक्-पृथक् करण (इन्द्रियाँ) आते हैं (करणं पृथग्विधम्)। वर्ण धर्म के अधीन कर्म का अभिप्राय चेष्टा से है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वर्ण-विभाजन में गुण, कर्म, स्वभाव, तीनों सांख्य में वर्णित कर्म के पाँच कारणों में आ जाते हैं।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि गीता के कथानुसार वर्ण-विभाजन का सम्बन्ध जन्म से अर्थात् उस परिवार से, जिसमें मनुष्य का जन्म होता है, नहीं है। वर्तमान भारत में कहे जानेवाले हिन्दू समाज में जो कुछ वर्णों से समझा जाता है, वह गीता में कहे अनुसार नहीं। इसी कारण इन वर्णों को जातियों का नाम दे दिया गया है। यह भी गलत है।

वैसे तो मनुष्य का स्वभाव संस्कारों से ही बनता है। संस्कार एक सीमा तक पूर्व जन्म के कर्मफल का परिणाम होते हैं और शेष इस जन्म के वातावरण, शिक्षा-दीक्षा पर

---

१. पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

—भ० गी०, १८—१३, १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



निर्भर करते हैं। अतः वर्ण-विभाजन के लिए संस्कारजन्य स्वभाव कारण माना गया है, जन्म नहीं। यह निर्णय करना कि कौन संस्कार पूर्वजन्म के कर्मों के कारण है और कौन वर्तमान जन्म के वातावरण तथा शिक्षा-दीक्षा के कारण, अति कठिन है और अनावश्यक भी। जानने योग्य है स्वभाव, न कि स्वभाव का कारण। इसलिए वर्ण का सम्बन्ध सीधा स्वभाव से है, जन्म से नहीं।

गीता में स्पष्ट लिखा है कि स्वभाव से उत्पन्न गुणों और कर्मों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चार वर्णों का निर्माण किया गया है। यहाँ जन्म का कहीं उल्लेख नहीं है।[१]

महाभारत में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि ब्राह्मण की सन्तान दुष्ट, दुराचारी, क्रूर और राजा की नौकर हो तो वह भी शूद्र ही होती है। उसे ब्राह्मणों की पंक्ति में नहीं बैठाना चाहिए।[२]

ब्राह्मण उसी को माना है जो मन और इन्द्रियों को संयम में रखनेवाला हो, सोम याग करके सोम रस पीनेवाला हो, सदाचारी दयालु, सब कुछ सहन करनेवाला हो; निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरता से रहित और क्षमाशील हो। इससे भिन्न पापाचारी है, उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिए।

असुर प्रवृत्ति स्वभाववालों में वर्ण-विभाजन नहीं होता। कारण यह है कि असुर कभी भी समाज के नियमोपनियमों का स्वेच्छा से पालन नहीं करता। वह अपने उच्छृंखल स्वभाव के कारण सदा स्वसुख और भोग के लिए यत्न करता रहता है। इस यत्न में वह छल और बल का आश्रय लेता रहता है।

वर्ण-विभाजन के अतिरिक्त मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त किया है। जीवन के चार भाग हैं—(१) ब्रह्मचर्य आश्रम, (२) गृहस्थ आश्रम, (३) वानप्रस्थ आश्रम और (४) संन्यास आश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम प्रायः पचीस वर्ष की आयु तक चलता है। गृहस्थ आश्रम पचास वर्ष की आयु तक चलता है। वानप्रस्थ आश्रम पचहत्तर वर्ष की आयु तक और उसके पीछे संन्यास आश्रम चलता है। आयु सम्बन्धी विधान केवल

---

१. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

—भ० गी०, १८—४१

२. शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा॥
जपन् वेदानजपंश्चापि राजन् समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये॥
यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान् स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा॥

—महाभा०, शां०, ६३—४, ५, ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



संकेतमात्र है। यह कठोर नियम नहीं। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचर्याश्रम शीघ्र भी समाप्त हो सकता है। संन्यास सीधा ब्रह्मचर्य के उपरान्त भी आरम्भ हो सकता है। संन्यास आश्रम केवल उन लोगों के लिए है जो उपदेश देने की सामर्थ्य रखते हैं।

गीता में आश्रमों का विशेष उल्लेख नहीं। केवल संन्यास का वर्णन आया है। वह भी संन्यास आश्रम और कर्म संन्यास में भेद बताने के लिए ही है। वहाँ यह बताया है कि संन्यास अर्थात् संसार का त्याग कर्मयोग से घटिया और कठिन है (५—६)। साथ ही यह बताया है कि सांख्य (ज्ञान) और संन्यास पर्याय हैं, अर्थात् वहाँ संन्यास से संन्यास आश्रम का अभिप्राय नहीं।

इस नवम् अध्याय में हमने भगवद्गीता के मतानुसार गुण, स्वभाव और कर्म का स्रोत और उनका प्रभाव वर्णन किया है। संक्षेप में गुणों से प्रकृति के गुणों का अभिप्राय लिया जाता है, परन्तु वर्ण धर्म में कार्यकुशलता को ही गुण माना है।

प्रकृति के तीन गुणों में समता की अवस्था मिट जाने पर वे विमुक्त हो जाते हैं। तब प्रकृति के रूपान्तर बनने लगते हैं। प्रकृति में गुणों की समता टूटने पर प्रथम परिणाम महत् होता है। महत् के अतिरिक्त प्रकृति के रूपों में सत्त्व, रजस् और तमस् का अनुपात स्थिर हो जाता है, परन्तु महत् में यह अस्थिर अवस्था में ही रहता है, अर्थात् सत्, रजस् और तमस् न्यूनाधिक होते रहते हैं। बुद्धि महत् का ही अंश है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में बुद्धि भिन्न-भिन्न योग्यता की और भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करनेवाली होती है। साथ ही, एक प्राणी में बुद्धि में गुणों का अनुपात यत्न से बदला जा सकता है।

उस बुद्धि को, जिसमें सतोगुण प्रधान हो और अन्य गुण गौण हों, सात्त्विक बुद्धि कहा जाता है। इसी प्रकार रजोगुण प्रधान वाली बुद्धि को राजसी बुद्धि कहा जाता है। तमोगुण प्रधान वाली बुद्धि को तामसी बुद्धि माना गया है।

बुद्धि कर्म की दिशा का निर्णय करती है। अतः कर्म सात्त्विक, राजसी और तामसी बुद्धि के कारण ही होते हैं। यह भी बताया गया है कि सात्त्विक बुद्धि, तामसी बुद्धि अथवा राजसी बुद्धि कैसे बनती है।

गुण बुद्धि की योग्यता का निर्णय करते हैं। बुद्धि कर्म की श्रेष्ठता और निकृष्टता का निर्णय करती है। अर्थात् कौन-सा और कैसा कर्म किया जाये, यह बुद्धि निश्चय करती है। कर्मों से संस्कार बनते हैं और संस्कार स्वभाव अथवा प्रवृत्ति निर्माण करते हैं। इससे फिर अच्छे अथवा बुरे कर्म होते हैं। इस प्रकार कर्म और कर्मफल न टूटनेवाला चक्र चल पड़ता है।

इस कर्म-चक्र अथवा कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए निष्काम कर्म करने को कहा है। इससे कर्मों के संस्कार नहीं बनते और कर्म का चक्र टूट जाता है। इस कर्म-चक्र को तोड़ने का एक अन्य उपाय भी बताया गया है। वह है बुद्धि को योगाभ्यास से परिष्कृत करना। जब बुद्धि सर्वथा निर्मल हो जाती है तो यह इन्द्रियों के ज्ञान से अतिरिक्त देखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लगती है। तब मनुष्य के कर्म भी विलक्षण हो जाते हैं और उनका अधिष्ठान (उद्देश्य) बदल जाता है तथा कर्म-चक्र टूट जाता है। ईश्वर की भक्ति भी इस कर्म-बन्धन को तोड़ सकती है। अतः गीता का यह मत है कि किसी भी वर्ण का मनुष्य उक्त तीनों उपाय प्रयोग में लाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। वर्ण के कर्म मोक्षप्राप्ति में बाधक नहीं होते।[१]

१. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
—भ० गी० १८—४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# उपसंहार

हमने गीता की इस विवेचना के आरम्भ में गीता-प्रवचन का उद्देश्य वर्णन किया है। वह उद्देश्य गीता के प्रथम और द्वितीय अध्याय में इस प्रकार है—

**कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।**
**इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदनः॥**
**गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।**
**हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥** —भ० गी०, २—४,५

अर्जुन के इस संशय पर ही गीता का प्रवचन किया गया था। गीता के अन्त में भगवान् ने पूर्ण प्रवचन का निष्कर्ष इस प्रकार निकाला है—

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता, उसको तू अपने स्वभाव से करेगा। अर्जुन ने कहा था कि वह भीष्म, द्रोण इत्यादि को कैसे मारे? वे तो पूज्य हैं। कृष्ण के कथन का अभिप्राय यह है कि वे उससे लड़ने के लिए युद्धभूमि में आये हैं। इस कारण वह उनसे युद्ध तो करेगा ही। कारण यह कि युद्ध करना उसके स्वभाव में है। वह युद्ध करेगा ही। इस समय वह कह रहा है कि इन पूज्य जनों से युद्ध कैसे करे? परन्तु जब उन्होंने ललकारा तो वह युद्ध से प्लायन नहीं कर सकेगा।[1] वह क्षत्रिय है।

इस कारण उसे अपने वर्ण के कर्म को करना चाहिए, इस वर्ण के कर्म को करते हुए उसको पाप नहीं लगेगा और वह परम पद को पा सकेगा। कारण यह कि अपने स्वाभाविक कर्म को करता हुआ वह उस परमात्मा का पूजन करेगा जो सबमें व्यापक है। इस प्रकार वह परम सिद्धि को प्राप्त करेगा।[2]

---

१. स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

—भ० गी०, १८—६०

२. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

—भ० गी०, १८—४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भगवान् का स्पष्ट आशय यह है कि मनुष्य अपने वर्ण का कर्म करता हुआ भी, आसक्तिरहित बुद्धि से, स्पृहा छोड़कर, अपने मन और इन्द्रियों को वश में कर, परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। इस कारण अपने वर्ण के कर्म को, भले ही वह दोषयुक्त अर्थात् देखने में हीन क्यों न हो, न छोड़े।[१]

श्लोक १८—४६ में लिखा है (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य) अपने कर्मों को करता हुआ, जो पूर्ण जगत् में व्यापक है, उस परमात्मा की भक्ति करे। ऐसा करने से अर्थात् अपने वर्ण का कर्म करने से परमात्मा की भक्ति करता हुआ सिद्धि को प्राप्त होता है।

इस ज्ञान को अर्थात् अपने वर्ण के कर्मों को करते हुए मोक्षप्राप्ति के ज्ञान को श्रीकृष्ण अति रहस्यमय बताते हैं और कहते है—इसके करने से तेरा हित होगा।[२]

ऊपर बताया जा चुका है कि अपने-अपने वर्ण का कर्म करते हुए मनुष्य पाप का भागी नहीं होता (१८—४७)। यदि वे कर्म छोटे भी हैं, तो भी किसी दूसरे वर्ण के बढ़िया कर्मों से अच्छे हैं।

पाप का भागी तब होगा, तब मनुष्य हठपूर्वक उस कर्म को करता है, जिसके न वह योग्य है, न ही जिसके करने का उसे अभ्यास है।

भगवान् ने यह बात अर्जुन को उसके हठपूर्वक युद्ध से उपराम होने पर कही थी। अर्जुन क्षत्रिय था, योद्धा था, युद्ध-कुशल था, युद्ध करने का स्वभाव रखता था। इस कारण अर्जुन को अपने स्वजनों और गुरुजनों को उसे युद्ध में ललकारते सुन, युद्धभूमि को छोड़कर जाते देख कहा था कि इससे घबराना नहीं चाहिए। युद्ध करने से वह किसी पापकर्म का भागी नहीं होगा।

गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान् कृष्ण ने अपने पूर्ण प्रवचन का सारांश कह दिया।

भगवान् ने बताया कि संन्यास कर्मों का त्याग नहीं है। कामनाओं के त्याग

---

१. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

—भ० गी०, १८—४८, ४९

२. इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

—भ० गी०, १८—६३, ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को संन्यास कहते हैं। विचारशील लोग कर्मों के फल के त्याग को ही त्याग मानते हैं।[१]

मैं करनेवाला हूँ, ऐसा जो नहीं मानता, अर्थात् वह कर्म तो करता है, परन्तु मैं करता हूँ ऐसा नहीं मानता, तब वह मनुष्य अपने वर्णधर्म का पालन करता हुआ यदि पूर्ण संसार की भी हत्या कर दे, तो वह किसी की भी हत्या करता हुआ नहीं माना जायेगा।[२]

इस कथन के प्रकाश में नागासाकी और हिरोशिमा के 'ऐटम बमों' द्वारा विनष्ट किये जाने की घटना का अध्ययन करें तो विचार का विषय यह नहीं रह जाता कि कौन और कितने मरे। विचार का विषय यह हो जायेगा कि अमरीका और जापान के युद्ध में कौन सत्य का पक्षपाती था और कौन असत्य का।

यहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के इतिहास को लिखने की आवश्यकता नहीं। यह पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नहीं लिखी जा रही है। इस पर भी यहाँ यह कहने में संकोच नहीं कि वे लोग महामूर्ख हैं जो ऐटम बम की इस कारण निन्दा करते हैं कि इससे पूर्ण विश्व की सभ्यता विनष्ट हो जायेगी।

वर्तमान सभ्यता का नमूना तो रूस ने १९१८ से लेकर १९४८ तक करोड़ों स्वजनों की हत्या कर और चीन ने सन् १९५६-५७ में स्वजनों के रक्त की नदियाँ बहाकर प्रस्तुत किया है। यदि यह सभ्यता विनष्ट होती है तो क्या हानि होगी? भगवद्‌गीता के माननेवाले भी यदि तोते की भाँति वही कुछ उच्चारण करते हैं, जो मूर्ख कम्युनिस्ट अथवा भीरु ईसाई करते हैं, तो विस्मय ही होता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि गीता के माननेवाले भारतवासी अणु बम बनाकर चीन और रूस पर धावा बोल दें। हमारे उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि अणु बम बनाना अथवा न बनाना इस कारण नहीं होना चाहिए कि इससे कितने मर जायेंगे अथवा कितने नहीं मरेंगे। हमें यह देखना है कि हम अधर्माचरण करनेवालों को अपने पर अधर्म नहीं करने देंगे। यदि इससे भी अधिक प्रबल आयुध होगा तो बनायेंगे। यह पाप नहीं होगा। भारत में गीता की मान्यता बहुत है, परन्तु जो लोग गीता पर लम्बे-चौड़े व्याख्यान देते हुए युद्ध के विरुद्ध अथवा शस्त्रास्त्रों के बनाने के विपरीत गीता के प्रमाण दें तो उनको अविद्वान् ही कहना होगा।

साथ ही, हिन्दू समाज में गीता के प्रमाणों से यदि यह सिद्ध करने का यत्न किया जाये कि कर्मत्याग ही मोक्ष का मार्ग है तो उनको मूर्ख कहने के अतिरिक्त अन्य कुछ

---

१. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

—भ० गी०, १८—२

२. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

—भ० गी०, १८—१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कहा ही नहीं जा सकता। ऐसा गीता में नहीं लिखा।

गीता को हाथ में लेकर मूर्ति का पूजन करनेवाले मूर्ख कहायेंगे अथवा धूर्त?

गीता के प्रवचन की सफलता की घोषणा करते हुए गीता के प्रवक्ता ने अर्जुन के मुख से कहाया है कि—

मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे स्मृति (पूर्व ज्ञान) फिर प्राप्त हो गई है। मेरे संशय निवृत्त हो गये हैं। अब मैं आप (कृष्ण) की बात मानूँगा।[1]

किस प्रकार का मोह हो गया था अर्जुन को? इसको जानने के लिए श्लोक १—३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७ का पठन करना चाहिए।

अर्जुन को किस प्रकार स्मृति-भ्रम हुआ था? इसके लिए देखिये, श्लोक २—४, ५, ६, ७, ८।

अर्जुन को किस बात में सन्देह हुआ था? इसके लिए देखिये श्लोक ३—१, २; ५—१ तथा १८—१।

इस मोह के नष्ट हो जाने और स्मृति को पा जाने तथा संशयों के निवृत्त हो जाने पर अर्जुन ने कहा था कि वह अब भगवान् का कहा मानेगा। भगवान् का क्या कहना था? यह जानने के लिए देखिये श्लोक २—१८; २—३७; ३—१९; ४—१५; ८—७; १६—२४।

## प्रयोजन की सार्थकता

विवेचना का प्रयोजन हमने इस पुस्तक के आरम्भ में लिखा है। यहाँ हम यह बताना चाहते हैं कि इस प्रयोजन को हमने किस प्रकार सिद्ध किया है। हमने लिखा है कि कुछ टीकाकारों ने गीता के अर्थों को इतना बिगाड़ दिया है कि इस अद्वितीय ग्रन्थ को माननेवाले और इसको साक्षात् हरिमुख से कहा गया कहते हुए भी, भारतवासी एक सहस्र वर्ष से दासता की धूल चाट रहे हैं।

हमारा मत है कि आर्य हिन्दू समाज में अद्वितीय एवं अपार साहित्य होते हुए भी, ठीक दिशा में कार्य करने का साहस न होने का कारण है कि इस साहित्य को टीकाकारों ने इतना विकृत किया है कि उसका कुछ अर्थ ही नहीं रहा।

देश में मुट्ठी-भर मुसलमान आये और यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर बैठे। यह ठीक है कि जिस सुगमता तथा वेग से मुसलमानों के सम्मुख स्पेन, मिस्र, अफ्रीका के उत्तरी देश तथा मध्य एशिया के ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान इत्यादि देश मिट गए,

---

१. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—भ० गी०, १८—७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वैसे भारत नहीं मिट सका। परन्तु भारत और उनमें तुलना किसी प्रकार भी संतोष का कारण नहीं हो सकती। गीता जैसी अनुपम पुस्तक और गीता के स्रोत वेदादि, उपनिषदों के होते हुए भी यहाँ मुसलमान आये, अंग्रेज आये और नेहरूपंथी आये तथा भारत पर नृशंस राज्य चलाते रहे। यह चमत्कार अकारण नहीं हो सका।

इसका कारण खोजने में ही गीता की यह विवेचना करनी पड़ी है। अतः प्रश्न यह है कि गीता की टीकाएँ विकृत क्यों हो गयीं और दूसरा प्रश्न है कि इस विकृति का समाज पर क्या प्रभाव हुआ?

वेदादि ग्रन्थों का मिथ्या भाष्य करनेवाले और गीता के भ्रष्ट अर्थ करनेवाले भारत में महाभारत काल के उपरान्त उत्पन्न हुए। बौद्धकाल में विकृति अत्यधिक हुई। इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या महात्मा बुद्ध ने किसी प्रकार की खराबी की थी? ऐसा हम नहीं मानते। महात्मा बुद्ध से भी पहले कुछ हुआ था, जिसके कारण महात्मा बुद्ध और बौद्धपंथी यहाँ उत्पन्न हो गये। महात्मा बुद्ध के काल से पहले जो कुछ हुआ, बुद्ध ने उसको सुधारने का यत्न ही किया था।

दुर्भाग्यवश महाभारत और महात्मा बुद्ध के बीच के काल का इतिहास ठीक-ठीक मिलता नहीं। वैसे उस काल के अनेक ग्रन्थ अब उपलब्ध होने लगे हैं। उन ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध में क्षत्रिय वंश का सर्वथा विनाश हो गया था। इनसे राज्य टुकड़े-टुकड़े होकर छोटे-छोटे गणराज्य बन गये थे और विद्वान् ब्राह्मण अपने ज्ञान का प्रयोग और परीक्षण नहीं कर सके थे। सम्पूर्ण भारत में बड़े-बड़े राज्य विनष्ट हो गए थे। राज्य और राज परिवार समाप्त हो गये थे तथा देश छोटे-छोटे गणतंत्रों में विभक्त हो गया था।

इस दुर्भाग्य का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि हम कल्पना करें कि किसी महान् युद्ध के कारण अमरीका और रूस विखण्डित होकर छोटे-छोटे स्वतन्त्र गणराज्यों में विभक्त हो जायें और देश की रक्षा करनेवाला क्षत्रिय वंश निर्मूल हो जाए तो जो ह्रास ज्ञान-विज्ञान एवं अन्य कृतियों में होगा, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। चाँद और मंगल पर जानेवाले रॉकेट, शनि और बुध की जाँच-पड़ताल करनेवाले यान, सब असम्भव हो जायेंगे। किसी भी राज्य के पास हाइड्रोजन बम इत्यादि बनाने की सामर्थ्य नहीं रहेगी। उस समय यदि कोई वैज्ञानिक कुछ करोड़ डालर के मूल्य का कोई यंत्र बनवाना चाहेगा तो कोई भी राज्य बनाने की सामर्थ्य नहीं रखेगा। वैज्ञानिक मुख देखते रह जायेंगे और उनका सब ज्ञान पुस्तकों में ही लिखा रह जायेगा। इस प्रकार विज्ञान विलुप्त होने लगेगा।

कुछ ऐसी ही बात भारतवर्ष में हुई प्रतीत होती है। कलि संवत् १ से लेकर कलि संवत् १३०० तक भारतवर्ष में वही हुआ, जिसकी, वैसी अवस्था में वर्तमान उन्नत देशों में होने की सम्भावना की जा सकती है। क्षत्रियों तथा राज्यों के विनष्ट हो जाने से ब्राह्मणों की विद्वत्ता भी विलुप्त हो गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जब महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ उस समय तक ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व क्षीण हो चुका था और सामन्ती प्रवृत्तिवालों ने मनमाने पंथ चलाये और सुखभोग के साधन एकत्रित करना मुख्य मान, वेग से उस ओर चल पड़े।

पहले राजवंश विनष्ट हुए। फिर राज्य विघटित हो छोटे-छोटे गणराज्य बने। इसके उपरान्त ज्ञान-विज्ञान विलुप्त हुआ। ब्राह्मण केवल पुरोहित और पुजारी रह गये। वैश्य और शूद्रों ने उच्छृंखल हो अपने मन के पंथ चलाये। इससे समाज घोर पतनोन्मुख हो गया।

इस पतन को देख महात्मा बुद्ध ने इस अवस्था को सुधारने का यत्न करना चाहा। महात्मा घर से निकले थे मानव-जीवन के महान् शत्रु मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए, परन्तु समाज की घोर पतित अवस्था देख इसके सुधार में लग गये। वे समाज के घटकों को श्रेष्ठ बनाने में लग गये। उनको कुछ ऐसा भास हुआ कि शीलनिर्माण (चरित्र उच्च करने) से ही मृत्यु का पार पाया जा सकेगा।

तत्कालीन समाज अपनी पतनोन्मुखी प्रवृत्ति को उचित सिद्ध करने के लिए वेदादि शास्त्रों के उद्धरण देते थे। समाज में वेदों की महिमा तो थी; पर तामसी पंथों ने इनका आश्रय लेते हुए अपनी मनमानी चलानी आरम्भ कर दी। शाक्त, वाममार्ग इत्यादि मतमतान्तरों ने वेदादि शास्त्रों से ही अपने मतों का उद्गम बताना आरम्भ कर दिया। इससे ये शास्त्र बदनाम हो गए।

अतः बुद्ध ने वेदादि शास्त्रों को एक तरफ करके मानव के कल्याण की बात करनी आरम्भ कर दी। महात्मा बुद्ध द्वारा, वेदादि शास्त्रों की इस अवहेलना के कारण बौद्ध मतानुयायियों ने इन शास्त्रों की निन्दा करनी आरम्भ कर दी। ब्राह्मणों में विद्वत्ता के लोप होने से कुछ विषयलोलुप धूर्तों ने वेदों के मिथ्या अर्थ लगाकर अपने मत-मतान्तरों को वेदों से ही निकला बताने का यत्न किया और बौद्धों ने वेदों को ही निन्दनीय घोषित कर दिया।

इस प्रकार देश में बौद्धिक संघर्ष चल पड़ा। एक ओर विषयलोलुप वाममार्गी और दूसरी ओर वेदों को न समझनेवाले वेदपाठी, पाठ मात्र से चिपटे हुए ब्राह्मण तथा इस त्रिभुज की तीसरी ओर वेदनिन्दक बौद्ध और जैन थे। इस संघर्ष से देश बौद्धिक दृष्टि से टूक-टूक हो गया। समाज सांस्कृतिक दृष्टि से विभक्त हो गया और वितण्डावाद का व्यापक प्रचार हुआ।

इस स्थिति से जो कुछ बन सकता था वह गुप्तकाल में बना। यह था धर्म का ह्रास और फिर वर्तमान रूप जिसकी पुराणों में स्पष्ट झलक मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि न तो धर्म का सत्य स्वरूप प्रकट हो सका, न ही संस्कृति का पुनरुद्धार हो सका। उत्तर महाभारत काल में क्षत्रियों के अभाव से राज्य विखण्डित हुए। इससे ब्राह्मणों की प्रथा लोप हुई और उससे मिथ्या मत-मतान्तर तथा भोग-विलास की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इस दुर्व्यवस्था को सुधारने के लिए बौद्ध और जैन बने, परन्तु इन मतों के प्रवर्तक वेदों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अनभिज्ञ होने के कारण, पहले उनकी अवहेलना और फिर उनकी निन्दा करनेवाले बन गये। इसकी प्रतिक्रिया गुप्तकाल में हुई, परन्तु धर्म और संस्कृति का वह स्वरूप नहीं बन सका, जो शास्त्रोक्त था।

इस समय बौद्धों में महायान मत प्रचलित हुआ और उसने सांख्य इत्यादि का आश्रय लेकर वेदमत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया शंकर का वेदान्त मत हुआ। बौद्ध मत के खण्डन में वैष्णव मत का विचार किया गया और वैष्णव मत को निस्तेज करने के लिए बौद्ध मत का महायान रूप निर्माण किया गया। इसका विरोध करने के लिए स्वामी शंकराचार्य ने वर्तमान वेदान्त का, जो वास्तव में अद्वैतवाद कहा जा सकता है, निरूपण किया।

अद्वैतवादियों ने वेदों की अवहेलना की है। वे बौद्धों द्वारा किये गये वेदों पर आक्षेपों का उत्तर नहीं दे सके। उन्होंने उपनिषदों का आश्रय लिया और उनमें से अपने अद्वैतवाद को निकालने का यत्न किया। ऐसा करने में प्रयोजन था बौद्धों और जैनियों के अनीश्वरवाद को असिद्ध करना। उन्होंने ईश्वर की सिद्धि तो कर दी, परन्तु पूर्ण जगत् को एक ही तत्त्व मानकर चलने से, मूल तत्त्व जड़ है अथवा चेतन, इसका निर्णयात्मक उत्तर नहीं दे सके।

शंकर का अद्वैतवाद और बौद्धों का जड़वाद लगभग समान हो गये। नाम भिन्न रहे परन्तु दोनों ही समानान्तर रेखाओं में चलते रहे। परिणाम भी लगभग समान ही हुए। ईश्वर को माननेवाले, कर्म और कर्मफल के माननेवाले तथा आत्मा के अमरत्व पर विश्वास रखनेवाले भीरु, स्वार्थी और मरने से डरनेवाले हो गये। सबसे बुरी बात यह हुई कि कर्म त्याज्य मान लिया गया। ज्ञान और कर्म को परस्पर विरोधी मान कर्म का त्याग श्रेयकारक माना जाने लगा। इसने अकर्मण्यता को जन्म दिया।

सौभाग्य से इस देश में १९वीं सदी में स्वामी दयानन्द सरस्वती उत्पन्न हुए। उन्होंने सिद्ध किया कि वेद ज्ञान-विज्ञान के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। इस प्रकार वेदों को सत्य ज्ञान के ग्रंथों के रूप में प्रतिष्ठित किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों (ऋक्, यजु, साम, और अथर्व) को ईश्वरीय ज्ञान घोषित कर उसे स्वतः प्रमाण माना और वेद विरुद्ध किसी भी ग्रन्थ को अमान्य घोषित कर दिया। स्वामीजी ने बताया कि वेदों की व्याख्या करनेवाले ग्रन्थ ब्राह्मण, उपनिषद् और दर्शन शास्त्र हैं। इनके अर्थों और वेदार्थ में समानता है। कहीं असमानता दिखाई देने पर वेदों को उन्होंने मान्यता दी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् और दर्शन शास्त्रों को वेदों का समर्थक और समानार्थवाची माना। यह ठीक है कि इन ग्रन्थों में वर्णित विषय भिन्न-भिन्न होने के कारण सबमें सब बातें नहीं। फिर भी इनमें परस्पर विरोध नहीं। जहाँ कहीं विरोध दिखाई दे, वहाँ उनमें सामंजस्य वेदों से मिलान करके बैठाया जा सकता है।

स्वामीजी के काल के कुछ एक हिन्दू विद्वान् दर्शन शास्त्रों और उपनिषदों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मतभेद देखते थे। स्वामीजी ने उनका खण्डन किया और यह सिद्ध कर दिया कि आर्ष ग्रन्थों में मतभेद नहीं। मतभेद अशिक्षितों को दिखाई देता है।

इसी सन्दर्भ में स्वामीजी के सम्मुख भगवद्गीता का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस ग्रन्थ के विषय में भी स्वामीजी ने कसौटी वेद को ही रखा। अपने प्रारम्भिक जीवन में स्वामीजी गीता का उपदेश और प्रचार करते रहे, परन्तु बाद के जीवन में उन्होंने गीता को छोड़ अपना पूर्ण समय और बल, वेद मत के निरूपण में लगा दिया।

स्वामीजी गीता का विरोध करते थे अथवा नहीं करते थे, यह स्पष्ट नहीं है। कारण यह कि उन्होंने अपनी शक्ति और समय वेदमत के प्रतिपादन पर लगा दिया था। एक स्थल पर किसी के प्रश्न पूछने पर कि क्या कृष्ण परमात्मा थे, उन्होंने अपने को गीता में परमात्मा माना है? स्वामीजी ने कहा कि यह वेद विरुद्ध होने से गलत है, परमात्मा जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आता। हाँ, यदि कृष्ण को महापुरुष माना जाये और यह समझकर कि मुक्त पुरुष के नाते, कृष्ण साधुओं के परित्राण के लिए बार-बार इस भूमण्डल पर आये हैं तो आपत्ति नहीं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य उपनिषदादि ग्रन्थों की भाँति कुछ विद्वानों ने गीता के अर्थ विकृत किये हैं। स्वामीजी ने गीता के विषय में भ्रम-निवारण की अपेक्षा अपनी पूर्ण शक्ति वेदों के विषय में भ्रम-निवारण पर लगा दी थी।

हमने गीता की विवेचना महर्षि स्वामी दयानन्दजी के मत को ठीक मानकर की है। हमने गीता का अधिकांश प्रवचन वेदानुसार माना है। केवल एक स्थान पर वेद से मतभेद का भी उल्लेख किया है। वह मुक्त जीवों के पुनः जन्म लेने के विषय में है। इस विषय में प्रत्यक्ष रूप में गीता और वेद में मतभेद है। हमने वेदमत को ठीक माना है।

हमारा मत है कि जहाँ-जहाँ गीता और उपनिषद् में न लौटने (न पुनरावृत्ति) की बात लिखी है, उसका अर्थ यह है कि कर्म-बन्धन में फँसा हुआ व्यक्ति जैसे बार-बार जन्म लेता है, वैसे मुक्त जीव नहीं लेता। इस पर भी यह हम ऊपर लिख आये हैं कि वहाँ 'नावर्तन्ते' का अभिप्राय चिरकाल तक न लौटने का है। सदा के लिए नहीं। इसका एक प्रमाण नारायणी उपनिषद् (११—३) खेमराज कृष्णदास प्रेस, बम्बई में प्रकाशित (१९१०) में इस प्रकार मिलता है—

**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।**
**ते ब्रह्मलोकेषुः परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥** (११—६)

यहाँ शब्द 'परामृतात्' है। इसका अर्थ है मोक्ष से (पंचमी विभक्ति है) लौट आता है। मुण्डकोपनिषद् (३-२-६) में भी यही मन्त्र है, परन्तु 'परामृतात्' को बदलकर 'परामृताः' कर दिया है। हमारा विचार है कि 'परामृतात्' पाठ ठीक है।[1]

---

१. इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिए लेखक का 'ब्रह्मसूत्र सरल-सुबोध भाषा-भाष्य' के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद का भाष्य देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सत्य ज्ञान-रूपी संस्कारों के संचय से जीव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है, परन्तु संस्कार धीरे-धीरे क्षीण हो जाते हैं। जब संस्कार निःशेष हो जाते हैं, तो जीवात्मा पुनः प्रकृति के भोग की इच्छा करता है और शरीर में लिप्त हो प्रकृति का भोग करने लगता है।

हमने यह बताया है कि वेद में भी मुक्त जीवों का पुनः संसार में लौटना लिखा है। और छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक स्थान पर लिखा है कि मुक्त जीव मन्वन्तर के उपरान्त संसार में (जन्म-मरण योनि में) लौट आते हैं।

इसके अतिरिक्त गीता सर्वथा वेदमत के अनुकूल है।

मुख्य-मुख्य बातें, जिनको हमने इस विवेचना में प्रतिपादित बताया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) शरीर नाशवान् है। आत्मा अविनाशी है।

(२) धर्मयुद्ध करना क्षत्रियों का धर्म है। इससे कीर्ति, श्री और विजय प्राप्त होती है।

(३) धर्मयुद्ध में हत्याएँ हो जायें तो उनसे पाप नहीं लगता। पाप कर्मों को विकर्म कहते हैं। धर्मयुद्ध करना विकर्म नहीं है।

(४) कर्म और विकर्म में भेद करने के लिए व्यावसायात्मिका बुद्धि की आवश्यकता रहती है। इसी को स्थिर बुद्धि कहते हैं।

(५) सांसारिक भोगों की लालसा में बुद्धि अस्थिर हो जाती है। मनुष्य की आयु और सामर्थ्य सीमित है, परन्तु भोग असंख्य हैं। इस कारण भोगों की लालसा करनेवाले की बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। स्थिर बुद्धि होती है इन्द्रियों को संयम में रखने से, परमात्मा के परायण रह कर्म करने से, निराशी अर्थात् किसी प्रशंसा-निन्दा की आकांक्षा न रखने से, प्रत्येक परिस्थिति में समभाव रहने से और कर्म में कुशलता से। कर्म में कुशलता का अर्थ है कर्मफल की इच्छा छोड़कर कर्म करना।

(६) इन्द्रियों के विषयों का ध्यान छोड़ने से बुद्धि स्थिर होती है। कारण यह है कि विषयों का चिन्तन करने से आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनाओं से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से भ्रम और फिर उससे बुद्धि का विनाश होता है। इससे प्राणी का घोर पतन होता है।

(७) एक क्षण के लिए भी मनुष्य कर्म के बिना नहीं रह सकता। कर्म मन पर संस्कार उत्पन्न करते हैं और संस्कार कर्मफल लाते हैं। फल भोगने के समय पुनः कर्म होते हैं और उनका फिर फल प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म और कर्मफल का एक चक्र चल पड़ता है और दोनों में एक अटूट शृंखला बन जाती है। इस शृंखला को तोड़ने के लिए कर्म तो छोड़ा नहीं जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर्मफल से ही छुटकारा पाना आवश्यक है। कर्मफल से छुटकारा पाने के लिए निष्काम भाव से कर्म करना ही एक उपाय है। निष्काम भाव से किये कर्म मन पर संस्कार नहीं छोड़ते। अतः कर्मफल निःशेष हो जाते हैं और मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्ति पा जाता है।

निष्काम भाव से कर्म करने में सत्य ज्ञान सहायक होता है। इसीलिए कहा है कि ज्ञान कर्मों को दग्ध कर देता है, अर्थात् ज्ञान से कर्मफल निःशेष हो जाते हैं। ज्ञान के आश्रय कर्म को करता हुआ मनुष्य कर्मफल की कामना नहीं रखता। इसी से कर्म-बन्धन छूट सकता है।

(८) ज्ञान-प्राप्ति के लिए बुद्धि का निर्मल होना आवश्यक है। बुद्धि योगाभ्यास से निर्मल होती है। बुद्धि के निर्मल होने से ज्ञान प्राप्त होता है और फल की कामनाएँ विलुप्त हो जाती हैं।

(९) कर्मफल की कामना छोड़ी जा सकती है जीवन को यज्ञमय बनाने से। यज्ञ का अर्थ है कर्मों का सर्वहिताय करना। यज्ञ कर्म में मुख्य प्रयास तो सर्वहिताय ही होता है और यज्ञ कर्म से अवशेष (जो कुछ बच जाये) उससे जीवनयापन किया जा सकता है । इस प्रकार का (यज्ञ रूप में) कर्म मनुष्य को बाँधता नहीं।

(१०) अपने सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करने से कर्मों के संस्कारों से बचा जा सकता है। कर्मों को ब्रह्मार्पण करने की प्रवृत्ति परमात्मा की भक्ति से उत्पन्न होती है।

(११) परमात्मा की भक्ति ब्रह्म के समग्र रूप को जानने से हो सकती है। परमात्मा तथा उससे सम्बन्धित पदार्थों का सत्य ज्ञान ही भक्ति में सहायक होता है।

(१२) परमात्मा और उससे सम्बद्ध पदार्थों का समग्र ज्ञान परमात्मा की भक्ति के लिए आवश्यक है। परमात्मा और उससे सम्बद्ध पदार्थों को ब्रह्म कहते हैं।

(१३) ब्रह्म अक्षर पदार्थों को कहते हैं। ये तीन हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। प्रकृति के दो रूप हैं—अव्यक्त और व्यक्त। प्रकृति का अव्यक्त रूप ही अक्षर है। सर्ग से पहले और प्रलय के उपरान्त प्रकृति अव्यक्त रूप में मिलती है। प्रकृति के व्यक्त रूप को अष्टधा माना है। इसके आठ रूप हैं—महत्, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी।

(१४) प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। परमात्मा निमित्त कारण है।

(१५) प्रकृति अव्यक्त रूप में अनादि है। पुरुष (आत्म-तत्त्व) भी अनादि है। प्राणी का शरीर प्रकृति के व्यक्त रूप से बना होता है। यह नाशवान् है। इससे क्षेत्र कहा जाता है।

(१६) जीवात्मा को, जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है, क्षेत्र माना है। यह यज्ञ है। जहाँ तक चेतना का सम्बन्ध है, परमात्मा का सहजातीय है। इस पर भी यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परमात्मा से भिन्न है।

(१७) जीवात्मा क्षेत्रज्ञ नहीं है। हाँ, प्रयत्न करने से यह ज्ञानवान् हो सकता है। तब इसको मुक्त जीव कहते हैं। उस समय भी दोनों में अन्तर, सर्वज्ञ होने तथा सीमित ज्ञान रखने का, बना रहता है।

(१८) प्राणी का शरीर नाशवान् हैं। जीवात्मा नाश को प्राप्त नहीं होता। शरीर के हृदय की गुहा में स्थित शरीरी (जीवात्मा) रहता है। इन दोनों के अतिरिक्त एक पुरुषोत्तम है, जो ईश्वर, परमात्मा इत्यादि कहलाता है। यह पूर्ण जगत् में रहने से शरीर की गुहा में भी होता है। वहाँ जीवात्मा भी रहता है। इससे यदि जीवात्मा अपना मुख इन्द्रिय-विषयों से मोड़ ले, तो उसे परमात्मा के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

(१९) इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जड़ पदार्थ हैं और प्राणी के शरीर में करण कहाते हैं। इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं और मन तथा बुद्धि अन्तःकरण। इन दोनों प्रकार के करणों से जीवात्मा कार्य लेता है। इन्द्रियों से बाह्य ज्ञान मन को मिलता है और संचित ज्ञान, बुद्धि द्वारा निरीक्षण के उपरान्त आत्मा को प्राप्त होता है। मन द्वारा आत्मा उस ज्ञान को कर्म करने में प्रयोग करता है। तब कर्मेन्द्रियाँ आत्मा के आदेश से काम करती हैं।

(२०) संस्कार मन पर बनते हैं। मन से वे संस्कार आत्मा पर जाते हैं। जिन संस्कारों का सम्बन्ध सांसारिक कार्यों से है, वे मन तक ही रहते हैं परं आध्यात्मिक ज्ञान (संस्कार) आत्मा तक जाते हैं।

(२१) बुद्धि अव्यक्त प्रकृति में विकार का प्रथम परिणाम है। यह जीवात्मा के साथ शरीर के हृदय की गुहा में रहती है। इसका कार्य है ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का विश्लेषण कर, उसका उपयोगी अथवा अनुपयोगी होना, बताना। बुद्धि का निर्णय बुद्धि की निर्मलता और विकास पर निर्भर करता है। बुद्धि की निर्मलता और विकास मनुष्य के सुकृतों और योगाभ्यास से होता है। योगाभ्यास और सुकृतों से बुद्धि सतोगुण-प्रधान हो जाती है और प्रवृत्ति-निवृत्ति, सत्य-असत्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य सबको ठीक-ठीक रूप में समझने लगती है।

मुख्य रूप में बुद्धियाँ तीन प्रकार की हैं—सात्त्विक, राजसी और तामसी। यों तो तीनों प्रकार की बुद्धि में तीनों गुण रहते हैं, परन्तु प्रत्येक में एक गुण प्रधान रहता है और अन्य दो गुण गौण होते हैं। इन गुणों की परस्पर तुलना के अनुसार बुद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। मनुष्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान की विवेचना भिन्न-भिन्न प्रकार की बुद्धियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से करता है। इस प्रकार आत्मा को निदर्शन भी भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(२२) ये गुण प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुण ही हैं। प्रकृति की मूलावस्था में वे गुण साम्यावस्था में रहते हैं। इस अवस्था को ईश्वर की सामर्थ्य से ही भंग किया जा सकता है और जब ये गुण पृथक्-पृथक् कार्य करने लगते हैं तो व्यक्त चराचर जगत् बनता है। ईश्वर इन गुणों को पृथक्-पृथक् करने के कारण ही चराचर जगत् का कर्त्ता माना जाता है।

(२३) जीवात्मा इस चराचर व्यक्त जगत् का भोक्ता है, परन्तु परमात्मा इससे अलिप्त है। फिर भी, इस पर नियन्त्रण रखनेवाला है। सर्ग के अन्त में गुण पुनः संतुलित अवस्था में ईश्वर से लाए जाते हैं। इसी कारण सर्ग के अन्त में प्रलय करनेवाला भी परमात्मा ही माना जाता है।

(२४) गीता में इस सबका निष्कर्ष, यह निकाला गया है कि जीव संसार में कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म करना आवश्यक है और कर्मफल भोगना आवश्यक है। कर्मफल के चक्र से निकलने का उपाय है विकर्मों से बचा जाये। विकर्मों से बचने के लिए बुद्धि की निर्मलता अत्यावश्यक है। निर्मल बुद्धि द्वारा ही निष्काम भाव से कर्म करना सम्भव हो सकता है। नियत कर्म अर्थात् वर्णाश्रम के कर्म जब निष्काम भाव से किये जाते हैं तो कर्म-चक्र टूट जाता है और मनुष्य मुक्त हो जाता है। अतः धर्म के निमित्त लड़ा हुआ युद्ध कर्म भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हो सकता है।

□□□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# प्रमाणानामानुक्रमणिका

## अ


| प्रमाण | ग्रंथ | पृष्ठ |
|---|---|---|
| अकीर्ति चापि भूतानि | भ० गी० २-३४ | ३८ |
| अक्षरं ब्रह्म परमम् | भ० गी० ८-३ | १०६ |
| अक्षोभ्योऽयममेधश्च | महा भा०, भी० प० २१-४ | १४ |
| अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः | भ० गी० ८-२४ | १४२ |
| अच्छेद्योऽयमदाह्यो— | भ० गी० २-२४ | ३५ |
| अथ चित्तं समाधातुम् | भ० गी० १२-९ | १६८ |
| अथ चेत्वमिमं धर्म्यम् | भ० गी० २-३३ | ३२, ३८ |
| अथ चैनं नित्यजातम् | भ० गी० २-२६ | ३५ |
| अथ त्रिविधदुःखात्यन्त— | सां० द० १-१ | ७८ |
| अथवा बहुनैतेन किम् | भ० गी० १०-४२ | १५८ |
| अथवा योगिनामेव कुले | भ० गी० ६-४२ | १००, १९३ |
| अथैतदप्यशक्तोऽसि | भ० गी० १२-११ | १६८ |
| अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि | भ० गी० ११-४५ | १६३ |
| अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् | भ० गी० १२-१३ | १६९ |
| अधर्मं धर्ममिति | भ० गी० १८-३२ | ७६, २०१ |
| अधर्माभिभवात्कृष्ण | भ० गी० १-४१ | २४ |
| अधिभूतं क्षरो भावः | भ० गी० ८-४ | १०६ |
| अधियज्ञः कथं कोऽत्र | भ० गी० ८-२ | १०५ |
| अधिष्ठानं तथाकर्त्ता | भ० गी० १८-१४ | ७३, २०८ |
| अनन्यचेताः सततम् | भ० गी० ८-१४ | १३८ |
| अनन्याश्चिन्तयन्तो | भ० गी० ९-२२ | १४८ |
| अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम् | भ० गी० ११-१९ | १६० |
| अनीशश्चात्मा बध्यते | श्वे० उ० १-८ | ११८ |
| अनुबंधं क्षयं हिंसाम् | भ० गी० १८-२५ | ७७ |
| अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं | भ० गी० ११-१६ | १६० |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| अनेकवक्त्रनयनमनेकात् | भ० गी० ११-१० | १५९ |
| अन्तकाले च मामेव | भ० गी० ८-५ | १०६ |
| अन्तवत्तुफलं तेषाम् | भ० गी० ७-२३ | १३३ |
| अन्तवत इमे देहा | भ० गी० २-१८ | २५ |
| अन्नाद्भवन्ति भूतानि | भ० गी० ३-१४ | ८४ |
| अपरेनियताहाराः | भ० गी ४-३० | ९० |
| अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिम् | भ० गी० ७-५ | १०६ |
| अपाने जुह्वति प्राणम् | भ० गी० ४-२९ | ९० |
| अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च | भ० गी० १४-१३ | १९१ |
| अभयं सत्त्वसंशुद्धिः | भ० गी० १६-१ | २०४ |
| अभ्यास योगयुक्तेन चेतसा | भ० गी० ८-८ | १३८ |
| अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि | भ० गी० १२-१० | १६८ |
| अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य | भ० गी० ११-२६ | १६० |
| अवजानन्ति मां मूढा | भ० गी० ९-११ | १४६,१६७ |
| अवाच्यवादांश्च बहून् | भ० गी० २-२६ | ३८ |
| अविनाशि तु तद्विद्धि | भ० गी० २-१७ | ३४ |
| अविभक्तं च भूतेषु | भ० गी० १३-१६ | ११५,१३१ |
| अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम् | भ० गी० ७-२४ | १६१ |
| अव्यक्तादीनि भूतानि | भ० गी० २-२८ | ३५ |
| अव्यक्ताद् व्यक्तयः | भ० गी० ८-१८ | १३९ |
| अव्यक्तोऽक्षरः इत्युक्तस्तामाहुः | भ० गी० ८-२१ | १४० |
| अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम् | भ० गी० ७-२४ | १३४ |
| अव्यक्तोऽयमचिन्त्यो— | भ० गी० २-२५ | ३५ |
| अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् | भ० गी० २-११ | ३३ |
| अश्रद्दधाना पुरुषा | भ० गी० ९-३ | १४४ |
| असंयतात्मना योगो | भ० गी० ६-३६ | ९९ |
| असंशयं महाबाहो | भ० गी० ६-३५ | ९९ |
| असक्तबुद्धिः सर्वत्र | भ० गी० १८-४९ | २१३ |
| असुर्या नाम ते लोका | ईशा० उप० ३ | १२७ |
| अहं क्रतुरहं यज्ञः | भ० गी० ९-१६ | १४७ |
| अहं सर्वस्य प्रभवो | भ० गी० १०-८ | १५४ |
| अहं हि सर्वयज्ञानाम् | भ० गी० ९-२४ | १४९ |
| अहमात्मा गुडाकेश | भ० गी० १०-२० | १५६ |
| अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः | भ० गी० १६-२ | २०४ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| अहिसां समता तुष्टिस्तपोः | भ० गी० १०-५ | १५३ |

आ

| | | |
|---|---|---|
| आचार्याः पितरः | भ० गी० १-३४ | २४ |
| आत्मौपम्येन सर्वत्र समम् | भ० गी० ६-३२ | ९७ |
| आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम् | भ० गी० २-७० | ५८ |
| आब्रह्मभुवन्नाल्लोकाः | भ० गी० ८-१६ | १३९ |
| आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम् | भ० गी० ६-३ | ९४ |

इ

| | | |
|---|---|---|
| इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम् | भ० गी० १३-६ | ११२ |
| इति गुह्यतमं शास्त्रम् | भ० गी० १५-२० | ११०, २०० |
| इति ते ज्ञानमाख्यातम् | भ० गी० १८-६३ | २१३ |
| इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथो— | भ० गी० ११-५० | १६३ |
| इदं ज्ञानमुपाश्रित्य | भ० गी० १४-२ | १८६ |
| इदं शरीरं कौन्तेय | भ० गी० १३-१ | १११ |
| इन्द्रियाणां हि चरताम् | भ० गी० २-६७ | ५७ |
| इन्द्रियाणि पराण्याहुः | भ० गी० ३-४२ | ५४ |
| इष्टान्भोगान्हि वो देवा | भ० गी० ३-१२ | ८१ |
| इहैव तैर्जितः सर्गो | भ० गी० ५-१९ | १८३ |

ई

| | | |
|---|---|---|
| ईशा वास्यामिदँ सर्वम् | यजु० ४०-१ | ११५ |

उ

| | | |
|---|---|---|
| उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः | भ० गी० १५-१७ | १०९, २०० |
| उत्क्रामन्तं स्थितं वापि | भ० गी० १५-१० | १९८ |
| उदाराः सर्व एवैते | भ० गी० ७-१८ | १३१ |
| उदासीनवदासीनो | भ० गी० १४-२३ | १९५ |
| उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ताम् | भ० गी० १३-२२ | ११३ |

ऊ

| | | |
|---|---|---|
| ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था | भ० गी० १४-१८ | १९२ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




ऋ

| | | |
|---|---|---|
| ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य | कठो० १-३-१ | ५४ |

ए

| | | |
|---|---|---|
| एकादशपञ्चतन्मात्रम् | सांख्य द० २-१७ | ११० |
| एतद्योनीनि भूतानि | भ० गी० ७-६ | १०७ |
| एतां विभूतिं योगं च | भ० गी० १०-७ | १५४ |
| एतान्न हन्तुमिच्छामि | भ० गी० १-३५ | २४ |
| एनमेवार्थमाश्रित्य | महा भा० भी० प० २१-९ | १५ |
| एवं ज्ञात्वा कृतम् | भ० गी० ४-१५ | ६७ |
| एवं प्रवर्तितं चक्रम् | भ० गी० ३-१६ | ८४ |
| एवं बहुविधा यज्ञा | भ० गी० ४-३२ | ९० |
| एवं बुद्धेः परम् | भ० गी० ३-४३ | ५४ |
| एषा ब्राह्मी स्थितिः | भ० गी० २-७२ | ५८ |
| एवं राजन् विजानीहि | महा० भा०, भी० प० २१-१२ | १५ |
| एवं सततयुक्ता | भ० गी० १२-१ | १६१ |
| ऐषा तेऽभिहिता | भ० गी० २-३९ | ४४,१४२ |

ओ

| | | |
|---|---|---|
| ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म | भ० गी० ८-१३ | १३७ |

क

| | | |
|---|---|---|
| कथं न ज्ञेयमस्माभि | भ० गी० १-३९ | २४ |
| कथं विद्यामहं योगिस्त्वाम् | भ० गी० १०-१७ | १५६ |
| कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि | भ० गी० ३-१५ | ८४ |
| कर्मजं बुद्धियुक्ता | भ० गी० २-५१ | ४५,५०,१७२ |
| कर्मणा वै पुरा | म० भा०, शां० ६४-२३ | ३२ |
| कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम् | भ० गी० ४-१७ | ६१ |
| कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि | भ० गी० ४-१८ | ६२ |
| कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु | भ० गी० २-४७ | ५०,१७१ |
| कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियरान्तकम् | सां० द० २-१९ | ११० |
| कविं पुराणमनुशासित | भ० गी० ८-९ | १०३,१२१ |
| कामक्रोधवियुक्तानाम् | भ० गी० ५-२६ | १२० |
| कामात्मानः स्वर्गपरा | भ० गी० २-४३ | ४७ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः | भ० गी० ७-२० | १३२ |
| काम्यानां कर्मणां न्यासम् | भ० गी० १८-२ | २१४ |
| कायेन मनसा बुद्ध्या | भ० गी० ५-११ | ६६,१८२ |
| कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः | भ० गी० १३-२० | ११७ |
| किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम् | भ० गी० ८-१ | १०५ |
| किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या | भ० गी० ९-३३ | १६७ |
| किरीटिनं गदिनं चक्रिणम् | भ० गी० ११-१७ | १६० |
| कुतस्त्वा कश्मलम् | भ० गी० २-२ | १२ |
| कुलक्षये प्रणश्यन्ति | भ० गी० १-४० | २४ |
| कुलीनस्य च या निन्दा | म० भा० उद्यो० ७३-२४ | ३९ |
| क्रोधाद्भवति संमोहः | भ० गी० २-६३ | ५६ |
| कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यम् | भ० गी० १८-४४ | २०८ |
| क्लेशोऽधिकतरस्तेवाम् | भ० गी० १२-५ | १६५ |
| क्लैब्यं मा स्म | भ० गी० २-३ | १२ |
| क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य | महा० भा०, शां० प० २२-२ | १३ |
| क्षत्रियाणां महाराज | महा० भा०, शां० प० २२-३ | १३ |
| क्षात्रधर्मो महारौद्रः | महा० भा०, शां० प० २२-५ | १४ |
| क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि | भ० गी० १३-२ | १११ |


### ग


| | | |
|---|---|---|
| गतसंगस्य मुक्तस्य | भ० गी० ४-२३ | ७९ |
| गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी | भ० गी० ९-१८ | १४७ |
| गामाविश्य च भूतानि | भ० गी० १५-१३ | १९९ |
| गीता सुगीता कर्तव्या | महा० भा०, भीष्मपर्व ४३ | ८ |
| गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः | सांख्य ५-२६ | ७७ |
| गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही | भ० गी० १४-२० | १९४ |


### च


| | | |
|---|---|---|
| चंचलं हि मनः कृष्ण | भ० गी० ६-३४ | ९९ |
| चतुर्भिरपि चैवतैः | मनु० ६-९१ | ५९ |
| चतुर्विधा भजन्ते माम् | भ० गी० ७-१६ | १३० |
| चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् | भ० गी० ४-१३ | ६९ |
| चेतसा सर्व कर्माणि | भ० गी० १८-५७ | १६७ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




ज

| | | |
|---|---|---|
| जपन् वेदानज पश्चापि | महाभा०. शां० ६३-५ | २०९ |
| ज्ञाज्ञौ द्वावजावी | श्वे० उ० १-९ | ७३ |
| ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् | भ० गी० ७-२ | १०३ |
| ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये | भ० गी० ९-१५ | १४७ |
| ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा | भ० गी० ६-८ | ९५ |
| ज्ञानेन तु तदज्ञानम् | भ० गी० ५-१६ | १८३ |
| ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि | भ० गी० १३-१२ | ११४ |
| ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी | भ० गी० ५-३ | १८१ |
| जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः | भ० गी० २-२६ | ३५ |
| जितात्मनः प्रशान्तस्य | भ० गी० ६-७ | ९४ |
| ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते | भ० गी० ३-१ | १७४ |
| ज्योतिषामपि तज्जयोतिः | भ० गी० १३-१७ | ११६,१३१ |

त

| | | |
|---|---|---|
| तं दुर्दश गूढमनु | कठो० १-२-१२ | ५४ |
| तं विद्याद्दुःखसंयोग— | भ० गी० ६-२३ | ९७ |
| ततः प्रकृतेः | सां० द० १-६५ | ११० |
| तत्क्षेत्र यच्च यादृक्च | भ० गी० १३-३ | १११ |
| तत्र तं बुद्धिसंयोगम् | भ० गी० ६-४३ | १००,१९३ |
| तत्र ते कारणम् | महा० भा०, भी० प० २१-८ | १५ |
| तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् | भ० गी० १४-६ | १९१ |
| तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नम् | भ० गी० ११-१३ | १५९ |
| तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा | भ० गी० ६-१२ | ९६ |
| तत्रैवं सति कर्तारम् | भ० गी० १८-१६ | ७३ |
| तत्सन्निधानादधिष्टातृत्वम् | सां० द० १-९६ | १५८ |
| तथाशील समाचारे | म० भा०, उद्यो० ७३-१४ | ३९ |
| तदेजति तन्नैजति तद्— | यजु० ४०-५ | ११५ |
| तद्बुद्धयस्तदात्मानः | भ० गी० ५-१७ | १८३ |
| तद्योगोऽप्यविवेकान्न | सां० द० १-५५ | ११८ |
| तद्विद्धि प्राणिपातेन | भ० गी० ४-३४ | ९१ |
| तपस्विभ्योऽधिको योगी | भ० गी० ६-४६ | १०० |
| तपाम्यहमहं वर्षम् | भ० गी० ९-१९ | १४७ |
| तमस्त्वाज्ञानजं विद्धि | भ० गी० १४-८ | १९१ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| तस्मात्सर्वेषु कालेषु | भ० गी० ८-७ | २६,१३८ |
| तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थम् | भ० गी० ४-४२ | ९३ |
| तस्मादसक्तः सततम् | भ० गी० ३-१९ | २६,८५,१७५ |
| तस्माद्यस्य महाबाहो | भ० गी० २-६८ | ५७ |
| तस्य अस्य गीता शास्त्रस्य | गीता शंकरभाष्य उपोद्घात | १३ |
| तानि सर्वाणि संयम्य | भ० गी० २-६१ | ५६ |
| ते चेदभिनिवेक्ष्यन्ते | म० भा० उद्यो० ७७-१७ | ३९ |
| तेजः क्षमा धृति : | भ० गी० १६-३ | २०४ |
| ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकम् | भ० गी० ९-२१ | १४८ |
| तेनान्तः करणस्य | सां० द० १-६४ | ११० |
| ते वयं संशयम् | महा० भा० भी० प० २१-५ | १५ |
| तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त | भ० गी० ७-१७ | १३० |
| तेषां सततयुक्तानाम् | भ० गी० १०-१० | १५४ |
| तेषामहं समुद्धर्त्ता | भ० गी० १२-७ | १६५ |
| त्यक्त्वा धर्मं च लोभम् | महाभा० भी० प० २१-११ | १५ |
| त्याज्यं दोषवदित्येके | भ० गी० १८-३ | ६३ |
| त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः | भ० गी० ७-१३ | १२७ |
| त्रैगुण्यविषया वेदा | भ० गी० २-४५ | ४९ |
| त्रैविद्या मां सोमपाः | भ० गी० ९-२० | १४८ |
| त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् | भ० गी० १-१८ | १६० |

**द**

| | | |
|---|---|---|
| दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि | भ० गी० ११-२५ | १६० |
| दम्भो दर्पोऽभिमानश्च | भ० गी० १६-४ | २०४ |
| दिविसूर्यसहस्रस्य | भ० गी० ११-१२ | १५९ |
| दिव्यमाल्याम्बरधरम् | भ० गी० ११-११ | १५९ |
| दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः | भ० गी० २-५६ | ५५ |
| दूरेण ह्यवरं कर्म | भ० गी० २-४९ | ५० |
| देवान्भावयतानेन ते देवा | भ० गी० ३-११ | ८१ |
| देहिनोऽस्मिन्यथा देहे | भ० गी० २-१३ | ३४ |
| दैवमेवापरे यज्ञम् | भ० गी० ४-२५ | ८६ |
| दैवी संपद्विमोक्षाय | भ० गी० १६-५ | २०४ |
| दैवे ह्येषा गुणमयी | भ० गी० ७-१४ | १२७ |
| दोषैरेतैः कुलघ्नानाम् | भ० गी० १-४३ | २४ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| द्रव्यायज्ञास्तपोयज्ञा | भ० गी० ४-२८ | ८९ |
| द्वाविमौ पुरुषौलोके | भ० गी० १५-१६ | १०९, २०० |
| द्वा सुपर्णा सयुजा | ऋ० १-१६४-२० | ७३, १९६ |
| दृष्ट्वेमम् स्वजनम् | भ० गी० १-२८ | १६, २३ |
| द्वौ भूतसर्गौ लोके | भ० गी० १६-६ | २०३ |

ध

| | | |
|---|---|---|
| धनंजय कथं शक्यम् | महाभा०, भी० प० २१-३ | १४ |
| धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः | भ० गी० ८-२५ | १४२ |
| धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम् | मनु० ६-९२ | ५९ |
| ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति | भ० गी० १३-२४ | ११९ |
| ध्यायतो विषयान्पुंसः | भ० गी० २-६२ | ५६ |

न

| | | |
|---|---|---|
| न कर्तृत्वं न कर्माणि | भ० गी० ५-१४ | १८३ |
| न कर्माणामनारम्भान् | भ० गी० ३-४ | १७४ |
| न च मत्स्थानि भूतानि | भ० गी० ९-५ | १४४ |
| न च शक्नोम्यवस्थातुम् | भ० गी० १-३० | २३ |
| न चा मां तानि कर्माणि | भ० गी० ९-९ | १४५ |
| न जायते म्रियते | भ० गी० २-२० | ३४ |
| न तथा बलवीर्याभ्याम् | महा भा०, भी० प० २१-१० | १५ |
| न तद्भासयते सूर्यो | भ० गी० १५-६ | १९६ |
| न त्यागो न पुनर्यज्ञो | महा भा०, शां० प० २२-७ | १४ |
| न त्वेवाहं जातु— | भ० गी० २-१२ | ३५ |
| न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तः | सां० द० १-१९ | ११८ |
| न प्रहिष्येत्प्रियं प्राप्य | भ० गी० ५-२० | १८३ |
| नभः स्पृशंः दीप्तम् | भ० गी० ११-२४ | १६० |
| न मां कर्माणि | भ० गी० ४-१४ | ६७ |
| न मां दुष्कृतिनो | भ० गी० ७-१५ | १२७ |
| न मे विदुः सुरगणाः | भ० गी० १०-२ | १५३ |
| नष्टो मोहः स्मृतिः | भ० गी० १८-७३ | १२, २१५ |
| न हि कश्चित्क्षणमपि | भ० गी० ३-५ | ५० |
| नादत्ते कस्यचित्पापम् | भ० गी० ५-१५ | १८३ |
| नान्तोऽस्ति मम् दिव्यानाम् | भ० गी० १०-४० | १५८ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम् | भ० गी० १४-१९ | १९४ |
| नासतो विद्यते भावो | भ० गी० २-१६ | ३४ |
| नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न | भ० गी० २-६६ | ५७ |
| नाहं प्रकाशः सर्वस्य | भ० गी० ७-२५ | १३५ |
| नियतं संगरहितम् | भ० गी० १८-२३ | ७७ |
| निराशीर्यतचित्तात्मा | भ० गी० ४-२१ | १७९ |
| निर्मानमोहा जितसंगदोषा | भ० गी० १५-५ | १९६ |
| निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः | भ० गी० १-३६ | २४ |
| नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति | भ० गी० २-४० | ४४ |
| नैते सृती पार्थ | भ० गी० ८-२७ | १४२ |
| नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि | भ० गी० २-२३ | ३५ |
| नैव किंचित्करोमीति | भ० गी० ५-८ | ६५,१८२ |
| नैव तस्य कृतेनार्थो | भ० गी० ३-१८ | ८४ |

प

| | | |
|---|---|---|
| पञ्चैतानि महाबाहो | भ० गी० १८-१३ | ७३, २०८ |
| परस्तस्मात्तु भावोऽन्य | भ० गी० ८-२० | १३९ |
| परित्राणाय साधूनाम् | भ० गी० ४-८ | ६७ |
| परं भूयः प्रवक्ष्यामि | भ० गी० १४-१ | १८६ |
| पश्यामि देवांस्तव देव | भ० गी० ११-१५ | १६० |
| पार्थ नैवेह नामुत्र | भ० गी० ६-४० | १००,१९३ |
| पिताहमस्य जगतो माता | भ० गी० ९-१७ | १४७ |
| पुण्यो गन्धः पृथिव्याम् | भ० गी० ७-९ | १०८ |
| पुरुषः प्रकृतिस्थो हि | भ० गी० १३-२१ | ११८ |
| पुरुषः स परः पार्थ | भ० गी० ८-२२ | १२१,१४० |
| पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते | भ० गी० ६-४४ | १०० |
| प्रकाशं च प्रवृत्तिम् | भ० गी० १४-२२ | १९४ |
| प्रकृति पुरुषयोरन्यत् | सां० द० ५-६८ | ११७ |
| प्रकृतिं पुरुषं चैव | भ० गी० १३-१९ | ११६ |
| प्रकृतिं स्वाम वष्टभ्य | भ० गी० ९-८ | १४५ |
| प्रजहाति यदा कामान् | भ० गी० २-५५ | ५२ |
| प्रज्ञयाभ्यधिकांशूरान् | महा भा० भी० प० २१-७ | १५ |
| प्रत्युष्टँ रक्षः प्रत्युष्टा | यजु० १-७ | ४० |
| प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी | भ० गी० ६-४५ | १०० |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| प्रयाणकाले मनसाऽचलेन | भ० गी० ८-१० | १०३,१३८ |
| प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् | भ० गी० ५-९ | ६५,१८२ |
| प्रवृत्तिं च निवृत्तिम् | भ० गी० १८-३० | ७६,२०१ |
| प्रशांतमनसं ह्येनम् | भ० गी० ६-२७ | ९७ |
| प्रसादे सर्वदुःखानाम् | भ० गी० २-६५ | ५७ |
| प्राप्य पुण्यकृताम् | भ० गी० ६-४१ | १००,१९३ |
| प्रीत्य प्रीतीविषादाद्यैः | साख्यं १-१२७ | ७७ |

**ब**

| | | |
|---|---|---|
| बलं बलवतां चाहम् | भ० गी० ७-११ | १०८ |
| बहिरन्तश्च भूतानाम् | भ० गी० १३-१५ | ११४ |
| बहूनां जन्मनामन्ते | भ० गी० ७-१९ | १३१ |
| बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा | भ० गी० ५-२१ | १८४ |
| बाह्याभ्यन्तराभ्याम् | सा० द० १-६३ | ११० |
| बीजं मां सर्वभूतानाम् | भ० गी० ७-१० | १०८ |
| बुद्धियुक्तो जहातीह | भ० गी० २-५० | ५० |
| बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः | भ० गी० १०-४ | १५३ |
| ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् | भ० गी० १४-२७ | १९५ |
| ब्रह्मण्याधाय कर्माणि | भ० गी० ५-१० | ६६,७९,१८२ |
| ब्रह्मार्पणं ब्रह्म | भ० गी० ४-२४ | ८५ |
| ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् | भ० गी० १८-४१ | ७०,२०९ |

**भ**

| | | |
|---|---|---|
| भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते | भ० गी० २-३५ | ३८ |
| भूतग्रामः स एवायं | भ० गी० ८-१९ | १३९ |
| भूमिरापोऽनलो वायुः | भ० गी० ७-४ | १०६ |
| भूय एव महाबाहो | भ० गी० १०-१ | १५२ |
| भोक्तारं यज्ञतपसाम् | भ० गी० ५-२९ | १२०,१८४ |
| भोगैश्वर्य प्रसक्कतानाम् | भ० गी० २-४४ | ४७ |

**म**

| | | |
|---|---|---|
| मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि | भ० गी० १८-५८ | १६७ |
| मच्चित्ता मद्गतप्राणा | भ० गी० १०-९ | १५४ |
| मत्तः परतरं नान्यत् | भ० गी० ७-७ | १०७ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| मन्मना भव मद्भक्तो | भ० गी० ९-३४ | १६७ |
| मम योनिर्महद्ब्रह्म | भ० गी० १४-३ | १८७ |
| ममैवांशो जीवलोके | भ० गी० १५-७ | १९७ |
| मया ततमिदं सर्वम् | भ० गी० ९-४ | १४४ |
| मयाध्यक्षेण प्रकृतिः | भ० गी० ९-१० | १४५ |
| मया प्रसन्नेन तवार्जुन | भ० गी० ११-४७ | १६२ |
| मय्यावेश्य मनो ये माम् | भ० गी० १२-२ | १६३ |
| मय्यासक्तमनाः पार्थ | भ० गी० ७-१ | १०३ |
| मय्येव मन आधत्स्व | भ० गी० १२-८ | १६८ |
| महर्षयः सप्त पूर्वे | भ० गी० १०-६ | १५४ |
| महात्मानस्तु मां पार्थ | भ० गी० ९-१३ | १४६ |
| महाभूतान्यहंकारो | भ० गी० १३-५ | ११२ |
| मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य | भ० गी० ९-३२ | १६७ |
| मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो | भ० गी० १४-२५ | १९५ |
| मामुपेत्य पुनर्जन्म | भ० गी० ८-१५ | १३९ |
| मूर्धा भुवो भवति | ऋ० १०-८८-६ | १२६ |
| मोक्षस्य च अकार्यत्वाद् मुमुक्षो | गीता शांकरमाष्य | १७४ |
| मोघाशा मोघकर्माणो | भ० गी० ९-१२ | १४६ |

य

| | | |
|---|---|---|
| यं यं वापिस्मरन्भावम् | भ० गी० ८-६ | १०६ |
| यं लब्ध्वा चापरलाभम् | भ० गी० ६-२२ | ९७ |
| यं संन्यासमिति प्राहुर्योगम् | भ० गी० ६-२ | ९४ |
| य एनं वेत्ति हन्तारम् | भ० गी० २-१९ | ३४ |
| य एवं वेत्ति पुरुषम् | भ० गी० १३-२३ | ११९ |
| यच्चापि सर्वभूतानाम् | भ० गी० १०-३९ | १५७ |
| यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेव | भ० गी० ४-३५ | ९१ |
| यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र | भ० गी० ३-९ | ६३, ८१ |
| यज्ञशिष्टामृतभुजो | भ० गी० ४-३१ | ९० |
| यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो | भ० गी० ३-१३ | ८१ |
| यतन्तो योगिनश्चैनम् | भ० गी० १५-११ | १९९ |
| यततो ह्यपि कौन्तेय | भ० गी० २-६० | ५६ |
| यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम् | भ० गी० १८-४६ | २१२ |
| यत्तु कामेप्सुनाकर्म | भ० गी० १८-२४ | ७७ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| यतेंद्रियमनोबुद्धिः | भ० गी० ५-२८ | १२० |
| यत्र काले त्वनावृत्तिम् | भ० गी० ८-२३ | १४२ |
| यत्सांख्यै प्राप्यते स्थानम् | भ० गी० ५-५ | १८३ |
| यथाकाशस्थितो नित्यम् | भ० गी० ९-६ | १४१ |
| यथादीपो निवातस्थो | भ० गी० ६-१९ | ९७ |
| यथा नदीनां बहवो | भ० गी० ११-२८ | १६१ |
| यथा प्रदीप्तं ज्वलनम् | भ० गी० ११-२९ | १६१ |
| यथैधांसि समिद्धोऽग्निः | भ० गी० ४-३७ | १७९ |
| यदक्षरं वेदविदो वदन्ति | भ० गी० ८-११ | १३७ |
| यदा ते मोहकलिलम् | भ० गी० २-५२ | ५१ |
| यदादित्यगतं तेजो | भ० गी० १५-१२ | १९९ |
| यदा यदा हि धर्मस्य | भ० गी० ४-७ | ६७ |
| यदृच्छया चोपपन्नम् | भ० गी० २-३२ | ३८ |
| यदृच्छालाभसंतुष्टो | भ० गी० ४-२२ | १८० |
| यः स्वाद् दान्तः | महाभा० शां० ६३-८ | २०९ |
| यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु | भ० गी० १४-१४ | १९१ |
| यदा संहरते चापम् | भ० गी० २-५८ | ५५ |
| यदा हि नेन्द्रियार्थेषु | भ० गी० ६-४ | ९४ |
| यदि मामप्रतिकारमशस्त्रम् | भ० गी० १-४६ | २४ |
| यदि ह्यसौ भगवान | महाभा० शां० ६४-२४ | ३२ |
| यद्यद्विभूतिमत्सत्वम् | भ० गी० १०-४१ | १५८ |
| यया धर्ममधर्मं च | भ० गी० १८-३१ | ७६, २०१ |
| यः सर्वत्रानभिस्नेह | भ० गी० २-५७ | ५५ |
| यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् | भ० गी० ३-१७ | ८४ |
| यस्मात्क्षरमतीतोऽहम् | भ० गी० १५-१८ | १०९ |
| यस्य नाहंकृतोभावो | भ० गी० १८-१७ | २१४ |
| यस्य रश्मि सहस्रेषु | महाभा०, शां० ३६२-३ | १४३ |
| यस्य सर्वे समारम्भाः | भ० गी० ४-१९ | ६३, १७८ |
| या निशा सर्वभूतानाम् | भ० गी० २-६९ | ५८ |
| यान्ति देवव्रता देवान् | भ० गी० ९-२५ | १४९ |
| यामिमां पुष्पिताम् | भ० गी० २-४२ | ४७ |
| यावानर्थ उदपाने | भ० गी० २-४६ | ४९ |
| युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी | भ० गी० ६-१५ | ९७, १२१ |
| युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा | भ० गी० ५-१२ | ७७, ७९, १८२ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| येऽप्यन्यदेवता भक्ता | भ० गी० ९-२३ | १४९ |
| ये चैव सात्त्विका भावा | भ० गी० ७-१२ | १०८ |
| ये तु सर्वाणि कर्माणि | भ० गी० १२-६ | १६५ |
| ये त्वक्षरमनिर्देश्यम् | भ० गी० १२-३ | १६३ |
| येषामर्थे कांक्षितं नो | भ० गी० १-३३ | २४ |
| ये हि संस्पर्शजा | भ० गी० ५-२२ | १८४ |
| योऽन्त सुखोऽन्तराराम: | भ० गी० ५-२४ | १८४ |
| योगयुक्ता विशुद्धात्मा | भ० गी० ५-७ | १८१ |
| योगसंन्यस्त कर्माणम् | भ० गी० ४-४१ | १७५ |
| योगस्थ: कुरु कर्माणि | भ० गी० २-४८ | ४५,५० |
| योगिनामपि सर्वेषाम् | भ० गी० ६-४७ | १०१ |
| योगी युञ्जीत सततमात्मानम् | भ० गी० ६-१० | ९६ |
| यो मां पश्यति सर्वत्र | भ० गी० ६-३० | ९७ |
| यो मामजमनादिं च | भ० गी० १०-३ | १५३ |
| यो मामेवमसंमूढो | भ० गी० १५-१९ | २०० |
| यो यो यां यां तनुं | भ० गी० ७-२१ | १३२ |

र

| | | |
|---|---|---|
| रजसि प्रलयं गत्वा | भ० गी० १४-१५ | १९१ |
| रजस्तमश्चाभिभूय | भ० गी० १४-१० | १९१ |
| रजो रागात्मकं विद्धि | भ० गी० १४-७ | १९१ |
| रसोऽहमप्सु कौन्तेय | भ० गी० ७-८ | १०८ |
| रागद्वेषवियुक्तैस्तु | भ० गी० २-६४ | ५७ |
| राजविद्या राजगुह्यम् | भ० गी० ९-२ | १४४ |
| रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रम् | भ० गी० ११-२३ | १६० |

ल

| | | |
|---|---|---|
| लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा | भ० गी० ३-३ | १७४ |
| लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ: | भ० गी० १४-१२ | १९१ |

व

| | | |
|---|---|---|
| वक्त्राणि ते त्वरमाणा | भ० गी० ११-२७ | १६० |
| वासांसि जीर्णानि यथा | भ० गी० २-२२ | ३५ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| विद्या विनय सम्पन्ने | भ० गी० ५-१८ | १८३ |
| विषया विनिवर्तन्ते | भ० गी० २-५९ | ५५ |
| विस्तरेणात्मनोयोगम् | भ० गी० १०-१८ | १५६ |
| विहायकामान्यः सर्वान् | भ० गी० २-७१ | ५८,७९ |
| वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्था | नारायणी उप० ११-६ | २१९ |
| वेदाविनाशिनं नित्यम् | भ० गी० २-२१ | ३५ |
| वेदाहं समतीतानि | भ० गी० ७-२६ | १३५ |
| वेदेषु यज्ञेषु तपः सु | भ० गी० ८-२८ | १४२ |
| वेपथुश्च शरीरे मे | भ० गी० १-२९ | २३ |
| व्यवसायात्मिकता बुद्धिरेकेह | भ० गी० २-४१ | ४७ |
| व्यामिश्रेणेव वाक्येन | भ० गी० ३-२ | १७४ |
| व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यम् | म० भा० भी० प० २१-२ | १४ |

**श**

| | | |
|---|---|---|
| शक्नोतीहैव यः सोढुम् | भ० गी० ५-२३ | १८४ |
| शमोदमस्तपः शौचम् | भ० गी० १८-४२ | २०७ |
| शरीरं यदवाप्नोति | भ० गी० १५-८ | १९७ |
| शुक्लकृष्णे गती ह्येते | भ० गी० ८-२६ | १४२ |
| शुद्रो राजन् भवति | म० भा०, शां० ६३-४ | २०९ |
| शूचौ देशे प्रतिष्ठाप्य | भ० गी० ६-११ | ९६ |
| शौर्यं तेजो धृतिः | भ० गी० १८-४३ | २०७ |
| श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्य | योग द० १-४९ | ९३ |
| श्रुतिविप्रतिपन्ना ते | भ० गी० २-५३ | ५१ |
| श्रेयान्द्रव्यम्याद्यज्ञात् | भ० गी० ४-३३ | ९१ |
| श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः | भ० गी० ३-३५ | ७२ |
| श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासात् | भ० गी० १२-१२ | १६९ |
| श्रोत्रं चक्षु स्पर्शनम् | भ० गी० १५-९ | १९७ |
| श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये | भ० गी० ४-२६ | ८६ |

**स**

| | | |
|---|---|---|
| संकरो नरकायैव | भ० गी० १-४२ | २४ |
| संतुष्टः सततं योगी | भ० गी० १२-१४ | १६९ |
| संनियम्येन्द्रियग्रामम् | भ० गी० १२-४ | १६३ |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| संन्यासः कर्मयोगश्च | भ० गी० ५-२ | १८० |
| संन्यासस्तु महाबाहो | भ० गी० ५-६ | १८१ |
| सततं कीर्तयन्तो माम् | भ० गी० ९-१४ | १३८, १६६ |
| स तया श्रद्धया | भ० गी० ७-२२ | १३२ |
| सत्त्वं रजस्तम इति | भ० गी० १४-५ | १८८ |
| सत्त्वं सुखे संजयति | भ० गी० १४-९ | १९१ |
| सत्त्वासंजायते ज्ञानम् | भ० गी० १४-१७ | १९२ |
| सम दुःख सुखः स्वस्थः | भ० गी० १४-२४ | १९५ |
| सर्वं कर्माखिलं पार्थ | भ० गी० ४-३३ | १७९ |
| सर्व कर्माणि मनसा | भ० गी० ५-१३ | १८२ |
| सर्व गुह्यतमं भूयः | भ० गी० १८-६४ | २१३ |
| सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतः | भ० गी० १३-१३ | ११४ |
| सर्वद्वाराणि संयम्य | भ० गी० ८-१२ | १३७ |
| सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् | भ० गी० १४-११ | १९१ |
| सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि | भ० गी० ६-२९ | ९७ |
| सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिम् | भ० गी० ९-७ | १४५ |
| सर्वयोनिषु कौन्तेय | भ० गी० १४-४ | १८७ |
| सर्वस्य चाहं हृदि | भ० गी० १५-१५ | १९९ |
| सर्वाजीवे सर्वसंस्थे | श्वे० उप० १-६ | ६९,१२९ |
| सर्वाणीन्द्रियकर्माणि | भ० गी० ४-२७ | ८७ |
| सर्वेन्द्रियगुणाभासम् | भ० गी० १३-१४ | ११४ |
| सहजं कर्म कौन्तेय | भ० गी० १८-४८ | २१३ |
| सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा | भ० गी० ३-१० | ८९ |
| सहस्रयुगपर्यन्त महर्यद् | भ० गी० ८-१७ | १३९ |
| सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः | यजु० ३१-१ | ११५ |
| सांख्ययोगौ पृथग्बालाः | भ० गी० ५-४ | १८३ |
| सात्त्विकमेकादशकम् | सां० द० २-१८ | ११० |
| सीदन्ति मम गात्राणि | भ० गी० १-२९ | १६ |
| सुख दुःखे समे कृत्वा | भ० गी० २-३८ | ३८ |
| सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धि— | भ० गी० ६-२१ | ९७ |
| सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ— | भ० गी० ६-९ | ९५ |
| स्थिरा वः सन्त्वायुधा | ऋ० १-३९-२ | ४० |
| सथूलात् पञ्चतन्मात्रस्य | सां० द० १-६२ | ११० |
| स्पर्शान्कृत्वा बहिः | भ० गी० ५-२७ | १२० |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri




| | | |
|---|---|---|
| स्वधर्मापि चावेक्ष्य | भ० गी० २-३१ | ३२ |
| स्वभावजेन कौन्तेय | भ० गी० १८-६० | २१२ |
| स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: | भ० गी० १८-४५ | ७२,२११ |

ह

| | | |
|---|---|---|
| हतो वा प्राप्स्यसि | भ० गी० २-३७ | २५,३८ |
| हन्त ते कथयिष्यामि | भ० गी० १०-१९ | १५६ |
| हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य | ईशा० उप० १५ | १२७ |


□□□

081
168004

Central Library
168004
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

| | Signature | Date |
|---|---|---|
| Access No. | | |
| Class No. | | |
| Call No. | | |
| Tag etc. | | |
| E.A.R. | | |
| Recomm. by. | | |
| Data Ent. by | | |
| Checked | | |

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या R 089.9143 GUR-S    आगत संख्या 180014

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

| | Signature | Date |
|---|---|---|
| Access No. | | |
| Class No. | | |
| Cat No. | | |
| Tag etc. | | |
| E.A.R. | | |
| Recomm. by. | | |
| Data Ent. by | | |
| Checked | | |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


# श्री गुरुदत्त की वेद, उपनिषद, दर्शन एवं वैदिक विज्ञान पर प्रमुख रचनाएं

हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बंधु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110 005. फोन : 23553624, 23551344
ई-मेल : indiabooks@rediffmail.com, hindisahityasadan@gmail.com


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar